जिन्होंने मेरे जीवन की धारा बदल कर भारतीय
इतिहास तथा संस्कृति के प्रति मेरे हृदय में
नैसर्गिक प्रेम पैदा किया

और

जिनकी अनुकम्पा तथा शुभकामना से यह ग्रन्थ
समाप्त हो पाया

उन्हीं ज्येष्ठ भ्राता, हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्रोफेसर,
श्रद्धाभाजन साहित्याचार्य

पण्डित बलदेव उपाध्याय जी एम० ए०

के

करकमलों में यह कृति

सादर

समर्पित

है

—वासुदेव

दो शब्द

प्राचीन भारत के इतिहास का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन अभी आरम्भ हुआ है। इस इतिहास के अध्ययन की सामग्री अभी तक मिलती ही जा रही है। कभी भूगर्भ के भीतर से निकले हुए प्रस्तरखण्ड किसी अज्ञातपूर्व तथ्य की सूचना देते हैं, तो कभी मुद्रा तथा ताम्र-पत्रों की उपलब्धि प्राचीन सिद्धान्तों में परिवर्तन करने के लिए हमें बाध्य करती है। यही कारण है कि सम्पूर्ण प्राचीन भारत का प्रामाणिक इतिहास अभी तक नहीं लिखा गया और न निकट भविष्य में एक व्यक्ति के परिश्रम से लिखा जायगा। इसके लिए अनेक विद्वज्जनों का साहाय्य अपेक्षित है, जो प्राचीन भारत के किसी एक काल का सर्वाङ्गीण इतिहास प्रस्तुत करें। इसी भावना से प्रेरित होकर लेखक ने गुप्त-साम्राज्य का यह इतिहास प्रस्तुत किया है। जहाँ तक हो सका है, उपलब्ध समग्र सामग्रियों का उपयोग यहाँ किया गया है। प्रतिष्ठित इतिहासकारों तथा विद्वानों के मत का उल्लेख तत्तत् स्थान पर किया गया है, किन्तु बिना युक्तियुक्त हुए किसी भी मत का ग्रहण नहीं किया गया है। गुप्त-काल के प्रधान-प्रधान विषयों पर लेखक का अपना स्वतन्त्र मत है, जिसे उसने उन स्थानों पर उल्लिखित किया है।

भारतीय इतिहास में गुप्त-सम्राटों का काल सुवर्ण युग के नाम से पुकारा जाता है। उस समय भारतीय-सभ्यता उच्च शिखर पर पहुँची थी। गुप्त-युग में भारतीय संस्कृति का पूर्ण विकास हो गया था। इसका बोलबाला न केवल भारत में था; बल्कि बृहत्तर भारत में भी इसका प्रचुर प्रचार था। इस काल में न केवल शिक्षा का, न केवल साहित्य का विशद विस्तार हुआ, प्रत्युत ललित-कला का भी विकास अभिराम रूप से हुआ। गुप्तों की शासन-प्रणाली आदर्श ढङ्ग की थी। ऐसे युग की कहानी हम भारतीयों के लिए नितान्त गौरव की कहानी है। पर अभी तक इस युग का इतिहास हिन्दी में पूर्णरूपेण लिपिबद्ध नहीं हुआ है। इस अभाव को दूर करने के विचार से प्रेरित होकर यह प्रयत्न किया गया है। यह अनेक वर्षों के सतत अध्ययन तथा अध्यवसाय का फल है। इसे सर्वाङ्गीण तथा प्रामाणिक बनाने में मैंने यथासाध्य अत्यन्त परिश्रम किया है, पर इस कार्य में मुझे कितनी सफलता मिली है, उसे विज्ञ पाठक ही बतला सकेंगे। महाकवि कालिदास के शब्दों में मैं भी इस कार्य को तब तक सफल न समझूँगा जब तक विद्वानों का इस मेरी लघु कृति से परितोष न होगा—

आ परितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥

× × × ×

अपना कथन समाप्त करने से पूर्व मैं उन सज्जनों को धन्यवाद देना पवित्र कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने मुझे इस कार्य में सहायता पहुँचाई है। सर्वप्रथम मैं अपने ज्येष्ठ भ्राता प्रोफ़ेसर बलदेव उपाध्याय एम० ए०, साहित्याचार्य का अत्यन्त आभार मानता हूँ जिन्होंने मेरे हृदय में भारतीय इतिहास तथा संस्कृति के प्रति नैसर्गिक प्रेम पैदा कर मेरे जीवन की धारा को बदल दिया है। डा० ए० एस० अलटेकर एम० ए० डि० लिट् का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिन्होंने समय-समय पर अपनी अमूल्य सम्मतियों से मेरे उत्साह को बढ़ाया है। आचार्य नरेन्द्रदेवजी के प्रति मैं किन शब्दों में कृतज्ञता प्रकट करूँ जिन्होंने राजनैतिक क्षेत्र में संलग्न रहने पर भी पुस्तक की भूमिका लिखने की मेरी प्रार्थना को उदारतापूर्वक स्वीकार किया और उसे लिखा। पुरातत्त्व विभाग के डाइरेक्टर जेनेरल, प्रान्तीय संग्रहालय के अध्यक्ष, तथा मथुरा संग्रहालय के क्यूरेटर मित्रवर बाबू वासुदेवशरण अग्रवालजी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने आवश्यक फोटो भेजकर तथा उनके छापने की अनुमति देकर मेरे कार्य को सुगम बना दिया। अपने सहृदय सुहृद् कलाविद् राय कृष्णदासजी तथा मित्रवर्य डाक्टर मोतीचन्द एम० ए०, पी०-एच० डी० अध्यक्ष कला विभाग प्रिन्स आफ़ वेल्स म्यूज़ियम बम्बई का आभार मानता हूँ जो मुझे सम्मति तथा उत्साह देकर इस कार्य को सफल बनाने में सदैव प्रयत्नशील रहे। इस ग्रन्थ की विस्तृत विषय-सूची तथा अनुक्रमणिका मेरे अनुज, साहित्य-रत्न श्रीकृष्णदेव उपाध्याय एम० ए० साहित्य-शास्त्री ने तैयार की है। इसके लिए वे मेरे आशीर्वाद के भाजन हैं। इण्डियन प्रेस के मालिक को भी मैं धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिनकी कृपा से यह ग्रन्थ इतनी जल्दी छपकर तैयार हो सका। अन्त में, मैं अपने परम हितैषी तथा शुभचिन्तक श्रद्धेय पण्डित श्रीनारायणजी चतुर्वेदी एम० ए० (लण्डन), संयुक्तप्रान्त के वर्तमान शिक्षा-प्रसार अफ़सर को कैसे भूल सकता हूँ, जिनकी नैसर्गिक कृपा तथा शुभ-कामना से ही मैं इस कार्य को समाप्त कर सका हूँ। इसके लिए मैं उनका आजीवन ऋणी रहूँगा।

जिनकी पवित्र नगरी में इस ग्रन्थ की रचना हुई तथा यह छपकर तैयार हुआ है उन पतितपावन भगवान् विश्वनाथ से मेरी यही प्राथना है कि जिस शुभ उद्देश्य को लेकर हिन्दी में इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है उसकी सतत पूर्ति करता हुआ यह ग्रन्थ उनकी अटूट दया का भाजन बने। तथास्तु।

श्रावणी पूर्णिमा, १९९६
२९ अगस्त १९३९.

वासुदेव उपाध्याय

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

पृष्ठ-संख्या

परिशिष्ट

परिशिष्ट—नं० १

परिशिष्ट—नं० २

सङ्केत-शब्द-सूची

सङ्केत	पूराशब्द
आ० स० रि०	आर्क्योलाजिकल सर्वे रिपोर्ट
इ० ए०	इण्डियन एण्टिक्वेरी
इ० का०	इण्डियन क्रानोलोजी
इ० ना० इ०	इन्स्क्रिप्शन्स आफ नार्दर्न इण्डिया
इ० म्यु० कै०	इण्डियन म्युजियम कैटलाग
इ० हि० क्वा०	इण्डियन हिस्टारिकल क्वाटरली
ए० इ०	एपिग्रैफिका इण्डिका
ए० एस० डब्लु० आइ०	आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
का० इ० इ०	कार्पस इन्सक्रिप्शनम् इण्डिकेरम्
कै० इ० का०	कैटलाग आफ इण्डियन क्वायन्स
कौ० म०	कौमुदी-महोत्सव
गु० ले०	गुप्त-लेख (फ्लीट सम्पादित)
गु० सं०	गुप्त-संवत्
जे० आ० ओ० रि०	जरनल आफ ओरियण्टल रिसर्च (मद्रास)
जे० आ० रा० ए० एस०	जरनल आफ रायल एशिआटिक सोसाइटी (लण्डन)
ज० ए०	जरनल एशिआतीक्के
जे० ए० एस० बी०	जरनल आफ एशिआटिक सोसाइटी आफ बंगाल
जे० बी० ओ० रि० एस०	जरनल आफ बिहार, उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी
ना० प्र० प०	नागरी-प्रचारिणी पत्रिका
बौ० ध० सू०	बौधायन-धर्म-सूत्र
म० स्मृ०	मनु-स्मृति
मे० ए० सो० बी०	मेम्वायर आफ एशिआटिक सोसाइटी आफ बंगाल
वा० पु०	वायु-पुराण
वि० सं०	विक्रम-संवत् ।
से० बु० इ०	सेक्रेड बुक्स आफ ईस्ट

गुप्त-इतिहास की सामग्री

आधुनिक काल में भारत का प्राचीन इतिहास क्रमबद्ध रूप में उपलब्ध नहीं होता। इससे पाश्चात्य विद्वान् यह अनुमान निकालते हैं कि प्राचीन समय में भारतीय लोग इतिहास की ओर अभिरुचि नहीं रखते थे; उनका यह अनुमान नितांत सारहीन है। प्राचीन भारतीय मुख्यतः पारलौकिक विषयों के चिंतन में संलग्न रहते थे फिर भी इतिहास के ज्ञान से वंचित नहीं थे। प्राचीन साहित्य के अनुशीलन से यह विदित होता है कि भारत के लोग अपने देश की महत्त्वपूर्ण घटनाओं को क्रमबद्ध लिखने की महत्ता को समझते थे। भारतीय साहित्य में इतिहास को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। हमारे ऋषियों ने प्राचीन विद्याओं में इतिहास की भी गणना की है। अथर्व वेद (१५।६।१०) में इतिहास, पुराण तथा नाराशंसि गाथा का उल्लेख मिलता है जिससे प्रकट होता है कि वैदिककालीन आर्य लोग भी भारतीय ऐतिहासिक वृत्तांतों से अनभिज्ञ तथा उदासीन नहीं रहते थे। छान्दोग्य उपनिषद् में इतिहास को पंचम वेद माना गया है[1]। महाभारत में इतिहास के पठन-पाठन की विशेषता पर विचार किया गया है, क्योंकि इतिहास के अर्थ को समझे बिना वेदार्थ गम्य नहीं हो सकता[2]। अर्थशास्त्र में आचार्य चाणक्य ने राजाओं की दैनिक दिनचर्य्या में इतिहास के श्रवण को उपयोगी बतलाया है[3]। इन उल्लेखों से यह प्रकट है कि भारतीय आर्य इतिहास की उपयोगिता से सर्वथा परिचित थे।

यद्यपि प्राचीन भारतीय इतिहास लेखबद्ध नहीं मिलता है तथापि तत्कालीन बिखरी हुई सामग्रियों को एकत्र कर सुंदर इतिहास का रूप दिया जा सकता है। इसकी महत्ता तथा पुरातत्त्व-विषयक सामग्रियों की अमूल्य उपयोगिता के कारण प्राचीन इतिहास को सुगम रूप से लेखबद्ध करने का प्रयत्न हो रहा है। गुप्त-इतिहास के निर्माण में बहुत सी प्राचीन सामग्री उपलब्ध है जो पाँच भागों में विभाजित की जा सकती है:—

(१) उत्कीर्ण-लेख। (२) मुद्रा। (३) शिल्प-शास्त्र। (४) साहित्य। (५) यात्रा-विवरण। इनका वर्णन क्रमशः संक्षेप में किया जायगा।

---

१. इतिहासः पुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते। छा० उ० ७। १। २

२. इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। महाभारत १।१।२

३. परिनिममिति अगये। १। ५। १३

(१) उत्कीर्ण-लेख

भारतीय इतिहास की मूल्यवान् तथा महत्त्वपूर्ण सामग्रियों में उत्कीर्ण-लेखों का स्थान सर्वोपरि है। गुप्त-इतिहास का सबसे अधिक ज्ञान इन्हीं लेखों से होता है। इस काल का विशेषतया ज्ञान लेखों के अनुशीलन पर ही निर्भर है। प्रायः प्रत्येक राजा के राज्य-काल का एक या अधिक लेख प्राप्त हैं जिसके कारण गुप्त-इतिहास के निर्माण में सहायता मिलती है। गुप्त-लेख शिला, स्तम्भ तथा ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण मिलते हैं। हरएक लेख में प्रशस्ति-लेखक शासक तथा उसकी पूर्व वंशावली का उल्लेख करता है। प्रशस्ति-लेखक अपने राज्यकर्त्ता के विशिष्ट तथा कीर्ति-वर्द्धक कार्य्यों की प्रशंसा ललित तथा सुंदर शब्दों में करता है। कवि हरिषेण ने प्रयाग के लेख में समुद्रगुप्त के दिग्विजय का वर्णन करते हुए उसकी दानशीलता, पाण्डित्य आदि गुणों के साथ साथ उसके वंश का भी वर्णन किया है। भितरी के लेख में प्रशस्तिकार ने स्कन्दगुप्त द्वारा हिन्दू संस्कृति के शत्रु आततायी हूणों के पराजय का सुंदर वर्णन किया है। गुप्त-लेखों से तत्कालीन शासन-प्रणाली का भी सविस्तृत ज्ञान प्राप्त होता है। दामोदरपुर (उत्तरी बंगाल) के ताम्रपत्र और वैशाली से मिली हुई मुहरों (Seals) के आधार पर गुप्त-कालीन शासन-पद्धति का पर्याप्त परिचय मिलता है। उत्कीर्ण लेखों के मंगलाचरण-श्लोकों, खुदे हुए चिह्नों तथा कतिपय उल्लिखित उद्धरणों से तत्कालीन धार्मिक विचार-धारा का अनुमान किया जाता है। लेखों के प्राप्तिस्थान से गुप्त-साम्राज्य के विस्तार का पता लगता है। उत्कर्ष-काल के समान अवनति-काल में भी लेखों के आधार पर गुप्त-राज्य के विस्तार का ज्ञान प्राप्त होता है। यदि लेखों का आश्रय न लिया जाय तो राज्य-विस्तार का अनुमान असम्भव हो जाय। लेखों में उल्लिखित तिथियों के सहारे गुप्त सम्राटों का तिथि-क्रम निर्धारित करने में बहुत सरलता होती है। गुप्त लेखों के अनुशीलन से तत्कालीन सामाजिक अवस्था का दिग्दर्शन कराया जा सकता है। इन लेखों से गुप्तकालीन संस्कृत-साहित्य का इतिहास लिखने में कम सहायता नहीं मिलती। प्रयाग प्रशस्ति के लेखक हरिषेण और मंदसोर के प्रशस्तिकार वत्सभट्टि का नाम संस्कृत-साहित्य में नहीं मिलता; परन्तु इन्हीं लेखों के कारण इनकी गणना कवियों में होती है तथा कीर्त्ति गाई जाती है। इन्हीं कारणों से गुप्त-इतिहास के निर्माण में सर्वश्रेष्ठ स्थान लेखों को ही दिया जा सकता है।

(२) मुद्रा

गुप्त-इतिहास की सामग्रियों में उत्कीर्ण लेखों के पश्चात् मुद्रा का स्थान आता है। मुद्रा तथा इसकी कला ने निर्माण में महती सहायता पहुँचाई है। भारतीय इतिहास के कितने ही काल-विभाग ऐसे हैं जिनके अस्तित्व का ज्ञान हमें तत्कालीन मुद्राओं से प्राप्त हुआ है। यदि इसकी सहायता की उपेक्षा की जाय तो इंडो-बैक्ट्रियन राजाओं (Indo-Bactrian Kings) का सम्पूर्ण इतिहास ही लुप्त हो जाय। मुद्रा कला की उत्पत्ति व्यापार के लिए हुई; अतएव काल-विशेष में मुद्रा कला के विकास से तत्कालीन व्यापा-

रिक उन्नति तथा वृद्धि का ज्ञान हमें मिलता है। गुप्त-काल में सिक्कों की अधिकता के कारण यह विदित होता है कि उस समय में व्यापार की बड़ी वृद्धि थी। सोने के सिक्कों की बहुलता तथा चाँदी के सिक्कों की अल्पसंख्यता से यह प्रकट होता है कि गुप्तों के समय में सोना सरलता से प्राप्य था। गुप्तकालीन मुद्राओं पर कुषाणों के सिक्कों की छाप पड़ी मालूम होती है। अतएव गुप्तों तथा कुषाणों के समीपवर्ती होने की सूचना इनके सिक्कों की समता से मिलती है। उत्कीर्ण लेखों की तरह मुद्रा के प्राप्तिस्थान भी कई अंशों में गुप्त-साम्राज्य की सीमा निर्धारित करते हैं। इन सिक्कों की परीक्षा से गुप्त-काल की विशिष्ट ऐतिहासिक घटनाओं की सूचना भी हमें निश्चित रूप से मिलती है। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त तथा कुमारगुप्त प्रथम के 'अश्वमेध सिक्के' इनके द्वारा किये गये 'अश्वमेध' यज्ञ के स्मारक हैं। गुप्तों के चाँदी के सिक्के शक क्षत्रपों की शैली के मिलते हैं जिनसे यह अनुमान किया जाता है कि गुप्तों ने मालवा तथा गुजरात से इन विधर्मी शासकों को मार भगाया तथा इन देशों पर अपनी विजय-वैजयन्ती फहराई। इन्हीं कारणों से गुप्त-साम्राज्य के इतिहास-निर्माण में मुद्राओं की उपयोगिता का अनुमान किया जा सकता है।

(३) शिल्प-शास्त्र

किसी जाति की सांस्कृतिक उन्नति का अनुमान उसकी कला के अध्ययन से सहज में किया जा सकता है। गुप्त-काल में शिल्प का विकास अधिक परिमाण में पाया जाता है जिससे उस काल के 'स्वर्ण-युग' होने में तनिक भी सदेह नहीं रहता। गुप्तकालीन प्रस्तर-कला उन्नति की चरम सीमा को पहुँच गई थी। इतनी सुंदर और भव्य मूर्तियाँ इस समय में बनीं कि उनकी समता अन्यत्र नहीं पाई जाती। शिल्प के द्वारा गुप्त-कालीन धार्मिक अवस्था का अच्छा ज्ञान होता है। गुप्त राजा वैष्णवधर्मावलम्बी थे अतएव स्वभावत: उन्होंने हिन्दू मूर्तियों के बनाने में प्रोत्साहन दिया; परन्तु बौद्ध तथा जैन धर्म का भी सर्वथा अभाव न था। इसी समय की अतीव भव्य गुप्त शैली की बुद्ध की मूर्ति मिली है। लेखोत्कीर्ण अन्य बौद्ध तथा जैन मूर्तियाँ मिली हैं जिनसे बौद्ध और जैन धर्म के प्रचार की पुष्टि होती है। मूर्तियों के अध्ययन से यह प्रकट होता है कि गुप्त-काल से पूर्व ब्राह्मण धर्म का इतना प्रचार नहीं था परन्तु गुप्त राजाओं के कारण ही ब्राह्मणधर्म की उन्नति और वृद्धि हुई। मूर्तियों के सहारे गुप्तकालीन प्रस्तर कला के विभिन्न केन्द्रों की विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। शिखर शैली के मदिरों का प्रचुर प्रचार इसी काल में हुआ। इस प्रकार शिल्प-शास्त्र की सहायता से गुप्तों की संस्कृति, समकालीन धार्मिक अवस्था तथा कला-कौशल के विशद विकास का पर्याप्त परिचय मिलता है।

(४) साहित्य

(१) संस्कृत-साहित्य से गुप्त-इतिहास के निर्माण में पर्याप्त सहायता मिलती है। ऐतिहासिक सामग्रियों में इसका स्थान कम महत्त्व का नहीं है। एक समय था जब

पुराणों के ऊपर ऐतिहासिकों को आस्था नहीं थी। वे इन्हें अस्त व्यस्त गल्पों से अधिक महत्त्व नहीं देते थे परन्तु अब इनका अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से प्रारम्भ हो गया है। पुराणों में पुरानी वंशावली अविकल रूप में दी गई है।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च, वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव, पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

पुराण के इस लक्षण के अनुसार प्राचीन वंशों का वर्णन उनका प्रधान तथा परम आवश्यक भाग है। प्रायः सभी पुराणों में वंशावलियाँ उपलब्ध होती हैं। परन्तु गुप्त-इतिहास पर ब्रह्माण्ड, वायु तथा विष्णु पुराण से विशेष प्रकाश पड़ता है। इन पुराणों से गुप्तों के पूर्ववर्ती नाग तथा वाकाटक राजाओं एवं गुप्तों की प्रारम्भिक राजनैतिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है। वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराण में गुप्त राज्य की सीमा तथा गुप्त-वंशज सम्राटों के राज्य-विस्तार का उल्लेख पाया जाता है। पुराणों में अन्य आवश्यक सामग्रियों की भी प्रचुर उपलब्धि होती है। ऐसी अवस्था में गुप्त-साम्राज्य के इतिहास-निर्माण में पुराणों की सहायता निर्विवाद सिद्ध है।

(२) गुप्तकालीन महाकवि कालिदास के ग्रन्थों से भी अनेक ऐतिहासिक साधन उपलब्ध होते हैं। इनके 'रघुवंश' तथा 'शाकुन्तल' से विशेष रूप से गुप्त इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। साहित्यिक भाण्डार के अमूल्य रत्न होने के अतिरिक्त ये ग्रन्थ तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त करने में अत्यधिक सहायता करते हैं।

(क) 'रघुवंश' में महाकवि कालिदास ने सुन्दर तथा ललित शब्दों में रघु के दिग्विजय का वर्णन किया है। महाराज रघु ने समस्त भारत पर विजय प्राप्त कर ताम्रपर्णी तक अपना प्रभाव फैलाया था। इतना ही नहीं, भारत के बाहर भी आक्सस (वंक्षु) नदी तक रघु का प्रताप फैला था। ऐतिहासिक पण्डितों का अनुमान है कि 'रघुवंश' में वर्णित रघु का दिग्विजय प्रयाग की प्रशस्ति में वर्णित महाराज गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के दिग्विजय को लक्षित कर रहा है। इस ग्रन्थ के अन्य भाग से भी तत्कालीन राजनैतिक तथा सामाजिक स्थिति का हमें प्रचुर ज्ञान प्राप्त होता है।

(ख) महाकवि कालिदास का 'अभिज्ञानशाकुन्तल' केवल सहृदय साहित्य रसिकों के गले का हार ही नहीं है बल्कि इसके अतिरिक्त इसमें गुप्तकालीन व्यवहार की प्रचुर सामग्री भी उपलब्ध होती है। इससे एक आदर्श हिन्दू राजा के कर्तव्य तथा दायभाग का परिचय प्राप्त होता है। 'शाकुन्तल' में वर्णित राजा ने जहाज़ के डूबने से मर जाने-वाले किसी संतान-हीन सामुद्रिक व्यापारी के धन के विभाग की जो व्यवस्था की है वह तत्कालीन दायभाग की स्थिति को समझने में पर्याप्त सहायता दे रही है। तत्कालीन अन्य सामाजिक स्थिति के परिचय देने में भी कालिदास के ये दोनों अमूल्य ग्रन्थ हमारी विशेष सहायता करते हैं।

(३) गुप्तकालीन सामाजिक अवस्था को समझने के लिए शूद्रक कृत मृच्छकटिक नाटक से भी अधिक सहायता मिलती है। वसंतसेना के विशाल प्रासाद के वर्णन से उज्जयिनी के वैभव तथा तत्कालीन आर्थिक स्थिति का अनुभव किया जा सकता

है। ग्रंथ की अंतरंग परीक्षा से राज-शासन का परिज्ञान होता है। उस समय पुलिस का कितना अच्छा प्रबंध था। न्यायालयों में समुचित रूप से दण्ड-विधान होता था। दण्ड-विधान के निमित्त मनुस्मृति का विशेष आदर था। इस प्रकार गुप्तों के सामाजिक इतिहास का ज्ञान सरलता से उपलब्ध होता है।

(४) कौमुदी-महोत्सव—इस नाम का एक नाटक अभी हाल ही में दक्षिण भारत से मिला है। इस नाटक के द्वारा गुप्तों के प्रारम्भिक इतिहास पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। इस नाटक की लेखिका एक विदुषी थीं। इस नाटक का अभिनय राजद्रोही चण्डसेन पर विजय के उपलक्ष्य में किया गया था। इस नाटक के चतुर्थाङ्क में मगध के क्षत्रिय शासक सुन्दरवर्मन् के नाम का उल्लेख मिलता है जिसने संतानहीन होने के कारण चण्डसेन नामक व्यक्ति को गोद लिया था। कुछ काल पश्चात् सुन्दरवर्मन् को कीर्तिवर्मन् नामक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ। इस पुत्र के उत्पन्न होने के कारण चण्डसेन का राज्याधिकार जाता रहा। इस कारण उसने राजद्रोह करने का निश्चय किया। सुन्दरवर्मन् के विरोधी होने के कारण चण्डसेन ने मगध-कुल के शत्रु लिच्छवियों से मित्रता स्थापित की और सुन्दरवर्मन् को मार डाला। राजा की हत्या के फल-स्वरूप चण्डसेन राजा बन बैठा। सुन्दरवर्मन् का मन्त्री मन्त्रगुप्त राजकुमार को लेकर विन्ध्य के पर्वतों में जा छिपा तथा वहीं से चण्डसेन पर विजयी होने का प्रयत्न करने लगा। कालान्तर में मन्त्रगुप्त ने चण्डसेन को परास्त कर कीर्तिवर्मन् को राजसिंहासन पर बैठाया। इस चण्डसेन की समता श्री जायसवाल महोदय चन्द्रगुप्त प्रथम से करते हैं। इस नाटक से चन्द्रगुप्त प्रथम के प्रारम्भिक जीवन का पता चलता है।

(५) वात्स्यायन का कामसूत्र—संस्कृत साहित्य में कामसूत्र एक विशेष स्थान रखता है। इसकी रचना गुप्तकालीन होने के कारण तत्कालीन सामाजिक इतिहास का अमूल्य भाण्डार इस ग्रन्थरत्न में भरा पड़ा है। महर्षि वात्स्यायन ने मनुष्यों के समस्त सामाजिक जीवनवृत्त का समावेश कामसूत्र में किया है। जनता के आचार-विचार, भोजन-वस्त्र, आभूषण तथा अन्य सुख की सामग्रियों का वर्णन इसमें प्रचुर परिमाण में मिलता है। आहार-विहार का वर्णन करते हुए महर्षि वात्स्यायन ने मनुष्य-जीवन-संबंधी अन्य बातों पर भी प्रकाश डाला है। इस प्रकार गुप्तकालीन सामाजिक अवस्था का विशद विवरण हमें कामसूत्र में प्राप्त होता है।

(६) आर्य मञ्जुश्रीमूलकल्प—यह एक ऐतिहासिक अनुपम ग्रन्थ है जो विद्वानों के सामने आधुनिक काल में प्रकाश में आया है। यह एक बौद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ-रत्न के विद्वान् कर्त्ता ने भविष्य में होनेवाले मञ्जुश्री बुद्ध का विशद वर्णन करते हुए समस्त भारत के प्राचीन इतिहास का भी सुन्दर रीति से परिचय दिया है। ईसा पूर्व छठवीं शताब्दी के शासक बिम्बसार से लेकर मौर्य्य, गुप्त आदि राजाओं का वर्णन करते हुए दसवीं शताब्दी के शासक पाल राजाओं तक का इसमें उल्लेख मिलता है। यदि अन्य साहित्यिक ग्रन्थों में भी इस प्रकार का विशद ऐतिहासिक वर्णन मिले तो भारतीय इतिहास का निर्माण अत्यन्त सुलभ हो जाय।

(७) वसुबन्धु की जीवनी—ऐतिहासिक ग्रन्थों की श्रेणी में परमार्थ कृत 'वसुबन्धु का जीवनवृत्त' भी रक्खा जा सकता है। वसुबन्धु बड़ा भारी बौद्ध विद्वान् था। इसके द्वारा अयोध्या के शासक गुप्त राजा विक्रमादित्य के बौद्ध धर्म की दीक्षा में दीक्षित होने का वर्णन मिलता है। इस अयोध्या के राजा ने अपने गुरु के समीप अपने पुत्र को विद्योपार्जन के लिए भेजा था। विद्वानों में अयोध्या के राजा विक्रमादित्य तथा उसके पुत्र बालादित्य का गुप्त राजाओं के साथ एकीकरण में मतभेद है परन्तु यह निर्विवाद सिद्ध है कि अयोध्या के राजा गुप्त शासक थे।

(५) यात्रा-विवरण

भारतीय इतिहास के निर्माण में विदेशियों के यात्रा-विवरण का बहुत ही महत्त्व-पूर्ण स्थान है। गुप्त-काल के इतिहास-निर्माण में भी विदेशियों के इन यात्रा विवरणों से हम अनेक अंशों में सहायता प्राप्त कर सकते हैं। इन विदेशी यात्रियों में से एक ही यात्री ऐसा था जो गुप्तों के उत्कर्ष काल में आया था। दो यात्री मागध गुप्तों (अवनति-काल में) के समय में आये तथा चौथा यात्री यवन-काल के प्रारम्भ में आया था। इन सब यात्रियों के यात्रा-विवरणों से अनेक नई नई बातों का पता चलता है तथा शिलालेख और मुद्राशास्त्र के द्वारा निर्मित ऐतिहासिक तथ्यों की पर्याप्त मात्रा में पुष्टि होती है।

(१) गुप्तों के उत्कर्ष-काल में सुप्रसिद्ध बौद्ध चीनी यात्री फाहियान ने समस्त भारत की यात्रा की थी जिसका महत्त्वपूर्ण विवरण हम लोगों को उसके लिखे ग्रन्थ से प्राप्त होता है। यद्यपि इस चीनी यात्री ने उस समय के गुप्त शासक का नामोल्लेख नहीं किया है परन्तु इसने अन्य समस्त भारतीय विषयों पर प्रकाश डाला है। इसकी निर्विघ्न यात्रा की पूर्ति से गुप्तकालीन शान्ति-पथ, आदर्श न्याय तथा कठोर शासन का परिचय मिलता है। तत्कालीन मनुष्यों के रहन-सहन, भोजन-वस्त्र तथा धार्मिक भावों का वर्णन सुन्दर रीति से फाहियान ने किया है। मनुष्यों के आचार तथा परोपकार के कार्य भी अच्छी तरह से उल्लिखित हैं।

(२) फाहियान के बाद सातवीं शताब्दी में ह्वेनसाङ्ग नामक दूसरा बौद्ध चीनी यात्री आया था। उस समय कन्नौज में हर्ष राज्य करता था जिसके समय में इस यात्री ने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया। यद्यपि ह्वेनसाङ्ग ने तत्कालीन परिस्थिति का ही वर्णन किया है परन्तु उसके विवरण से हर्ष के पूर्व के गुप्त राजाओं के विषय में भी हमें पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है। महाराज हर्षवर्धन के समकाल में ही पिछले गुप्त नरेश यत्र तत्र राज्य कर रहे थे। इन लोगों के शासन का विवरण हमें इसी चीनी यात्री के यात्रा-विवरण से मिलता है। उस समय नालन्दा विश्वविद्यालय का बोलबाला था। उस संसार-प्रसिद्ध विश्वविद्यालय का निर्माण किन-किन गुप्त नरेशों के हाथ से हुआ था, इन सब बातों का वर्णन भी हमें इसी अमूल्य यात्रा-विवरण से ज्ञात होता है। अतः गुप्त-साम्राज्य के इतिहास के पुनर्निर्माण में इस चीनी यात्री के यात्रा-विवरण का कम महत्त्व नहीं है।

(३) उसी शताब्दी में इत्सिङ्ग नामक चीनी यात्री भी भारत-भ्रमण करने के लिए आया था। वह उस समय में यात्रा करते हुए तत्कालीन परिस्थिति से अवश्य परिचित होगा। अतः उसके विवरण से जो कुछ आवश्यक ऐतिहासिक सामग्री हमको उपलब्ध होती है वह विश्वसनीय है। उसने गुप्त वंश के राजा चेलिकेतो के मृग-शिखावन में निर्मित मन्दिर का उल्लेख किया है। ऐतिहासिक चेलिकेतो की गुप्तवंश के आदि पुरुष 'गुप्त' से समता बतलाते हैं।

(४) दशवीं शताब्दी में एलबेरुनी नामक एक मुसलमान यात्री भारत भ्रमण के लिए आया था। यह संस्कृत का प्रकाण्ड पण्डित था तथा ज्योतिष और गणित शास्त्र का अद्वितीय विद्वान् था। भारत में भ्रमण कर इसने भी अपनी यात्रा का सविस्तर विवरण लिखा है।

यद्यपि इसके यात्रा-विवरण में गुप्तकालीन राजाओं के शासन आदि का वर्णन नहीं है परन्तु अन्य भारतीय वस्तुओं का वर्णन करते हुए इसने गुप्तकालीन यत्किञ्चित् विवरणों का उल्लेख कर ही दिया है। इसने अपने विवरण में गुप्तसंवत् का उल्लेख किया है अतः गुप्त संवत् की प्राचीनता तथा यह संवत् किस वर्ष से चला, इस विषय में इसके वर्णन से प्रचुर प्रकाश पड़ता है। अतएव एलबेरुनी का विवरण भी हमारे लिए कुछ कम महत्त्व का नहीं है।

गुप्त-साम्राज्य के निर्माण में जिन जिन ऐतिहासिक सामग्रियों की उपलब्धि हुई है उनका संक्षेप में वर्णन ऊपर किया जा चुका है। ये ऐतिहासिक विवरण आपस में एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। जो बात हमें शिलालेखों से मालूम होती है उसकी सम्यक् पुष्टि इन चीनी यात्रियों के यात्रा-विवरण से होती है। एक सिक्के की उपलब्धि से हम जिस नतीजे पर पहुँचते, ठीक उसी परिणाम को हम तत्कालीन शिलालेख के अध्ययन से प्राप्त करते हैं। शिलालेखों के वर्णन तथा चीनी यात्रियों के विवरण में विचित्र समानता पाई जाती है। दोनों एक दूसरे का आपस में समर्थन करते हैं। कहीं भी किसी वर्णन में असम्बद्धता का नाम निशान भी नहीं है। अतः ऊपर जिन ऐतिहासिक सामग्रियों का वर्णन किया है वे अत्यन्त ही उपयोगी और आवश्यक हैं। इन्हीं ऐतिहासिक सामग्रियों के आधार पर अगले परिच्छेदों में गुप्त-साम्राज्य के विशुद्ध इतिहास के निर्माण का सुन्दर आयोजन किया जायेगा।

गुप्त-पूर्व-भारत

गुप्त काल भारतवर्ष के इतिहास में अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। उस समय में भारतवर्ष ने अनेक दिशाओं में उन्नति तथा अभ्युदय के मनोरम दृश्य संसार के सामने प्रस्तुत किये। धर्म तथा साहित्य, राजनीति तथा समाज, प्रस्तर-कला तथा चित्रविद्या, इन सब विषयों में गुप्तकालीन भारत अपने अभ्युदय की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ था। इस समय ऐसी अनेक विशेषताएँ प्रस्तुत हुईं जो अनेक अंशों में आश्चर्यजनक तथा मनोरंजक थीं। परन्तु इन विशेषताओं के वास्तविक रूप से हम तब तक भली भाँति परिचित नहीं हो सकते जब तक गुप्तों के पूर्व भारतवर्ष के इतिहास से हम स्थूल रूप से अभिज्ञ न हो जायँ। गुप्त-पूर्व-भारत के अध्ययन करने से ही हम इस बात की छान-बीन कर सकते हैं कि गुप्तकालीन विशेषताओं में कितनी चीज़ें प्राचीन साम्राज्यों से—उदाहरण के लिए नाग तथा वाकाटक साम्राज्यों से—परम्परा के रूप में प्राप्त हुई थीं तथा कितनी वस्तुएँ ऐसी थीं जो गुप्तों की नई सृष्टि कही जा सकती हैं। इसलिए गुप्त-संस्कृति को सच्चे रूप में समझने के लिए गुप्त-पूर्व भारत के ऊपर एक सरसरी निगाह डालना उपयोगी ही नहीं प्रस्तुत नितान्त आवश्यक भी है। इसी विचार से प्रेरित हो करके हम इस परिच्छेद में गुप्त से पूर्व भारतवर्ष के इतिहास का संक्षिप्त परिचय देंगे।

भूमिका

अन्धकारपूर्ण प्राचीन भारतीय इतिहास के गहरे गर्त में न जाकर हम अपना इतिहास भगवान् बुद्ध के आविर्भाव-काल (६०० ई० पू०) से प्रारम्भ करते हैं। जिस समय महात्मा बुद्ध का आविर्भाव हुआ उस समय उत्तरी भारत में प्रधान चार (मगध, कौशल, वत्स और अवन्ती) राजवंश राज्य कर रहे थे। इन प्रधान राजवंशों में मगध का राजवंश परम प्रतापशाली तथा महत्त्वशाली था। इस राजवंश की उस समय तूती बोलती थी। कालान्तर में इस उदीयमान राजवंश के सम्मुख समस्त अन्य राजवंशों को पराजित होना पड़ा। इसी काल (६०० ई० पू०) से मगध राजनैतिक हलचल तथा उत्थान और पतन का प्रधान केन्द्र बना रहा। इसी मगध में भगवान् महावीर तथा अहिंसा के मूर्तिमान् अवतार भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था, जिन्होंने क्रमशः जैन तथा बुद्ध धर्म की स्थापना की। इनके समकालीन शिशुनागवंशी बिम्बसार तथा अजातशत्रु ने इस प्रदेश पर शासन किया तथा राजा कुणिक (अजातशत्रु) ने प्रसिद्ध पाटलिपुत्र नामक नगर बसाया। यह प्राचीन राजवंशों की क्रीड़ास्थली सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक नगरी पतितपावनी गंगा और शोणभद्र (सोन) के संगम पर इस प्राचीन काल से

शैशुनाग तथा मौर्यों का राज्य

(६०० ई० पू०) गुप्तवंश पर्यन्त अनेक साम्राज्यों की केन्द्रस्थली बनी रही। ई० पू० चौथी शताब्दी में आनेवाले यवन राजदूत मेगस्थनीज़ ने इस नगरी की इसी प्रचुर विभूति से प्रसन्न होकर इसका सुन्दर तथा ललित वर्णन अपनी 'इन्डिका' नामक पुस्तक में किया था। ई० पू० ३२७ में सुप्रसिद्ध जगत्-विजेता एलेक्जेण्डर महान् ने भारतवर्ष पर चढ़ाई की परन्तु तत्कालीन प्रबल पराक्रमी भारतीय शासक महापद्मनन्द की अद्भुत वीरता तथा असंख्य सेना का समाचार सुन उसकी हिम्मत हार गई तथा उसे उल्टे पाँव पंजाब से लौटना पड़ा। तत्पश्चात् राजनीति के परम आचार्य चाणक्य ने तत्कालीन राजवंश का नाश कर चन्द्रगुप्त मौर्य्य को राजा बनाया। इस प्रबल पराक्रमी प्रथम मौर्य्य सम्राट् ने अपनी शक्तिशाली भुजाओं के द्वारा समस्त भारत को अपने अधीन कर लिया तथा एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की। यह महाराज भारत का सर्वप्रथम सम्राट् कहा जाता है। इसका पौत्र महाराज अशोक राज्य-विस्तार की लिप्सा को छोड़कर कलिङ्ग की लड़ाई में हुई नरहत्या का कटु अनुभव कर बौद्धधर्मानुयायी हो गया। मौर्य्य सम्राट् अशोक ने धर्मविजयी होने की उत्कण्ठा से चारों दिशाओं में धर्मप्रचार के निमित्त दूत भेजे तथा इस उद्योग में वह पूर्ण रूप से सफल भी हुआ। अशोक की मृत्यु के पश्चात् विशाल मौर्य्य-साम्राज्य अनेक टुकड़ों में विभक्त हो गया।

शुङ्गों तथा कण्वों का शासन

ई० पू० दूसरी शताब्दी में शुङ्गवंशी सेनापति पुष्यमित्र ने अन्तिम मौर्य्य राजा बृहद्रथ को मारकर मगध का शासन अपने अधीन कर लिया। इसने विदेशी यवन मिलिन्द (मिनेंडर) को जीतकर अपने राज्य का विस्तार भी किया[1]। इसने प्राचीन वैदिक धर्म के अनुसार दो अश्वमेध यज्ञ भी किये[2]।

प्रायः १०० वर्ष तक शुङ्गों ने भारत पर शासन किया। इनके पश्चात् कुछ काल तक (ई० पू० ७८ से २८ तक) कण्व नरेश भी मगध पर राज्य करते रहे। इस समय के बाद कई शताब्दियों तक मगध का आधिपत्य भारतीय इतिहास से विलुप्त हो गया तथा पाटलिपुत्र ने भी साम्राज्य के केन्द्र होने का गौरव खो दिया। भारतीय इतिहास के रंगमंच पर पाटलिपुत्र के नाम का क्रमशः लोप होने लगा तथा ई० सन् की चौथी शताब्दी तक—गुप्तों के उत्थान-काल तक—पाटलिपुत्र की गणना भारत के साधारण नगरों में होती रही। अथवा कह सकते हैं कि इसका प्रताप-सूर्य तीन सौ वर्षों तक मेघाच्छन्न रहा।

---

१. ततः साकेतमाक्रम्य पांचालान् मथुरां तथा।
यवना दुष्टविक्रान्ताः प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजम्॥
गा० सं० ना० प्र० प० भा० १० पृ० ५।

अरुणद्यवनः साकेतम्, अरुणद्यवनो माध्यमिकाम्।
महाभाष्य।

२. अयोध्या का लेख—ना० प्र० प० भा० ५, पृ० २१०।

कण्व राजाओं के पश्चात् शासन की बागडोर दक्षिण के आन्ध्र शासकों के हाथ चली गई। दक्षिण भारत में आन्ध्र लोग ई० पू० की दूसरी शताब्दी से शासन करते थे परन्तु उत्तरी भारत में कण्वों के पश्चात् ही इन्होंने अधिकार प्राप्त किया। आन्ध्रों का समय उत्तर भारत के इतिहास में बड़ी उथल-पुथल का समय था। चूँकि ये दक्षिणी भारत के रहने-वाले थे अतएव उसी देश में इनका प्रभाव विशेष रूप से था। विभिन्न प्रान्तीय होने के कारण उत्तरीय भारत पर ये अपना एकच्छत्र शासन स्थापित न कर सके जो सर्वत्र शान्ति स्थापित करता तथा उभड़ते हुए शत्रुओं को दबाता। इनकी इस दुर्बलता से लाभ उठा-कर मगध से दूर के प्रान्तों में विशेषतया पश्चिम तथा सीमान्त प्रदेश में कुछ छोटे मोटे राजाओं ने देश की बागडोर अपने हाथ ले ली तथा स्वतन्त्र बन बैठे। लेखों तथा पुराणों में इन राजाओं का वर्णन मिलता है जो आन्ध्रों के समय से लेकर गुप्तों के उत्थान तक भिन्न भिन्न स्थानों पर शासन करते रहे। इन जातियों के नाम ये हैं—१ आभीर, २ गर्द-भिल्ल, ३ शक, ४ यवन, ५ मुरुण्ड, ६ तुषार, ७ हूण। पुराणों में इनका राज्य विस्तार भी पूर्णतया वर्णित है। आभीरों का राज्य विस्तार बरार, कोंकण तथा काठियावाड़ तक फैला हुआ था। गर्दभिल्ल राजपूताने के दक्षिण में अरवली के समीप में स्थित थे। शकवंशी राजा मथुरा, तक्षशिला, सिंध और मालवा आदि प्रदेशों पर राज्य करते थे। यवन काबुल की घाटी से बल्ख (Bactria) तक फैले हुए थे। तुषार संभवतः कुषाणवंशी थे जिनकी राज्य-सीमा किसी समय साकेत और पाटलिपुत्र तक विस्तृत थी। मुरुण्ड भी कुषाण की कोई जाति थी। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति में शकमुरुण्डों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने उसके प्रबल प्रताप के कारण आत्मसमर्पण तथा भेंट आदि उसे दिया था। हूण भी एक विदेशीय जाति थी जो पश्चिमोत्तर प्रदेश में निवास करती थी तथा इसने गुप्त राजा कुमारगुप्त के शासन में गुप्तसाम्राज्य पर आक्रमण किया था। पुराणों में इनके वर्णनों से ज्ञात होता है कि आन्ध्र राज्य के नष्ट होने के पूर्व ही ये शासक भिन्न भिन्न स्थानों में राज्य करते थे[1]। इन राज्यों की स्थिति के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्टतया प्रतीत होता है कि उस समय उत्तरीय भारत किन किन राजनैतिक विभागों में विभक्त था[2]।

आन्ध्रों का शासन

इन राजाओं में से भारतीय इतिहास पर अपना विशेष प्रभाव जमानेवाले राजाओं का यहाँ पर कुछ विशिष्ट वर्णन किया जायगा। यह पहले कहा जा चुका है कि मगध साम्राज्य के ह्रास होने के समय से भारत के पश्चिमोत्तर प्रांतों में विदेशी लोगों के आक्रमण होने लगे तथा बराबर जारी रहे। सेनापति पुष्यमित्र ने इन लोगों को परास्त किया। ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी तक भारत के उत्तर और पश्चिम में ग्रीक राजाओं का शासन समाप्त हो

शक

---

१. कृष्णस्वामी—स्टडी इन गुप्त हिस्ट्री अध्याय १।

२. पुराणों के वर्णन से ईसा की तीसरी शताब्दी में भारत की अव्यवस्थित राजनैतिक अवस्था का पूर्ण परिचय मिलता है। मत्स्यपुराण में उपर्युक्त राजाओं के नाम, उनकी संख्या तथा उनके राज्य

चुका था तथा उस प्रांत में शकों ने उनका स्थान ग्रहण किया। शकवंशी प्रथम राजा मोग (Maues) था जिसने ई० पू० पहली सदी में गांधार पर शासन किया। मुद्रा-शास्त्र के आधार पर यह ज्ञात होता है कि अयस (Azes) नामक राजा मोग का उत्तराधिकारी था। इसने अपने राज्य का विस्तार पंजाब तक किया जो उसके विस्तृत सिक्कों से प्रकट होता है। इसके पश्चात् शक वंश में अन्य दो राजा अजिलाइजिस (Azilises) तथा अयस द्वितीय (Azes II) हुए। इनके नाम चाँदी के सिक्कों से ज्ञात होते हैं। शकों (सिथियन) ने पश्चिमोत्तर प्रांत में प्रतिनिधि तथा सैनिक गवर्नरों के द्वारा शासन-प्रणाली का नियम चलाया[1]। इन्हीं शक राजाओं के अधीनस्थ होकर तक्षशिला और मथुरा में शक क्षत्रप (गवर्नर) शासन करते थे। इनमें तक्षशिला के पठिक और मथुरा के रंजुबुल तथा सोडास क्षत्रपों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके नाम मथुरा के लायन कैपिटल (Lion Capital) के खरोष्ठी लेख में उल्लिखित हैं[2]। ये क्षत्रप प्रथम शताब्दी के मध्यभाग तक शकों के अधीन थे।

पार्थियन

शकों के अंतिम समय में पार्थियन नामक दूसरी जाति ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इनका अधिकार सर्वप्रथम पश्चिमी गांधार पर हुआ। पार्थियन वंश में गोडाफरनेस नामक सबसे प्रतापी राजा हुआ, जिसने अपने बल से पूर्वी गांधार (तक्षशिला) को पार्थियन राज्य में सम्मिलित कर लिया।

ऊपर कहा गया है कि अनेक क्षत्रप शकों के अधीन थे। अपने शासक राजा (शकों) के अधिकार में होते हुए क्षत्रपों ने अपना प्रभुत्व दक्षिण भारत में भी फैलाया।

काल का सविस्तर वर्णन मिलता है। अतः हम पाठकों की जानकारी के लिए इस पुराण में वर्णित इन विषयों को विस्तारपूर्वक यहाँ देते हैं—

	राजवंशों के नाम	राजाओं की संख्या	राज्यकाल
१.	आभीर	१०	६७ वर्ष
२.	गर्धभिल्ल	७	७२ ,,
३.	शक	१८	१८३ ,,
४.	यवन	८	८८ ,,
५	तुषार	१४	१०५ ,,
६.	मुरुण्ड	१३	२०० ,,
७.	हूण	११	१०३ ,,

१. राय चौधरी—पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्सेन्ट इंडिया पृ० ३०१।

२ का० इ० इ० भा० ७।

दक्षिण के शासक शातवाहनों से इन्होंने कितने युद्ध किये तथा बहुत भागों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। शक क्षत्रपों में तक्षशिला और मथुरा के क्षत्रपों का उल्लेख हो चुका है। ये दक्षिण-पश्चिम के क्षत्रप शासक सुचारु रूप से राज्य करते रहे। काठियावाड़ के शासक क्षत्रपों में नहपान का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इसका प्रभाव सुदूर तक फैला हुआ था। इसके लेख पांडुलेना नासिक, जुनार तथा कार्ले की गुहाओं में उत्कीर्ण मिलते हैं। नहपान का राज्य महाराष्ट्र, कोकण (सुरपार्क), मंदसोर (मालवा) तथा पुष्कर (अजमेर) तक विस्तृत था। इसी पुष्कर तीर्थ में नहपान के जामाता उषवदात ने बहुत सा धन दान में दिया था[1]। ईसा की दूसरी शताब्दी के आरम्भ में ही दक्षिण के आंध्र राजा गौतमीपुत्र शातकर्णी ने नहपान को परास्त कर महाराष्ट्र को पुनः शातवाहन राज्य में सम्मिलित कर लिया।

शक क्षत्रप

काठियावाड़ क्षत्रपों के समकालीन उज्जयिनी में क्षत्रप चष्टन के वंशज राज्य करते थे। चष्टन का पौत्र रुद्रदामन् एक प्रतापी तथा शक्तिशाली शासक था। उसने दक्षिण-पति शातकर्णी (शातवाहन राजा) को परास्त किया और अपने राज्य को विस्तृत किया। इसका वर्णन जूनागढ़ के लेख में मिलता है[2]। रुद्रदामन् ने क्षत्रपों का इतना सुदृढ़ राज्य स्थापित किया कि इसके वंशज चौथी शताब्दी तक मालवा तथा काठियावाड़ में शासन करते रहे[3]। ई० स० ४०० के पश्चात् गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शकों पर विजय प्राप्त किया और मालवा तथा काठियावाड़ को अपने साम्राज्य में मिला लिया।

ईसा की प्रथम शताब्दी में काबुल घाटी में अंतिम ग्रीक नरेश हरमेयस को हटाकर कुषाण वंशी पहला राजा कैडफीसीस प्रथम ने अपना अधिकार कर लिया, समकालीन पार्थियन शासक को परास्त कर गांधार तक राज्य विस्तृत किया। इसका उत्तराधिकारी कैडफीसीस द्वितीय हिन्दू (शैव) धर्म का अनुयायी था। इसके सिक्कों पर 'नन्दि के चिह्न' तथा 'धमरितस्य महीश्वरस्य' की पदवी से उपर्युक्त बात की पुष्टि होती है। इस शताब्दी के अंतिम भाग में कनिष्क नामक राजा बहुत प्रतापी था जिसने स० ७८ में 'शक-संवत्' चलाया। कनिष्क का विस्तृत राज्य मध्य एशिया से लेकर पूरब में सारनाथ (बनारस) तक फैला था। पूर्वी भाग महाक्षत्रप खरपल्लाना और क्षत्रप वनस्पर के अधीन था[4]। इसके लेख पेशावर, स्यूविहार (सिंध) तथा सारनाथ में मिले हैं[5]। यह राजा बौद्धधर्मावलम्बी था और इसी ने बौद्धों की चौथी सभा को अपनी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) में बुलाया था। कनिष्क के पश्चात् कुषाणवंशी वशिष्क तथा हुविष्क के नाम उल्लेख-

कुषाण

---

१ ए० इ० भा० ८ पृ० ७८

२—स्ववीर्यार्जितानामनुरक्तसर्वप्रकृतीनां पूर्वापराकरावन्तीअनूपनीवृदानर्तसुराष्ट्रश्वभ्रमरुकच्छसिन्धुसौवीरकुकुरापरांतनिषादादीनां समग्राणां (ए० इ० भा० ८ पृ० ४७)।

३—इन क्षत्रपों के चाँदी के सिक्के मिलते हैं जिनके सहारे इनका वंशवृक्ष तैयार किया जाता है।

४—सारनाथ का लेख (ए० इ० भा० ८ पृ० १७३)।

५—वही।

नीय है। इस वंश का अंतिम राजा वासुदेव प्रथम था जिसकी तिथि ई० १५२-७६ तक मानी जाती है। इन सब विवरणों से ज्ञात होता है कि कुषाण-वंशी राजाओं ने लगभग सौ वर्षों तक शासन किया। इस मुख्य वंश का ह्रास होने पर छोटे छोटे राजा यत्र तत्र राज्य करते रहे। इनको किदार कुषाण कहते हैं। सम्भवतः समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति में इन्हीं का उल्लेख मिलता है।

नाग वंश

कुषाणों के पतन के अनन्तर तथा गुप्तों के उत्थान के पहले तक का काल भारतीय इतिहास में अब तक अंधकार युग (Dark Period) के नाम से प्रसिद्ध था;[1] क्योंकि ईसा की दूसरी व तीसरी शताब्दियों के इतिहास से हम बिल्कुल अपरिचित थे। परन्तु पुराणों तथा सिक्कों की छान-बीन से ऐतिहासिक खोज आजकल इस परिणाम पर पहुँची है कि ये शताब्दियाँ अंधकार से पूर्ण नहीं थीं, प्रत्युत इनमें सुशासन तथा सभ्यता की प्रकाशमयी किरणें उत्तरी भारत को उज्ज्वल बनाये हुए थीं। इन शताब्दियों में दो भिन्न भिन्न राजवंशों ने भारत पर शासन किया जिनमें पहले का नाम नाग या भारशिव वंश है तथा दूसरे का नाम वाकाटक वंश है। शिलालेखों में अनेक बार उल्लिखित होने के कारण वाकाटक प्रसिद्ध राजाओं के नाम व काम से हम किसी प्रकार परिचित भी थे[2], परन्तु कराल काल ने विदेशी कुषाणों के प्रभाव को उखाड़नेवाले, हिन्दू संस्कृति के पुनः जमानेवाले, पुण्यसलिला भागीरथी के तट पर एक नहीं दश अश्वमेध यज्ञों के करनेवाले 'मूर्द्धाभिषिक्त' नाग सम्राटों के इतिहास को विस्मृति के गर्त में अब तक डाल रक्खा था, जिसके कारण हम इन राजाओं के अस्तित्व को भूल गये थे। परन्तु सौभाग्य से प्रसिद्ध ऐतिहासिक काशीप्रसाद जी जायसवाल के अनुसंधान से नाग वंश का इतिहास फिर से हमारे सामने आया है। जायसवाल महोदय की नई पुस्तक—भारत का इतिहास १५०-३५० ई०—में नागों का वर्णन किया गया है। उसी के आधार पर हम यहाँ संक्षिप्त वर्णन उपस्थित करते हैं।

नाग वंश के इतिहास के अध्ययन के लिए कोई सम्बद्ध साधन उपलब्ध नहीं है

इतिहास के साधन

परन्तु (१) पुराणों, (२) सिक्कों तथा (३) नाग, वाकाटक और गुप्त लेखों में उल्लिखित बातों को एकत्र करके नाग वंश का इतिहास तैयार किया जाता है। इन्हीं साधनों के आधार पर नागों का इतिहास देने का प्रयत्न किया जायगा।

ऐतिहासिक साधनों में इस वंश के लिए दो नाम—नाग और भारशिव—का प्रयोग मिलता है। अतः इस वंश के इतिहास से पूर्व यह समझ लेना परमावश्यक है

नाग = भारशिव

कि नाग वंश के लिए भारशिव शब्द का प्रयोग क्यों किया गया। पुराणों में राजाओं के नाम के साथ नाग शब्द का प्रयोग मिलता है। इसलिए उन राजाओं के वंशज को नागवंशी के नाम से पुकारा

१—स्मिथ आदि ने ऐसा लिखा है। यद्यपि यह सिद्धान्त अब निराधार सिद्ध हो गया।

२—पूना प्लेट, बालाघाट प्रशस्ति आदि।

जाता है। कुछ नागवंशी शासकों के सिक्के भी मिले हैं जिनका समीकरण पुराणों में उल्लिखित नामों से किया जाता है। इन नागवंशी राजाओं को वाकाटक लेखों में 'भारशिवानां महाराजा' कहा गया है। ऐसे नाम के प्रयोग के लिए कुछ विशिष्ट कारण हैं। नागवंशी राजा शैव थे। वाकाटक लेखों के उल्लेख से ज्ञात होता है कि इस वंश के किसी राजा ने यज्ञ के समय अपने मस्तक पर 'शिवलिङ्ग' रक्खा था।[1] उसी समय से इस वंश का नाम 'भारशिव' पड़ा। इस प्रकार की एक मूर्ति भारत-कला-भवन (काशी) में सुरक्षित है जिसमें मनुष्य के सिर पर शिवलिङ्ग है। यह मूर्ति नागवंशी राजाओं के लिए उल्लिखित 'शिवलिङ्गोद्वहन' की पुष्टि करती है। इन सब बातों से स्पष्ट प्रकट होता है कि नागवंश के लिए भारशिव का प्रयोग उपयुक्त है। अतएव नाग तथा भारशिव एक ही थे, इसमें किसी को संदेह नहीं हो सकता।

प्राचीन भारतीय इतिहास में नाग राजाओं का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये राजा बहुत काल से शासन करते चले आ रहे थे। नाग शासन-काल मुख्यतः तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है,—

शासन-काल
(१) शुङ्ग-पूर्व काल,
(२) कुषाण-पूर्व काल,
(३) साम्राज्य पूर्वकाल।

पुराणों में नाग वंश का पर्याप्त वर्णन मिलता है। इसमें दो भिन्न भिन्न राजाओं के वंशजों का वर्णन है जो अलग अलग शुंग तथा कुषाणों से पूर्व शासन करते थे। शेष नामक नाग राजा के वंशज विदिशा पर शासन करते थे[2]। इन राजाओं ने शुंग काल से पूर्व राज्य किया परन्तु शुंगों के उत्थान के कारण शेष के वंश का ह्रास हो गया।

ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में शुंगों का एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित हो गया था। इनके अभ्युदय के सामने विदिशा पर शासन करनेवाले नागों को परास्त होना पड़ा। विदिशा से हटकर नागवंशी नरेश ने पद्मावती में अपना राज्य स्थापित किया। इस स्थान पर शिशु नन्दी के वंशज कुषाण-काल से पूर्व शासन करते थे जिनका नाश

---

१. शिवलिङ्गोद्वहनशिवसुपरितुष्टसमुत्पादित राजवंशानां पराक्रमाधिगतभागीरथ्यामलजलमूर्द्धाभिषिक्तानां दशाश्वमेधावभृथस्नातकानां भारशिवानां महाराजा (बालाघाट तथा चम्मक प्रशस्ति)।
[ए० इ० भा० ६ पृ० २६९ व फ्लीट-गु० ले० नं० ६८]।

२. वृषान्वै दिशकांश्चापि भविष्यांश्च निबोधत।
शेषस्य नागराजस्य पुत्रः स्वरपुरंजयः॥
भोगी भविष्यते राजा नृपो नागकुलोद्वहः।
सदा चन्द्रस्तु चन्द्रांशो द्वितीयो नखवांस्तथा॥
धनधर्मा ततश्चापि चतुर्थो विशजः स्मृतः
वायु पुराण ९९।३६६-६७।

कुषाणों के हाथ हुआ। इन राजाओं का भी वर्णन पुराणों में मिलता है[१]। इस प्रकार विदिशा तथा 'पद्मावती' पर शासन करनेवाले नरेशों ने ई० पू० ११०—ई० स० ७८ तक यानी दो सौ वर्षों तक राज्य किया[२]।

इन नाग राजाओं के इतिहास पर सिक्कों से भी प्रकाश पड़ता है। मथुरा से दत्त नामधारी अनेक सिक्के मिले हैं जिनका समीकरण अभी तक संदेहपूर्ण था। जायसवाल महोदय का मत है कि ये दत्त-नामांत नरेश नागवंशी थे। इन्हीं सिक्कों में शिवदत्त नामक राजा का एक मुद्रा मिला है, जिसका नाम पद्मावती से प्राप्त एक लेख में उल्लिखित है। यह लेख राजा के चौथे वर्ष में यक्ष मणिभद्र की मूर्ति पर उत्कीर्ण है। यह शिवदत्त नामक राजा पुराणों में उल्लिखित पद्मावती का अंतिम शासक शिवनन्दी है, जो कुषाण राजा कनिष्क के द्वारा परास्त किया गया[३]।

नाग-वंशी राजाओं का प्रधान शासन-काल कुषाण राजाओं के ह्रास होने पर प्रारम्भ होता है। इस समय को साम्राज्य-काल के नाम से सम्बोधित कर सकते हैं।

साम्राज्य-काल

कुषाणों से पूर्व नाग शासकों का नाश कनिष्क के द्वारा होने पर, नागों ने पद्मावती को त्याग दिया तथा मध्यप्रांत में शरण ली। वहाँ से बुंदेलखण्ड होते हुए मिर्ज़ापुर (संयुक्त प्रांत) के समीप कांतिपुर में नाग लोगों ने अपना निवासस्थान बनाया। इसी स्थान पर स्थिर होकर नाग राजाओं ने पद्मावती तथा मथुरा को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। इस प्रकार नागों का साम्राज्य कांतिपुर से मथुरा तक विस्तृत हो गया। इसकी पुष्टि विष्णु पुराण के वर्णन—नवनागा[४] पद्मावत्यां, कांतिपुर्यां मथुरायां—से होती है। यह सब कार्य कुषाण राज्य के पतन होने पर सम्भव था। कुषाणों का अंतिम राजा वासुदेव प्रथम ई० स० १७६ तक राज्य करता था। अतएव दूसरी शताब्दी के मध्यभाग के पश्चात् ही नाग राजा साम्राज्य स्थापित करने में सफल हुए होंगे। इस साम्राज्य के प्रतापी शासक वीरसेन तथा भवनाग के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। वीरसेन नाग-साम्राज्य का प्रथम सम्राट् था जिसने कुषाणों को हटाकर नाग-साम्राज्य स्थापित किया। वीरसेन के सिक्के संयुक्त प्रांत व पंजाब में पाये जाते हैं[५]। संयुक्त प्रांत के फ़र्रुख़ाबाद जिले में जांखट नामक ग्राम में एक लेख भी मिला है[६]। सिक्कों तथा लेखों में ताली वृक्ष का

---

१. भूतिनन्दः ततश्चापि वैदिशे तु भविष्यति।
अङ्गानां नन्दनस्यान्ते मधुनन्दिर्भविष्यति॥
तस्य भ्राता यवीयांस्तु नाम्ना नन्दियशाः किल। वायु पुराण ९९।३६८-६९

२. हिस्ट्री आफ़ इंडिया १५०-३५० ई० पृ० १४।

३. वही इंडिया १५०-३५० पृ० ११।

४. नव संख्यावाचक शब्द नहीं है परन्तु साम्राज्य काल के प्रथम राजा का नाम नव नाग था (हिस्ट्री आफ़ इंडिया १५० ३५० ई०)

५. जे० आर ए. एस. १८९७ पृ० ८७६।

६. स्वामिन वीरसेनस संवत्सरे १०३ (ए. इ. भा. ११ पृ० ८५)

चिह्न पाया जाता है जो राजकीय लक्षण है। वीरसेन के विस्तृत स्थानों में प्राप्त सिक्के तथा लेख से उसके बल का अनुमान किया जा सकता है। वीरसेन के वंशजों का नाम सिक्कों की सहायता से प्राप्त होता है। पुराणों में इस वंश में सात राजाओं के शासन का उल्लेख मिलता है[1]। परन्तु सब से अंतिम प्रतापी नरेश भवनाग था। पुराण तथा वाकाटक लेख के आधार पर ज्ञात होता है कि भवनाग के पश्चात् नाग शाखा वाकाटक वंश में विलीन हो गई[2]। यही कारण है कि वाकाटक राजा रुद्रसेन प्रथम वाकाटक शासक होते हुए भी भारशिव वंश का महाराजा कहा गया है[3]। उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि कुषाण राज्य के पतन (ई० स० १७६) से लेकर तीसरी शताब्दी तक नाग सम्राट् सुचारु रूप से शासन करते रहे।

ऊपर कहा गया है कि नाग राजा कांतिपुर में स्थिर होकर पश्चिम की ओर अपना राज्य विस्तार करने का प्रयत्न करने लगे। वीरसेन नामक राजा ने पद्मावती तथा मथुरा को जीतकर अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। पद्मावती मे वीरसेन तथा उसके वंशजों के सिक्के मिलते हैं। इस शाखा के अंतिम नरेश गणपति नाग का उल्लेख गुप्त सम्राट् की प्रयाग की प्रशस्ति मे मिलता है। अहिच्छत्र में अच्युत नामक नाग राजा के सिक्के मिले हैं जो समुद्रगुप्त के हाथों परास्त हुआ। इस प्रकार नाग सिक्के मथुरा, अहिच्छत्र, पद्मावती तथा कौशाम्बी से प्राप्त हुए हैं। वायु पुराण के वर्णन से ज्ञात होता है कि कोई नाग शाखा चम्पावती (भागलपुर, विहार) में भी शासन करती थी[4]। उत्तरी भारत के इन स्थानों के अतिरिक्त नाग राज्य दक्षिण भारत में बुंदेलखण्ड, मध्यप्रांत तथा पश्चिम ओर मालवा तक विस्तृत था।

राज्य-विस्तार

इस स्थान पर नागों की शासन-प्रणाली का सक्षेप में वर्णन करना उचित प्रतीत होता है। नाग-साम्राज्य का कोई केन्द्रीभूत स्थान नहीं था जिस स्थान से सब राजकीय कार्यों का सम्पादन हो। नाग-साम्राज्य में भिन्न भिन्न शाखाएँ भिन्न भिन्न स्थानों पर शासन करती थीं परन्तु समस्त राजा अपने को नाग-साम्राज्य के अंतर्गत शासक समझते थे। नागवंश की शाखाएँ कांतिपुर, मथुरा, पद्मावती, अहिच्छत्र, चम्पावती आदि स्थानों को केन्द्र बनाकर शासन करती थीं। अतएव इस शासन-प्रणाली को 'नाग-संघ-शासन' के नाम से पुकारना युक्तिसंगत होगा। यह शासनप्रणाली कुषाणों के पतन के

नागों की शासन-प्रणाली

---

१. भारशिवानां महाराजा श्री रुद्रसेनस्य (ए. इं. भा. ९ पृ० २७०)

२. नव नागास्तु भोक्ष्यन्ति पुरीं चम्पावतीं नृपाः (वा पु. ९९।३८२)।

३. नागा भोक्ष्यन्ति सप्त वै। वायु. पु. ९९।३८२।

४. तस्यान्वये भविष्यन्ति राजानस्ते त्रयस्तु वै, दौहित्रः शिशुको नाम पुरिकाया नृपोऽभवत्।
वा. पु. ९९।३७०।

भारशिवानां महाराजा श्री भवनागदौहित्रस्य गौतमीपुत्रस्य वाकाटकानां महाराजा रुद्रसेनस्य
(फ्लीट-गु० ले० पृ० २३७)

तथा गुप्तों के उत्थान के मध्यकाल में कार्यान्वित थी। बहुत सम्भव है कि गुप्तों ने इस शासन के अनुकरण पर नये सुधारों सहित अपनी शासनप्रणाली को तैयार किया हो। परन्तु गुप्तों का शासन संघ न होकर केन्द्रीभूत था।

भारशिव राजाओं की महत्ता

परिचय

जब आर्यावर्त की पवित्र भूमि में विधर्मी कुशान राजाओं की तूती बोल रही थी, जब हिन्दू धर्म का ह्रास तथा बौद्ध धर्म का प्रसार हो रहा था और जब हिन्दू जनता की नस-नस में पस्तहिम्मती का दौरदौरा था ऐसे ही समय में इन हिन्दू-धर्म-रक्षक, परम शिवभक्त, आर्य सभ्यताभिमानी भारशिव राजाओं का प्रादुर्भाव हुआ। हिन्दू समाज पराधीनता के पंजे में पड़ा हुआ था। इनके धर्म के प्रति न विदेशियों का आदर था और न हिन्दू देवताओं में श्रद्धा। गोकुशी एक साधारण घटना तथा इन विधर्मी निर्दयी शासकों की उदर दरी की पूर्ति का स्वादिष्ट सामग्री बन गई थी। इसी कठिन काल में इन हिन्दू-हित के संरक्षक राजाओं का उदय हुआ। इन्होंने अपने प्रबल पराक्रम से पददलित हिन्दू जनता को स्वाभिमान तथा स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ाया तथा अपने हिन्दू देवताओं के प्रति सादर सेवा का सबक सिखाया। स्वतन्त्रता की क्रीड़ास्थली इस पवित्र आर्यावर्त की भूमि को परतन्त्रता के पंजे से छुड़ाकर फिर से स्वतन्त्र बनाया। शिवोपासना के द्वारा राष्ट्रीय भावना को जगाकर फिर से प्राचीन हिन्दू धर्म का प्रचुर प्रचार किया। इन्होंने दस[1] अश्वमेध यज्ञों का सम्यक् अनुष्ठान कर फिर से वेद-वर्णित विधि का विधान किया। माता गौ की रक्षाकर इन्होंने पुनरपि गौ के प्रति समस्त जनता के हृदय में पवित्र भावना जगाई। नागर तथा वेशर शैली के मन्दिरों का निर्माण कर इन्होंने भारतीय ललित-कला को एक अमूल्य निधि प्रदान की। इन्हीं प्रातःस्मरणीय, आर्यावर्त की स्वतन्त्रता के संस्थापक, हिन्दू धर्मोद्धारक, परम शैव तथा राष्ट्रीय निर्माणकर्ता भारशिव राजाओं की कृति के विषय में यहाँ पर पाठकों को परिचित कराया जायगा।

शिव-पूजा

यह कथन केवल पुनरुक्ति मात्र है कि भारशिव राजा परम शैव थे। इस काल में शिव-पूजा को बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। शिव-पूजा ही इस समय की राष्ट्रीय भावना थी। सर्वत्र शिव ही शिव दील पड़ते थे। समस्त भारशिव-वायुमण्डल ही शिव की पवित्र आराधना से व्याप्त हो गया था। भारशिव राजा जिस वायु को श्वास में लेते थे वह भी शिवोपासना से रिक्त नहीं थी। सचमुच ही यह युग शिवमय हो गया था तथा यदि हम इसे 'शिव-युग' कहें तो भी कुछ अत्युक्ति नहीं होगी। भगवान् शिव समस्त संसार के संहर्ता हैं अतः प्रबल शत्रु कुशानों के विनाश के लिए भारशिवों की शिवोपासना-परायणता समुचित ही थी। इस शिवपूजा के फल-स्वरूप भारशिवों ने कुशाणों को मार भगाया।

१—मूर्धाभिषिक्तानां दशाश्वमेधावभृथस्नातानां भारशिवानां महाराजा।—चम्मक तथा सिवनी प्रशस्ति। प. इ. भा. ३ पृ० २६६ न गु. ले. नं० ५५.

वीरसेन, स्कन्द नाग, भीमनाग तथा भवनाग इत्यादि नामों से भारशिवों की शिव-निष्ठा सूचित होती है। शिवपूजा का ही इस समय में बोलबाला था। समस्त भारशिव राष्ट्र शिवोपासक हो गया था।

आर्यावर्त सदा ही से स्वतन्त्रता की भूमि रहा है। अतः इस पावन भूमि को परदेशियों के पंजे से छुड़ाना इन राजाओं का परम कर्तव्य था। भारशिव राजा वीरसेन के प्रबल पराक्रम से कुशानों को गङ्गा-घाटी छोड़कर सरहिन्द तक भागना पड़ा। इस समय तक उत्तर-पूर्व-भारत पंजाब तक स्वतन्त्र हो चुका था। इस बात का पता हमें पंजाब में मिली मुद्राओं से चलता है। भारशिवों के पराक्रम से पराजित होकर कुशानों ने सेसेनियन बादशाह शापूर की शरण ली तथा अपनी मुद्राओं पर अपने संरक्षक की मूर्ति को सादर स्थान दिया।

कुशानों का पराजय

भारशिवों की महत्ता तथा वीरता को समझने के लिए कुशानों की महती शक्ति को भी समझना आवश्यक तथा उचित है। कुशानो के मध्यस्थान मध्यएशिया में इनकी सुरक्षित सेनाएँ रहती थीं जो सदा ही केन्द्र स्थान से सहायता प्राप्त करती थीं। कुशानो का साम्राज्य भी कुछ छोटा नहीं था। यह विस्तृत साम्राज्य आक्सस के किनारे से लेकर बङ्गाल की खाड़ी तक, यमुना से लेकर दक्षिण में नर्मदा तक, और पश्चिम में काश्मीर तथा पंजाब से लेकर सिन्ध तथा काठियावाड़ तक और गुजरात, सिन्ध तथा बलूचिस्तान के समुद्री किनारों को छूता हुआ फैला हुआ था। यह साम्राज्य सौ वर्षों तक "दैवपुत्र" का दावा करता हुआ हिन्दुओं पर राज्य करने का अपना दैवी अधिकार समझता था। इतने बड़े विस्तृत, महत्त्वशाली तथा प्रभावशाली साम्राज्य का सामना करना कोई हँसी-खेल का काम नहीं था। इनसे लोहा लेना विकराल काल के गाल में जाना था। यदि मुट्ठी भर स्वतन्त्र ग्रीकों ने असंख्य, मदमाती, असंगठित परशियन सेनाओं का सामना कर उन्हें परास्त कर दिया तो इसमें आश्चर्य ही क्या? वे स्वतन्त्र थे, अनेक राज्यों ने उनकी सहायता की थी। परन्तु पराधीनता के पाश में ग्रस्त होने पर भी अपने इतने शक्तिशाली शत्रु कुशानो को मार भगाना वास्तव में भारशिवों के लिए लोहे के चने चबाना था। किन्तु धर्मविजयी इन भारशिव राजाओं ने विधर्मी कुशानो पर पूर्ण विजय पाई। यह घटना उनकी वीरता तथा स्वातन्त्र्य प्रियता का ज्वलन्त उदाहरण है।

कुशानो की शक्ति तथा भारशिवों की वीरता

भारशिव राजाओं ने शिव की पूजा करते हुए प्रायः उनकी प्रत्येक बातों का अनुकरण किया। जिस प्रकार शिवजी दिगम्बरत्व को धारण कर अपनी सादगी के लिए प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार ये राजा भी सदा सीधा सादा जीवन व्यतीत करते थे। गुप्तों की नाईं न इनमें शान-शौकत थी और न राजसी ठाटबाट। ये राजा शिव की भाँति सदा आशुतोष थे। दान ही इनका धर्म था। प्रतिग्रह से ये अपरिचित थे। शिव की गृहनीति की भाँति ये भी सामन्त राजाओं का एक गण रखते थे जो इनकी सहायता करते थे तथा ये इनके बीच

भारशिवों की सादगी

शिव-निर्मित नन्दी थे। इन्होंने अनेक (दस) अश्वमेध यज्ञ किये परन्तु कभी भी एकराट् होने का दावा नहीं किया। शिव को अपना वाहन 'वृषभ' अत्यन्त प्रिय है अतः अपने उपास्यदेव की प्रिय वस्तु की रक्षा करना इन्होंने अपना परम कर्त्तव्य समझा था। इन राजाओं ने गाय तथा बैलों की रक्षा का बीड़ा उठाया तथा जनता में इनके प्रति पवित्र भाव पैदा किया। ये बातें शिव के एक परम भक्त के लिए समुचित ही थीं।

नागर कला

यह कला भारतीय कला में अपना एक विशेष स्थान रखती है। कर्कोट नागर (जो मालवा प्रजातन्त्र की राजधानी थी) की भाँति यह 'नागर' शब्द 'नाग' शब्द से निकला हुआ है। जिस प्रकार गट्टर शब्द संस्कृत ग्रंथ से निकला हुआ है उसी प्रकार 'नागर' शब्द 'नाग' शब्द से निकला हुआ है और उसका विशेषण है। आज भी बुलन्दशहर में कुछ ब्राह्मण नागर ब्राह्मण के नाम से प्रसिद्ध हैं। सम्भवतः ये ब्राह्मण 'नाग' वंशी राजाओं के पुरोहित थे। अतः इनका नाम 'नाग' से 'नागर पड़ गया। भारशिवों के समय में निर्मित मन्दिरों में 'नागर' तथा 'वेसर' शैली की प्रधानता पाई जाती है। 'वेसर' शब्द हिन्दी वेस तथा संस्कृत 'वेश'—जिसका अर्थ वस्त्र तथा आभूषण है—से निकला हुआ है। सम्भवतः नागरशैली के वे मन्दिर हैं जो गुप्त वर्गाकार मन्दिर के ढङ्ग के हैं। इनमें नचना के वाकाटकों के पार्वती-मन्दिर, तथा भूमरा के भारशिवों के मन्दिर की गणना है। यह एक कमरावाला गृह होता था। सम्भवतः यह चतुष्कोण एक वर्गाकार कमरा होता था।

वेसर-शैली

यद्यपि नागकालीन पुरातत्त्व का हमें सम्यक् ज्ञान नहीं है परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि मालवा-प्रजातन्त्र की राजधानी 'कर्कोट नागर' में वेसर शैली के मन्दिर अवश्य थे। कारलायल (Carllcyle) ने अपने अनुसन्धान में एक मन्दिर का वर्णन 'विचित्र आकार' वाला ऐसा किया है। इस शैली के मन्दिरों में भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रस्तर पर कटाव का होना अनुमानसिद्ध है। मालूम होता है कि प्रस्तर को काटकर तरह तरह के फूल, पत्ता, वृक्ष आदि निकालते थे और इस प्रकार से मन्दिर को अलंकृत करते थे। इसी कारण इस अलंकृत मन्दिर-निर्माण की शैली को 'वेसर' (अलंकृत) नाम दिया गया हो।

शिखर-शैली

इसी समय में शिखर-शैली का भी प्रचार था। इस शैली में निर्मित मन्दिर नीचे के भाग में वर्गाकार रूप में तथा ऊपरी भाग में चतुष्कोण शिखर के रूप में होते थे। श्री जायसवाल ने सूरजमऊ के पास में जिन मन्दिरों का पता लगाया है वे इसी शैली के हैं। इस प्रकार के मन्दिर नीचे के हिस्से में गुप्त शैली के हैं तथा ऊपर का हिस्सा धीरे धीरे पतला होता हुआ पर्वत के शिखर के रूप में परिणत हो गया है। खजुराहो का चौसट्ठी योगिनी का मन्दिर इसी शैली का है। नागर शिखर शैली एक विशेष प्रकार की शैली है जो इसी समय में निकली थी। नचना का चतुर्मुज शिव मन्दिर इसी शैली का बना हुआ है। भूमरा मन्दिर एक भारशिव-भवन है। यह शैव मन्दिर है। इस मन्दिर में निर्मित ताड़वृक्ष के चिह्नों से इसका नागकालीन होना अवश्यंभावी है। यह ताड़ वृक्ष

नागवंशी राजाओं का एक विशेष चिह्न था। अतः इस काल में हम नागर तथा वेसर शैली के मन्दिर निर्मित पाते हैं। शिखर शैली के मन्दिर भी यत्र-तत्र उपलब्ध हैं।

उपर्युक्त विवरण से भारशिव राजाओं की कृतियो का अनुमान लगाया जा सकता है। इनको इन सब कृतियो का गुप्त-राजाओं पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा है। आगे इन सब प्रभावों का विवेचन गुप्त राजाओं के इतिहास के साथ साथ किया जायगा।

नाग लोगों के ह्रास के बाद उनका स्थान वाकाटकों ने ग्रहण किया तथा बहुत समय तक वे ऐतिहासिक रंगमंच पर अपना अभिनय दिखलाते रहे। इसमें संदेह नहीं है कि वाकाटको के पश्चात् गुप्त सम्राटों ने एकाधिपराज्य स्थापित किया; परन्तु इनकी (वाकाटकों की) अनुपस्थिति मे गुप्त-साम्राज्य की सांस्कृतिक महत्ता इतनी विशाल न होती। प्राचीन भारतीय इतिहास के विकास में वाकाटकों का भी स्थान महत्त्वपूर्ण है।

वाकाटक

ईसा की तीसरी शताब्दी के अंतिम भाग में नागवंशी राजाओं के पश्चात् ऐतिहासिक क्षितिज पर वाकाटकों का उदय दिखलाई पड़ता है। पुराणों तथा लेखों के आधार पर प्रकट होता है कि वाकाटको से पूर्व शासन करनेवाले नाग राजाओं की वंश शाखा इस वंश में विलीन हो गई[१]। प्रशस्तिकारों ने तो तीसरे वाकाटक नरेश रुद्रसेन प्रथम को लेखों में भारशिव (नाग) महाराजा से सम्बोधित किया है[२]। इस प्रकार नागो का स्थान ग्रहण कर वाकाटकों ने गुप्त साम्राज्य से पूर्वकाल में समस्त मध्य भारत पर एकछत्र राज्य स्थापित किया। ऐतिहासिक दृष्टि से वाकाटक राजाओं के तीन भिन्न शासन-काल ज्ञात होते हैं। प्रथम काल में अनेक वाकाटक नरेशों ने राज्य किया जो दक्षिण भारत में गुप्तों के शासन-प्रभाव से पूर्व राज्य करते रहे। कुछ राजाओं ने गुप्तों की छत्रछाया में शासन किया तथा अंतिम काल में वाकाटक राजा एक बड़े साम्राज्य के स्वामी थे। उस काल में उनका शासन निर्विघ्न रूप से समाप्त हुआ। इन सब विवेचनों पर ध्यान देने से प्रकट होता है कि वाकाटक लोगों ने तीसरी से पाँचवीं शताब्दी यानी दो सौ वर्षों तक शासन किया।

उत्थान

वाकाटक वश के ऐतिहासिक वृत्त से पूर्व यह समझ लेना अत्यावश्यक है कि इस वश के राजा वाकाटक नाम से क्यों प्रसिद्ध हुए। पुराणों में वाकाटको के आदिपुरुष विन्ध्यशक्ति के नाम का 'ततः कोलकिलेभ्यश्च विन्ध्यशक्तिर्भविष्यति (वा. पु. ६६।३६५) उल्लेख है। हाँ, इसमें वाकाटक शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। वाकाटक लेखो में, पुराणों मे वर्णित, आदिपुरुष विन्ध्यशक्ति का नाम मिलता है तथा उसके लिए 'वाकाटकानां वशकेतु' का प्रयोग मिलता है[३]। अतएव विन्ध्यशक्ति

वाकाटक नाम का रहस्य

---

१. वायु पुराण ६६।३७०—१

भारशिवानां महाराजा श्री भवनाग दौहित्रस्य गैतमीपुत्रस्य वाकाटकानां महाराजा रुद्रसेनस्य (गु. ले. पृ. २३७)

२. भारशिवानां महाराजा श्री रुद्रसेनस्य (ए. इ. भा. ६ पृ. २७०)

३. अजन्ता गुहा नं. १६ का लेख (ए. एस. डब्ल्यु. आइ. भा. ४ पृ० १२४)

के वंशज वाकाटक कहे जाते थे। वाकाटक नामकरण का कोई विशेष हेतु होना चाहिए। जायसवाल महोदय का मत है कि वाकाटक नामक स्थान के शासक होने के कारण विन्ध्यशक्ति ने अपने वंश का नाम वाकाटक निर्धारित किया। पुराण में उल्लिखित 'कोलकिलेभ्यश्च' से भी कोलकिल स्थान (पूर्वी बघेलखण्ड में स्थित) से सम्बन्ध है जहाँ पर विन्ध्यशक्ति पहले एक सामंत था और पीछे उसने स्वतंत्रता की घोषणा कर दी।

ऊपर बतलाया गया है कि पुराणों तथा लेखों में वाकाटक वंश के आदिपुरुष का नाम विन्ध्यशक्ति उल्लिखित है। इसका पुत्र प्रवीर (प्रवरसेन प्रथम) एक अत्यन्त शक्तिशाली राजा था जिसने साठ वर्ष तक शासन किया[1]। नागवंशी लेखों से ज्ञात होता है कि इसके पुत्र गौतमीपुत्र का वैवाहिक सम्बन्ध नागकुल में हुआ था[2]। इसे शासन करने का सौभाग्य न प्राप्त हुआ। परन्तु इसके पुत्र रुद्रसेन प्रथम ने प्रवीर के बाद शासन की बागडोर अपने हाथ में ली। जायसवाल महोदय के कथनानुसार प्रयाग की प्रशस्ति में वर्णित गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त से पराजित रुद्रदेव, वाकाटक राजा रुद्रसेन प्रथम ही है। इस कथन में कहाँ तक तथ्य है, इसका विवेचन आगे किया जायगा। रुद्रसेन प्रथम का पुत्र पृथ्वीपेण प्रथम भी एक प्रतापी नरेश था। इसका विस्तृत राज्य कई प्रतिनिधियों द्वारा शासित होता था। नाचन तथा गंज लेखों में उल्लिखित शासक व्याघ्रदेव, इसका एक प्रतिनिधि था जो महाकान्तार पर राज्य करता था[3]।

राज्य-काल

पृथ्वीपेण प्रथम के शासन के पश्चात् वाकाटक वंश समकालीन शासक गुप्तों के सम्बन्ध से प्रभावान्वित हो गया। पृथ्वीपेण प्रथम के पुत्र रुद्रसेन द्वितीय के साथ गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह कर दिया। इस राजनैतिक चाल से वाकाटक वंश का सूर्य क्षीण हो गया। ये लोग गुप्तों की छत्रछाया में ही शासन करते रहे। रुद्रसेन द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् प्रभावती गुप्ता ने अपने पुत्रों की बाल्यावस्था में संरक्षक का स्थान ग्रहण किया था[4]। गुप्तों के प्रभाव का ही कारण है कि प्रभावती गुप्ता के लेख में वाकाटक वंशावली न देकर गुप्त वंशावली दी गई है। इस प्रकार के अठारह वर्ष के शासन के बाद उसके पुत्र प्रवरसेन द्वितीय का शासन प्रारम्भ होता है। इसके राज्यकाल में कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई।

प्रवरसेन द्वितीय का पुत्र नरेन्द्रसेन बहुत ही प्रतापी राजा था। इसका विवाह कुंतल-नरेश की राजकुमारी अज्भिता से हुआ था। इसका प्रबल प्रताप कुंतल से लेकर आंध्र पर्यन्त विस्तृत था। पृथ्वीपेण द्वितीय के बालाघाट लेख में उल्लिखित कोशल, मेकल

---

१. विन्ध्यशक्तिसुतश्चापि प्रवीरो नाम वीर्यवान्।
भोक्ष्यन्ती च समा षष्टिं पुरीं काञ्चनका चवै॥

वा पु. ९९।३७१

२. फ्लीट—गु. ले. पृ. २३७।

३ प्रयाग की प्रशस्ति, (गु० ले० नं० १)।

४ पूना प्लेट।

तथा मालवा के राजाओं ने नरेन्द्रसेन की अधीनता स्वीकार कर ली थी[१]। समस्त राजा नरेन्द्रसेन के पुत्र पृथ्वीषेण द्वितीय के भी अधिकार में रहे। इतना ही नहीं, इसके पौत्र हरिषेण ने कुंतल, अवन्ति, कलिङ्ग, कोशल, त्रैकूट, लाट तथा आंध्र राज्यों में विजय का डंका बजाया था[२]। इन सब विवरणों तथा लेखों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि नरेन्द्रसेन से हरिषेण पर्यन्त वाकाटक राज्य का विस्तार हुआ था। पुराणों तथा लेखों के आधार पर ज्ञात होता है कि वाकाटकों ने ढाई सौ वर्ष (२५० — ५०० ई.) तक शासन किया। प्रायः इतने काल तक इस वंश का शासन अविकल रूप से चलता रहा, चाहे वे उन्नत अवस्था में हों या उनका ह्रास दिखलाई पड़ता हो। सम्भवतः वाकाटक वंश का नाश दक्षिण के राजा चालुक्यों द्वारा हुआ। दक्षिण भारत में छठी शताब्दी के आरम्भ में पुलकेशी प्रथम ने अश्वमेध यज्ञ किया जो दक्षिण में चालुक्य-प्रताप की सूचना देता है।

वाकाटक राजाओं की महत्ता

भारशिव राजाओं की भाँति वाकाटक राजा भी परम शिवभक्त, राष्ट्रनिर्माता, हिन्दू-धर्मोद्धारक, संस्कृत भाषा के प्रचुर प्रचारक तथा आर्यसभ्यताभिमानी थे। यदि भारशिवों ने इस पवित्र आर्यावर्त की स्थली को कुटिल कुशानों से मुक्त किया तो वाकाटकों ने इसे अपने विस्तृत साम्राज्य की केन्द्रस्थली बनाकर इसकी कीर्तिपताका समस्त भारत में फहराई। यदि भारशिवों ने स्वतन्त्रता देवी की उपासना अपने शत्रुओं के रुधिर के अर्पण से की तथा स्वातन्त्र्य-भावना को जगाया तो इन्हीं वाकाटकों ने इस भावना को, साम्राज्य निर्माण कर, चिरस्थायी किया। प्रबल प्रतापी गुप्त सम्राटों के सामने भारत में सार्वभौम साम्राज्य स्थापित करने का उदाहरण इन्होंने ही उपस्थित किया तथा गुप्तों ने एकराट् राज्य की कल्पना इन्हीं से ली थी। भारत से विधर्मी विदेशियों को उल्टे पाँव खदेड़कर पुनरपि इस पावन भूमि में हिन्दू-साम्राज्य स्थापन की कल्पना इन्हीं वाकाटकों के उर्वर मस्तिष्क की उपज है। विदेशियों के कुशासन में निरादृत गीर्वाणवाणी को पुनरपि समादर के सिंहासन पर बिठाना इन्हीं वाकाटक नरेशों का स्तुत्य कार्य था। संस्कृत भाषा को राज-भाषा का सम्मान प्रदान करना तथा इसके प्रति आदरणीय आदर दिखलाना इन्हीं राजाओं का काम था। सामाजिक समुन्नति के लिए इन्होंने कुछ कम प्रयत्न नहीं किया। इन्हीं के समय में वर्णाश्रमधर्म ने अपनी बुराइयों का परित्याग कर अपना शुद्धरूप धारण किया। भारतीय ललित कला ने इनकी सुशीतल

परिचय

---

१ वाकाटकानां महाराजा श्री प्रवरसेनसूनोः—अपहृत वंशश्रियः कोसलमेकलमालवाधिपतिभ्यः ... शासनस्य वाकाटकानां महाराजा श्री नरेन्द्रसेनसूनोः कुंतलाधिपतिसुतायां परमभागवत महाराजा श्री पृथ्वीषेणस्य (ए. इ. भा. ९ पृ. २६९)।

२ स. कुंतलावन्ती कलिङ्ग-कोशल — त्रैकूट लाट- आंध्र — वि स्तनिर्देश।

(ए. एस. डब्ल्यु आइ. भा ४ पृ० १२५)।

छत्र-छाया में ताम्बूल की भाँति विकास को प्राप्त किया। मुरझाती हुई आर्य-सभ्यता तथा देवपूजा ने फिर से पनपना प्रारम्भ किया। भारत में सार्वभौम साम्राज्य के संस्थापक, हिन्दू-हित के हिमायती, संस्कृति के संरक्षक इन्हीं वाकाटक नरेशों की कृतियों का परिचय पाठकों को कराया जायगा।

महत्ता

वाकाटकों की महत्ता में (जो निम्नांकित है) किसी को तनिक भी सन्देह नहीं हो सकता है। इन्होंने तीन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किये,—(१) अखिल-भारतवर्षीय सार्वभौम साम्राज्य की कल्पना, (२) संस्कृत का पुनरुत्थान, (३) सामाजिक पुनरुज्जीवन।

(१) कुशानों को पराजित कर भारतवर्ष में एकराट् हिन्दू साम्राज्य की स्थापना की कल्पना वाकाटकों की अपनी है। यह विचार केवल स्वप्न के रूप में उनके मस्तिष्क में ही नहीं पड़ा रहा प्रत्युत उन्होंने इसे कार्यरूप में परिणत भी किया तथा उन्हें समुचित सफलता भी मिली। ये केवल सतत स्वप्न-दर्शी 'आइडियलिस्ट' ही नहीं थे प्रत्युत व्यवहार-परायण भी थे। इनका यह विस्तृत साम्राज्य-स्थापन डंके की चोट उनकी कार्यदक्षता को उद्घोषित कर रहा है।

(२) इसी काल में संस्कृत भाषा का समुत्थान भी हुआ। इन वाकाटक राजाओं ने 'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र-चिन्ता प्रवर्तते' इस लोकोक्ति को चरितार्थ कर दिखलाया। २५० ई० से संस्कृत-प्रचार की एक बलवती धारा बह निकली तथा पचास वर्षों के दीर्घकाल में यह धारा क्रमशः स्थूलता को प्राप्त करती हुई अक्षुण्ण रीति से बहती रही। 'कौमुदीमहोत्सव' इसी उत्कर्ष-काल की रचना है। यह वाकाटक सम्राटों के एक सामन्त राजा के दरबार में लिखा गया था। इसकी रचना एक विदुषी स्त्री ने की है। परन्तु अत्यन्त दुःख का विषय है कि हमें इस विदुषी महिला का नाम ज्ञात नहीं। यह नाटक एक ही बार की बैठक में रचा गया है। इस विदुषी स्त्री को संस्कृत के काव्य उतने ही सरल ज्ञात होते थे जितने भास और कालिदास को। संस्कृत ही इसकी मातृभाषा थी। इस नाटक की रचना ३४० ई० में हुई। इस काल में संस्कृत ही राज-भाषा थी। सारा आफ़िस का कार्य इसी भाषा के द्वारा होता था। प्रतिदिन के व्यवहार में भी संस्कृत ही व्यवहृत होती थी तथा प्राकृत जन भी इसी का प्रयोग करते थे। पहले के वाकाटक शिलालेख भी संस्कृत में ही प्राप्त हुए हैं। शिलालेख में वर्णित वंशावलियों का क्रम देखने से पता चलता है कि संस्कृत में भी इस प्रकार के लेखों (Drafting) का व्यवहार होने लगा था। गणपति नाग नामक एक सामन्त राजा के दरबार में 'भाव-शतक' की रचना हुई। इससे स्पष्ट है कि इस काल में संस्कृत भाषा का बोलबाला था, इसे समादर प्रदान किया जाता था तथा यही राजभाषा थी।

(३) सामाजिक पुनरुन्नति का पता भी हमें इस काल में मिलता है। 'कौमुदी-महोत्सव' में हमें सामाजिक पुनरुज्जीवन की एक निर्मल तथा स्पष्ट झाँकी मिलती है। इस काल में वर्णाश्रम धर्म का पुनरुद्धार तथा हिन्दू-प्राचीन सनातनधर्म को विशेष महत्त्व दिया गया। यही इस समय की पुकार थी। वाकाटकों के सुशासन में पालित समाज कुशानों के कुशासन से आये अपने अन्तर्गत दोषों को दूर करना चाहता था। वास्तव में यह हिन्दू 'प्यूरिटन मूवमेन्ट' था।

वास्तुकला में हम गङ्गा और यमुना के चिह्नों को राजकीय तथा राष्ट्रीय रूप में पाते हैं। मत्स्यपुराण में शातवाहनों के काल तक की कला का वर्णन मिलता है। परन्तु उसमें गङ्गा और यमुना के चिह्नों का पता तक नहीं है। भारशिव तथा वाकाटक इन दोनो राजवंशो ने इन चिह्नों को धारण किया। भारशिवों ने गङ्गा का चिह्न धारण कर अपनी प्रबलता दिखलाई। उन्होंने गङ्गा को शत्रुओं से मुक्त किया था। अतः यह चिह्न धारण करना उनके लिए समुचित ही था। उन्होंने सिक्कों पर इसे चिह्नित करने के अलावा ललित कलाओं में भी इस पवित्र चिह्न को स्थान दिया। परन्तु वाकाटक राजाओं ने इन चिह्नों को 'राजकीय चिह्न' (Imperial Symbols) का रूप प्रदान किया। इन्हीं चिह्नों का चालुक्य तथा पल्लव राजाओं ने क्रमशः अनुसरण किया। इन पवित्र चिह्नों ने जनता के हृदय में सतत साम्राज्य की भावना जगाई; क्योंकि इन्हीं (गङ्गा तथा यमुना के प्रदेशों) को प्रथम जीतकर वाकाटको ने अपने साम्राज्य की स्थापना की थी। नचना और भूमरा के सुन्दर मन्दिरो पर पतितपावनी भागीरथी तथा पुण्यतोया यमुना की ललित और विषम (टेढ़ी टेढ़ी) रचना आज भी नाग वाकाटको की उच्च सभ्यता तथा संस्कृति का एक ज्वलन्त उदाहरण है। वाकाटको के शासन काल में प्रस्तरकला तथा अजन्ता की चित्रकला (जो उनके शासन में पड़ता था) पुनरुज्जीवित की गई। इन ललित कलाओं के पुनरुज्जीवन का समस्त श्रेय—जिसे आजकल के कुछ विद्वान् गुप्तों को देते हैं—वाकाटको को ही है। एरन, उदयगिरि, देवगढ़ तथा अजन्ता आदि स्थानों में जो वास्तुकला दीख पड़ती है, उन सबका समस्त बीज वाकाटकों के नचना के मन्दिरों में—उनके छिद्रयुक्त गवाक्ष, शिखर, टेढ़ी सर्प-रचना, तथा अलकृत फाटक आदि में—मिलता है।

ललित-कला का पुनरुज्जीवन

यहीं वाकाटकों की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। इनको गुप्तों राजाओं पर प्रचुर प्रभाव पड़ा है। इन प्रभावों को हम अगले अध्यायों में गुप्तों के इतिहास के साथ दर्शायेंगे।

गत पृष्ठों में गुप्त-पूर्व-भारत का लगभग एक हजार (६०० ई. पू. से ३०० ई तक) वर्षों का इतिहास दिया गया है। इस दीर्घकाल में भारतवर्ष ने अनेक राजनैतिक उथल-पुथलों तथा हलचलों का सामना किया और अनेक सुशान्त शासन देखे। इसी काल में शैशुनाग राजाओं का अभ्युदय हुआ जिन्होंने पाटलिपुत्र की प्रतिष्ठा की। भारतवर्ष के प्रथम सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य्य ने इसी समय में अपनी विजय-वैजयन्ती समस्त भारत में फहराई तथा मौर्य्य साम्राज्य को सुदृढ़ बनाया। मौर्य्यों के बाद ब्राह्मण शुङ्गों का राज्य हुआ। इन्होंने बुद्धधर्म के प्रभाव से निरादृत वेद-वर्णित यज्ञ का अनुष्ठान किया। पुनः कण्वों तथा आन्ध्रों ने शासन किया। इसके पश्चात् कुशानो ने आर्यावर्त को अपने अधीन कर लिया। परन्तु हिन्दूधर्मोद्धारक नाग तथा वाकाटकों के प्रादुर्भाव से कुशानों को भागना पड़ा और आर्यावर्त्त की पवित्र भूमि में पुनः स्वतन्त्रता की दुन्दुभि बजने लगी। हिन्दूधर्म का पुनरुत्थान हुआ। इन्हीं सम्राटों ने एक समस्त सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना की। इन वाकाटकों के पश्चात् शासक गुप्तो ने इन्हीं के कार्यों का विस्तार किया। इन गुप्तों का इतिहास अगले अध्यायों में दिया जायगा।

उपसंहार

गुप्तों का परिचय

ईसा की तीसरी शताब्दी के अन्तिम काल में हम मगध के सिंहासन पर एक दूसरे राजवंश को आरूढ़ पाते हैं। यह राजवंश गुप्तों का है। जब कि ब्राह्मण वाकाटक नरेश बुंदेलखण्ड तथा मध्यप्रांत में राज्य कर रहे थे, जब

परिचय

उत्तरी भारत में कोई ऐसी प्रभावशालिनी राजकीय शक्ति न थी जो मगध के सिंहासन को सुशोभित करे, जब उत्तरीय भारत में एक महत्त्वशाली तथा प्रबल पराक्रमी राजा का नितांत अभाव था ऐसे ही सुसमय में राज्यलक्ष्मी के वृत पति इन गुप्तों ने काल की गति-विधि का निरीक्षण कर मगध के सिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया। पहले इन नरेशों का साम्राज्य पाटलिपुत्र के आसपास के नगरों पर ही था; परन्तु कालांतर में राज्यलक्ष्मी ने अपनी चंचलता छोड़कर इन्हीं नरेशों को अपना स्थिर पति निश्चय किया। भगवती सरस्वती ने भी, अपना लक्ष्मी के साथ शाश्वतिक विरोध त्यागकर, इन नरेशों के कण्ठ में स्थान कर लिया। कालांतर में इन नरेशों की शक्ति दिनदूनी तथा रात-चौगुनी बढ़ने लगी। फिर क्या था, इनकी शक्तिशाली भुजाओं ने शत्रुओं के सिर-कर्तन से स्थायी शान्ति को प्राप्त किया। समुद्रगुप्त के समय में इनका उत्कर्ष पराकाष्ठा तक पहुँच गया। इस प्रतापी सम्राट् ने अपनी फड़कती हुई भुजाओं के द्वारा उत्तरीय भारत के नरेश को कौन कहे, दक्षिणापथ के राजाओं को भी 'करदीकृत' बना दिया। अपनी विजय-वैजयंती को समस्त भारत में फहराकर इसकी यशोराशि मानों इन्हीं पताकाओं के मार्ग से देवलोक में भी जाने की कामना करने लगी। वेद-वर्णित यज्ञ का विधान कर इसने पुनः वैदिक विधानों को प्रोत्साहन दिया। इसने अश्वमेध यज्ञ का सम्यक् अनुष्ठान कर पुनः एकराट् साम्राज्य स्थापित किया। संस्कृत भाषा तथा भारतीय ललित कलाओं का पुनरुद्धार कर इन नरेशों ने पुनः भारतीय संस्कृति को पुनरुज्जीवित किया। दुष्ट शकों को इस पवित्र आर्यावर्त की भूमि से खदेड़कर पुनः इसे स्वतन्त्रता की क्रीड़ास्थली बनाया। भारतीय जनता जो स्वाभिमान को खोये बैठी थी, फिर से उसकी नस-नस में राष्ट्रीयता का भाव भरा। इन्होंने अनेक घनघोर लड़ाइयों में अपने कठोर शत्रुओं के छक्के छुड़ाये। इस प्रकार से इन्होंने शस्त्र के द्वारा रक्षित राष्ट्र में शास्त्र की चिन्ता प्रवर्तित की। मानों इन सम्राटों के इन्हीं अलौकिक गुणों पर मुग्ध होकर धान की रक्षिकाएँ ईख की छाया में बैठकर इनकी गुणगरिमा का गान किया करती थीं[1]। 'स्वर्ण युग' का निर्माण इन्हीं

---

१. इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम् ।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ॥ रघुवंश ४।२०

सम्राटों ने किया। इनके शासन-काल में सरस साहित्य तथा ललित कला के पुनरुद्धार की वह प्रबल धारा वह निकली जिसका स्रोत अनेक शताब्दियों के बाद तक नहीं सूख सका। इस स्वर्ण-युग का निर्माण कर इन्होंने वह अलौकिक कार्य कर दिखाया जो दूसरे भारतीय नरेशों के लिए असंभव था। यदि हम इस सुवर्णयुग की उपमा ग्रीस-इतिहास के "पेरेक्लियन एज' से दें तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी। इन्होंने भारतीय इतिहास के रंगमंच पर वह अलौकिक अभिनय किया जिसका वर्णन करना मेरी इस जड़ लेखनी की शक्ति के बाहर है। इन्हीं प्रातःस्मरणीय, आर्य सभ्यता तथा संस्कृति के संस्थापक, 'स्वर्णयुग' के निर्माणकर्ता, एकछत्र सम्राट्, भारतीय इतिहास-नाटक के सूत्रधार, राष्ट्रनिर्माता गुप्त सम्राटों का पवित्र इतिहास आगे के अध्यायों में लिखा जायगा।

गुप्त सम्राटों के तिथिक्रम से क्रमबद्ध इतिहास देने के पूर्व यह समुचित प्रतीत होता है कि इनका वर्ण निर्णय कर लिया जाय। ऐसे प्रतापी, आर्यसभ्यता के संस्थापक गुप्त नरेश कौन थे, उनका वर्ण क्या था, इसे जानने की किसे समुत्कण्ठा न होगी? अतः इसी विषय पर यहाँ सम्यक् विचार किया जायगा।

गुप्तों के वर्ण-निर्णय के संबंध में विद्वानों में गहरा मतभेद है। सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक श्री जायसवाल इन गुप्तों को शूद्र जाति का बतलाते हैं तथा प्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता म० म० गौरीशङ्कर ओझा इन्हें क्षत्रिय मानते हैं। जायसवाल महोदय ने इन गुप्तों का, निम्नांकित तर्कों के द्वारा, शूद्र जाति का होना सिद्ध किया है।

सर्वप्रथम श्री जायसवाल ने 'कौमुदी-महोत्सव[1]' नामक नाटक के आधार पर गुप्तों को शूद्र सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस ऐतिहासिक नाटक की विद्वान् लेखिका ने एक पात्र (आर्य) के मुख से चंद्रसेन (चण्डसेन) को कारस्कर कहलाया है तथा ऐसे नीच जाति के पुरुष को राजा होने के अयोग्य बतलाया है[2]। श्रीजायसवाल चंद्र-

---

१—यह नाटक दक्षिण-भारत में मिला है तथा यह दक्षिण भारतीय ग्रन्थमाला स० ४ मद्रास से प्रकाशित हुआ है। इसका संक्षिप्त कथानक निम्न प्रकार का है,—नाटक के चतुर्थांक में मगध के क्षत्रिय राजा सुंदरवर्मन् का वर्णन है। इस राजा को कोई पुत्र नहीं था अतः इसने चण्डसेन नामक व्यक्ति को गोद लिया। परन्तु गोद लेने के पश्चात् राजा को कल्याणवर्मन् नामक पुत्र पैदा हुआ। चण्डसेन ने राज्यलोभ के कारण लिच्छवियों से वैवाहिक संबंध स्थापित कर उनकी सहायता से सुन्दरवर्मन् पर चढ़ाई कर दी, उसे मार डाला तथा स्वयं राजा बन बैठा। राजा का मन्त्री मन्त्रगुप्त राजकुमार को लेकर भाग निकला तथा उसने विन्ध्यपर्वत की शरण ली। उसने कालांतर में दुष्ट चंद्रसेन को मार कर कल्याणवर्मन् को राजा बनाया। चण्डसेन के प्रजापीड़क होने के कारण जनता ने इस राजा का साथ दिया। इसी कल्याणवर्मन् के सिंहासनारूढ होने के समय यह नाटक अभिनीत हुआ था। इसकी लेखिका एक विदुषी स्त्री है।

२. कहिं एरिस वण्णस्स से राअसिरि। कौ. म. पृ. ३०।

सेन का चंद्रगुप्त से एकीकरण करते हैं। बौधायन[1] ने 'कारस्कर' को नीच जाति बतलाया है। इस आधार पर श्री जायसवाल के मत से चंद्रसेन = चंद्रगुप्त प्रथम शूद्र जाति का ठहरता है। अतएव गुप्तों का शूद्र जाति का होना सिद्ध है।

'कौमुदी-महोत्सव' में चन्द्रसेन का वैवाहिक संबंध मगध राज्य के शत्रु लिच्छवियों से वर्णित है। इस नाटक में लिच्छवियों को म्लेच्छ[2] कहा गया है।

चूँकि चण्डसेन स्वयं शूद्रजाति का था अतः म्लेच्छ (नीच जाति वाले) लिच्छवियों से उसका वैवाहिक संबंध स्वभाव-सिद्ध है। अतः इस प्रमाण से भी गुप्त शूद्र ही सिद्ध होते हैं। जायसवाल महोदय के कथनानुसार गुप्तसम्राट् जाट (नीच जाति) थे जिनके आधुनिक प्रतिनिधि (कक्कर जाट) आज भी पंजाब में पाये जाते हैं[3]।

वाकाटक महारानी प्रभावती गुप्ता के एक लेख में 'धारण' गोत्र का उल्लेख मिलता है[4]। जायसवाल महोदय इस 'धारण' गोत्र की आधुनिक समय में अमृतसर (पंजाब) के निवासी जाट लोगों के 'धरणी'[5] गोत्र से समता बतलाते हैं[6]। इनके कथनानुसार गुप्त लोग पंजाब छोड़कर भारशिवों की अधीनता में कौशाम्बी के समीप चले आये[7]। इन्हीं सब प्रमाणों के आधार पर जायसवाल महोदय ने गुप्तों को शूद्र सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

यदि उपर्युक्त तर्कों पर विचार किया जाय तो जायसवाल महोदय की धारणा समुचित तथा युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होती है। यह स्पष्टतया विदित ही है कि चंद्रसेन ने मगध के राजा के प्रति खुला विद्रोह कर उसे मार डाला था।

खण्डन

इस दुरात्मा ने अपने धर्म-पिता का नाश किया तथा राज्य-लोभ के कारण वस्तुतः राज्याधिकारी कल्याणवर्मन् को उससे वञ्चित कर दिया। इस नाटक का अभिनय उस समय हुआ था जब कि राजकुमार कल्याणवर्मन् ने अपनी खोई हुई गद्दी पाई थी तथा अपने पूजनीय पिता के हत्यारे को यमलोक का टिकट दिलाया था। इस समय में चारों तरफ़ नवीन महाराज की यशो-दुंदुभि बज रही थी तथा समस्त जनता महाराज के परम शत्रु, देशद्रोही चंडसेन को कोसते नहीं अघाती

---

१. बौ. ध. सू. १।१।३२।

२ अर्थ : ततः स्वयं मगधकुलं व्यपदिशन्नपि मगधकुलवैरिभिः म्लेच्छैः लिच्छविभिः सह संबंधं कृत्वा लब्धासारः कुसुमपुरं उपरुद्धवान्। कौ. महो. पृ० ३०।

३. जायसवाल—हिस्ट्री आफ इण्डिया (१५०-३५० ई० तक)।

४. प्रभावती गुप्ता के उस लेख में गुप्तों की वंशावली दी गई है। ए. इ. भा. १५ (४१)।

५. ग्लासरी आव ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स इन पंजाब एण्ड एन डब्लू. एफ. पी. भाग २ पृ. सं. २३५।

६ जायसवाल—हिस्ट्री आफ इंडिया (१५० ३५० ई० तक)। पृ० ११६।

७. वही पृ० ११७।

थी। ऐसी अवस्था में, ऐसे महोत्सवपूर्ण समय में अभिनीत नाटक में महाराज की गुणगरिमा का गान तथा उनके परमद्रोही चण्डसेन के दुष्ट, नीच जाति का तथा अत्यन्त निम्न बताना वस्तुतः स्वाभाविक ही है। ऐसा न होना ही आश्चर्य की बात होती। अतः ऐसी अवस्था में 'कारस्कर' शब्द के विशेष महत्त्व देना अनुचित जान पड़ता है। वास्तव में यह शब्द चण्डसेन की जाति का सूचक नहीं परन्तु उसके किये हुए पापकर्मों के (स्वामि तथा देशद्रोह के) लिए प्राप्त 'उपाधि' ही समझनी चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि केवल इसी शब्द के सहारे गुप्तों के शूद्र बतलाना उचित नहीं प्रतीत होता।

पूना में मिले, प्रभावती गुप्ता के लेख में उल्लिखित 'धारण' गोत्र से भी गुप्तों के जाट मानना समुचित तथा युक्ति-युक्त नहीं जान पड़ता। प्राचीन तथा अर्वाचीन समय में भी ब्राह्मणेतर (क्षत्रिय आदि) जातियाँ अपने पुरोहित के गोत्र के ही अपना लेती थीं तथा अपने गोत्र का नामकरण भी अपने पुरोहित के गोत्र के नाम पर ही कर लेती थीं[1]। इसके उदाहरण इतिहास में भरे पड़े हैं। यह सम्भव है कि गुप्तों ने भी यह 'धारण' गोत्र अपने पुरोहित के गोत्र से लिया हो। अतः जाटों के 'धरणी' गोत्र तथा गुप्तों के 'धारण' गोत्र में शब्द-साम्य देखकर झटपट किसी महत्त्वपूर्ण परिणाम पर पहुँच जाना समुचित नहीं है। गुप्तों तथा जाटों की गोत्र-समता में कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

क्षत्रिय होने के प्रमाण

(१) ऊपर लिखा जा चुका है कि सुंदरवर्मन् क्षत्रिय था। उसने कोई पुत्र न होने के कारण चण्डसेन के अपना 'कृतक' पुत्र बनाया तथा उसे गोद लिया। हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार 'दत्तक' पुत्र उसी जाति का होना चाहिए जिस जाति का गोद लेनेवाला व्यक्ति हो। मनु ने भी इस बात का समर्थन किया है तथा इस विषय पर प्रचुर प्रकाश डाला है।[2] राजपूताना के इतिहास में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं। अतएव जब सुन्दरवर्मन् क्षत्रिय था तब उसका 'कृतक' पुत्र चण्डसेन भी अवश्य क्षत्रिय होगा। चूँकि चण्डसेन की समानता चन्द्रगुप्त प्रथम से की जा चुकी है, अतः यह स्पष्ट है कि गुप्त नरेश क्षत्रिय जाति के थे।

(२) गुप्तवंशी सम्राटों ने अपनी जाति का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। न तो गुप्त-लेखों से ही इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ता है और न साहित्यिक ग्रन्थों से ही। परन्तु सौभाग्य से पिछले गुप्त नरेशों (Later Gupta Kings) की जाति के संबंध मे कुछ ज्ञातव्य बातें मिली हैं। मध्यप्रदेश में शासन करनेवाले गुप्त वंशज महाशिवगुप्त को सिरपुर (रायपुर, मध्यप्रांत) की प्रशस्ति में गुप्तों के चंद्रवंशी क्षत्रिय कहा गया है[3]।

---

१ ऐतरेय ब्रा० ३४ ७।२५।

२. औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च।
गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायदा बान्धवाश्च षट्॥

मनुस्मृति९।१५

३. ए० इ० भा. ११ पृ. १९०।

(आसीच्छशी) व भुवनात् भुत भूतभूति-
रुद्भूतभूतपति(भक्तिसम)प्रभावः ।
चंद्रान्वयैकतिलकः खलु चंद्रगुप्तः,
राजाख्यया पृथुगुणः प्रथितः पृथिव्याम् ॥

इस उल्लेख से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि गुप्तवंशी नरेश चंद्रवंशी क्षत्रिय थे।

(३) बम्बई प्रान्त में स्थित धारवाड़ के शासनकर्त्ता गुत्तल नरेश अपने के उज्जैन के शासक चंद्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) का वंशज मानते थे। चद्रगुप्त विक्रमादित्य के सोमवंशी क्षत्रिय कहा गया है[१]। इस बात की पुष्टि पुनः 'मञ्जुश्रीमूलकल्प' नामक ग्रंथ से भी होती है[२]। अतः यह सब प्रमाण गुप्तों के क्षत्रिय सिद्ध कर रहे हैं।

(४) यदि गुप्तवंशी सम्राटों के अन्य नरेशों से वैवाहिक संबंध पर विचार किया जाय तो स्पष्ट ही ज्ञात हो जायगा कि गुप्त नरेश अवश्य ही क्षत्रिय थे। गुप्त राजा प्रथम चन्द्रगुप्त का विवाह लिच्छवियों की एक सुप्रसिद्ध राजकुमारी श्रीकुमारदेवी से हुआ था। इसी कारण गुप्त शिलालेखों में समुद्रगुप्त के लिए 'लिच्छवी-दौहित्र' का प्रयोग पाया जाता है[३]। अब हमें यह देखना है कि ये प्रबल पराक्रमी लिच्छवि किस जाति के थे। ये क्षत्रिय थे या किसी अन्य जाति के? लिच्छवियों के क्षत्रिय प्रमाणित करने के लिए हमारे पास अनेक महत्त्वपूर्ण प्रमाण हैं। इन प्रमाणों को यहाँ क्रमशः दिया जाता है।—

(क) भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् उनके शेष फूल के प्राप्त करने के लिए आठ क्षत्रिय जातियों ने दावा पेश किया था। इनमें लिच्छवियों का स्थान प्रधान था। उन्होंने उच्च स्वर से इस बात की घोषणा की—भगवान् भी क्षत्रिय थे तथा हम लोग भी क्षत्रिय हैं। अतः भगवान् के शरीर का शेषांश हमें भी मिलना चाहिए[४]। अपने को क्षत्रिय जाति का तथा भगवान् के फूल का उचित अधिकारी लिच्छवियों ने अपने मुख से कहा है। ऐसी दशा में उनके क्षत्रियत्व में भला अब किसको संदेह हो सकता है?

(ख) भगवान् महावीर के पिता ने त्रिशला नाम की एक सुप्रसिद्ध लिच्छवी राजकुमारी से विवाह किया था। भगवान् महावीर के पिता का क्षत्रिय होना सिद्ध है अतः समान जाति में विवाह होने के कारण लिच्छवियो का क्षत्रिय होना सहज ही में सिद्ध हो जाता है[५]।

---

१. बम्बई गजेटियर, १ भाग, २ पृ ५७८—नोट ३।

२. जायसवाल, इम्पीरियल हिस्ट्री (देखिए परिशिष्ट)

३. प्रयाग की प्रशस्ति (गु. ले. नं. १)।

४. भगवा पि खत्तियो मयं पि खत्तियो मयं पि अरहा भगवतो शरीरानां भागम्।

दीघनिकाय। २ पृ. १८४।

५. केम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया—भा० १ पृ. १५७ तथा कल्पसूत्र—प्राच्यधर्मग्रंथमाला (से. बु. इ.) २२ पृ० २२६।

(ग) क्षत्रिय महाराज बिम्बसार का विवाह चेलाना नाम की लिच्छवी राजकन्या से हुआ। इस विवाह से लिच्छवियों का क्षत्रिय होना अनुमान सिद्ध है[१]।

(घ) सिगाल जातक से हमें पता चलता है कि उसमें एक लिच्छवी कन्या क्षत्रिय की पुत्री कही गई है[२]।

(च) कल्पसूत्र से ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर के मामा, जो लिच्छवी जाति के थे, क्षत्रिय थे[३]।

(छ) भगवान् महावीर की माता, जो लिच्छवी राजकुमारी थीं, सदा क्षत्राणी कही गई हैं[४]

(ज) भगवान् बुद्ध लिच्छवियों को सदा वशिष्ठगोत्रीय क्षत्रिय कहते थे। मौद्गलायन भी उन्हें इसी गोत्र से संबोधित करते थे[५]।

(झ) नेपाल की वंशावली में लिच्छवियों को सूर्यवंशी क्षत्रिय कहा गया है[६]।

(त) रामायण से हमें पता चलता है कि वैशाली की स्थापना इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रियों ने की। अतः लिच्छवि क्षत्रिय हुए।[७]

(थ) सूत्रकृताङ्ग में लिखा है कि वैशाली का कोई क्षत्रिय भी संघ में प्रवेश करे तो उसे उच्च जाति होने के कारण अधिक आदर नहीं मिल सकता।[८]

(द) सातवीं शताब्दी में भारत में भ्रमण करनेवाले बौद्ध चीनी यात्री ह्वेनसाङ्ग ने नेपाल के शासक लिच्छवियों को क्षत्रिय लिखा है।[९]

(ध) तिब्बती भाषा के प्राचीन ग्रन्थ 'दुल्व' में लिच्छवियों को वशिष्ठगोत्री क्षत्रिय कहा गया है[१०]।

(न) मनु ने भी लिच्छवियों को क्षत्रिय माना है परन्तु बौद्धधर्म स्वीकार कर लेने से इन्हें 'व्रात्य क्षत्रिय' कहा है[११]।

इन ऊपर लिखे प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि लिच्छवि लोग क्षत्रिय थे। उनके क्षत्रियत्व पर अब किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता। अतः लिच्छवि अपने समय के प्रबल पराक्रमी क्षत्रिय शासक सिद्ध होते हैं। इन्हीं प्रतापी लिच्छवियों की एक राजकुमारी से चन्द्रगुप्त प्रथम का विवाह हुआ था। यदि हम गुप्तों को शूद्र तथा जाट (जैसा कि जायसवाल मानते हैं) मानें तो क्या यह संभव है कि

१. जैकोबी-जैनसूत्र १ पृ० १२।
२. लिच्छवी कुमारिका खत्तियधीता जातिसम्पन्ना। भाग २ पृ० ५।
३. जैकोबी कल्पसूत्र-से बु. ई २२ पृ० २२६।
४. बी. सी. ला-क्षत्रिय ट्राइब्स आव इन्शेन्ट इण्डिया अ ५ पृ० १२।
५. राकहिल—लाइफ आव बुद्ध पृ० ९७।
६. इ. ए. भा. ३७ पृ० ७६।
७. रामायण बालकाण्ड ४७।७।
८. जैकोबी-जैनसूत्र-२. से. बु. इ. भा. ४५ पृ० ३२।
९. वाटर-ह्वेनसाङ्ग की यात्रा-भाग २, पृ० ८४।
१०. राकहिल-लाइफ आव बुद्ध-पृ० ९०।
११. झल्लो मल्लश्च राजन्याद्व्रात्यान्निच्छवि(लिच्छवि)रेव च। मनु १०।२२।

इन वीर, क्षत्रिय जाति के अभिमानी तथा भगवान् बुद्ध के सामने क्षत्रियत्व का दम भरनेवाले लिच्छवियों ने अपनी राजकुमारी का विवाह किसी नीच जाति के जाट से किया होगा ! यह बात कल्पना के परे है। उस प्राचीन काल में जब जाति का अभिमान प्रत्येक क्षत्रिय की नस-नस में भरा रहता था, जिस समय अपनी पुत्री का विवाह अपने से उच्च वंश में करने की प्रथा थी, उसी काल में क्षत्रियधर्माभिमानी लिच्छवि अपने से नीच कुल में राजकुमारी कुमारदेवी का ब्याह कैसे कर सकते थे ? धर्म-शास्त्रों में प्रतिलोम विवाह सर्वदा हीन दृष्टि से देखा जाता है। प्रतिलोम प्रथा से उत्पन्न बालक वर्णसङ्कर माना जाता है। क्षत्रिय ही क्यों ब्राह्मण, वैश्य तथा शूद्र भी अनुलोम प्रथा के अनुसार अपने से उच्च वंश में ही वैवाहिक सम्बन्ध करते हैं। प्रतिलोम की प्रथा निन्दनीय होने पर यह कदापि सम्भव नहीं है कि प्राचीन क्षत्रिय लिच्छवी अपने से नीच वंश में विवाह करते। इस विवाह से उत्पन्न वर्णसंकरों की ख्याति तथा यश का विस्तार होना असम्भव है, जैसा कि गुप्तकाल में राजा प्रजा की उन्नति तथा कीर्त्ति वर्तमान थी। अतएव क्षत्रिय लिच्छवियों के वंश में विवाह के कारण यह अनुमान सर्वथा सत्य ज्ञात होता है कि गुप्त नरेश भी क्षत्रिय थे।

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपना विवाह एक क्षत्रिय नागराज की कन्या कुबेरनागा से किया था। इसने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह ब्राह्मण राजा वाकाटक रुद्रसेन द्वितीय से किया था[१]। यह विवाह अनुलोम प्रथा के अनुसार शास्त्र-सम्मत था अतएव वैदिक धर्मानुयायी वाकाटकों को इस प्रकार का सम्बन्ध उचित ज्ञात हुआ। ब्राह्मण वाकाटक नीच वंश में विवाह नहीं कर सकते थे।

इन समस्त प्रमाणों के आधार पर यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि गुप्त सम्राट् अवश्य ही क्षत्रिय थे। किसी को इन राजाओं के नाम के आगे 'गुप्त' शब्द देखकर घबराना नहीं चाहिए तथा इन्हें वैश्य[२] नहीं समझना चाहिए। इन सम्राटों के आदि-पुरुष का नाम 'गुप्त' था। अतः उनके वंशज होने के कारण इन नरेशों ने अपने नाम के आगे अपने पूर्वज के सम्मानार्थ आदरसूचक 'गुप्त' नाम का प्रयोग करना प्रारम्भ किया[३]। गुप्त-नामान्त होने से इनके वैश्य होने की धारणा निराधार तथा भ्रम-मूलक है। अतएव गुप्त नरेश न तो जाट थे, न शूद्र और न वैश्य। इनका क्षत्रिय होना निर्विवाद सिद्ध होता है।

काल-विभाग

अगले अध्यायों में गुप्तों के क्रमबद्ध इतिहास को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जायगा। परन्तु इस प्रयत्न के पूर्व गुप्त-इतिहास में कितने विभाग (Period) हैं; इन

---

१. जायसवाल-हिस्ट्री आव इन्डिया (१५०-३५० ई०)।

२. पुराणों में निम्नलिखित पद्य पाया जाता है—

शर्मान्तं ब्राह्मणस्येदं वर्मान्तं क्षत्रियस्तु वै।
गुप्तदासात्मकं नाम, प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः ॥ —विष्णु पुराण :

३. जायसवाल-हिस्ट्री आव इन्डिया (१५०-३५० ई.)।

विभागों का काल कब से कब तक है; किस राजा ने किस विभाग में शासन किया; उनकी संख्या क्या थी; इत्यादि बातों का बतलाना आवश्यक प्रतीत होता है। इस पुस्तक का क्षेत्र कितना है तथा इसमें किन-किन बातों का वर्णन रहेगा, इसका उल्लेख समुचित प्रतीत होता है। अब हम इन्हीं बातों को स्पष्टतया बतलाना चाहते हैं।

यह पुस्तक दो भागों में विभक्त की गई है। इसके प्रथम भाग में गुप्तों का राजनैतिक इतिहास है तथा दूसरे भाग में सांस्कृतिक इतिहास। सांस्कृतिक इतिहास में गुप्तकालीन धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक अवस्था का वर्णन, गुप्तकालीन सिक्के, सभ्यता तथा साहित्य आदि का विस्तृत विवरण दिया गया है। इसकी विस्तृत सूची दूसरे भाग के प्रारम्भ में दी जायगी अतः यहाँ इसका अधिक वर्णन अनावश्यक है। गुप्तों ने सन् २७५ ई० से लेकर ६५० ई० तक अर्थात् लगभग ४०० वर्षों तक शासन किया। उनके इस राजनैतिक इतिहास को हमने दो भागों में विभक्त किया है—१—सम्राट् गुप्तकाल (२७५ ई० से लेकर ५४४ ई० तक) २—मागध गुप्तकाल (५४४ ई० से ६५० ई० तक)। पुनः सम्राट गुप्तकाल को तीन भागों में बाँट दिया है—१—आदिकाल (२७५ ई० से ३२४ ई० तक) २—उत्कर्षकाल (३२४ ई० से ४६७ ई० तक) ३—अवनतिकाल (४६७ ई० से ५४४ ई० तक)।

आदिकाल (२७५ ई०-३२४ ई०) में तीन राजा हुए जिनका वर्णन इस पुस्तक में किया गया है। उन राजाओं का नाम निम्नांकित है—

१—श्री गुप्त ;
२—घटोत्कच।
३—चन्द्रगुप्त प्रथम।

उत्कर्षकाल (३२४ ई०—४६७ ई०) में कुल चार राजा हुए। ये सब सम्राट् थे। इनका नाम है—

१—सम्राट् समुद्रगुप्त।
२—सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य)।
३—सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम।
४—सम्राट् स्कन्दगुप्त।

अवनति-काल में (४६७ ई०—५४४ ई०) जो राजा हुए उनका नाम है—

१—पुरुगुप्त।
२—नरसिंहगुप्त।
३—कुमारगुप्त द्वितीय।
४—बुधगुप्त।
५—तथागत गुप्त।
६—भानु गुप्त।

मागध गुप्तकाल में निम्नांकित राजा हुए—

१—कृष्णगुप्त, हर्ष तथा जीवितगुप्त प्रथम।
२—कुमारगुप्त तृतीय।

३—दामोदर गुप्त ।
४—महासेन गुप्त ।
५—देवगुप्त ।
६—माधव गुप्त ।
७—आदित्यसेन गुप्त ।
८—देवगुप्त, विष्णुगुप्त तथा जीवितगुप्त द्वितीय ।

राजनैतिक इतिहास में हमने जितने विभाग (Periods) किये हैं उनका सविस्तर वर्णन, तिथि-काल तथा उस काल में जितने राजा हुए हैं उनके नाम के साथ, दिया गया है। प्रत्येक काल-विभाग कब से कब तक रहा तथा इस विभाग में कितने राजाओं ने राज्य किया, इसका भी वर्णन स्पष्ट रीति से कर दिया गया है। अपने इसी उपर्युक्त काल-विभाग के पाठकों के और अधिक स्पष्ट रीति से समझाने के लिए हम उनके सामने निम्नांकित वृक्ष तैयार कर प्रस्तुत करते हैं,—
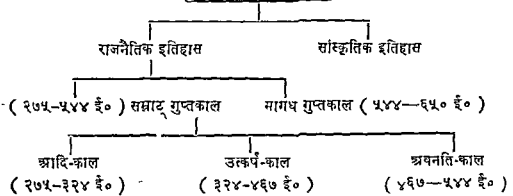
आदि-काल

(१) गुप्त

गुप्त-वंशीय शिलालेखों में इनके आदिपुरुष का नाम महाराजा श्रीगुप्त आया है। समुद्रगुप्त ने अपने को प्रयाग की प्रशस्ति में महाराजा श्रीगुप्त का प्रपौत्र लिखा है[1]।

नाम-निर्णय

ऐतिहासिक पण्डितों में इस बात का मतभेद है कि गुप्तवंश के आदि-पुरुष का नाम 'श्रीगुप्त' था या केवल 'गुप्त'। अधिकतर विद्वानों (एलन, जायसवाल आदि) की यही धारणा है कि गुप्तों के आदिपुरुष का नाम केवल 'गुप्त' था[2]। शिलालेखों में 'गुप्त' नाम के साथ 'श्री' शब्द सम्मानसूचक है। जिस स्थान पर श्री शब्द व्यक्तिगत नाम से सम्बन्ध रखता है उस स्थान पर दो श्री शब्दों का उल्लेख मिलता है। देववर्णाक के लेख तथा बयाना की प्रशस्ति में 'श्रीमती' और 'श्रीरथापुरी' के साथ श्री शब्द भी सम्मान के लिए उल्लिखित है[3]। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि आदि गुप्त-नरेश का नाम 'गुप्त' था, तथा श्री सम्मानार्थ प्रयुक्त किया गया है।

कई विद्वान् अनुमान करते हैं कि गुप्तवंश के आदिपुरुष का नाम अन्य था; गुप्त शब्द केवल उसके नाम का अंतिम भाग था। प्रायः जो नाम दो शब्दों के संयोग से बने रहते हैं उनमें कभी पहले अंश या कभी दूसरे अंश से ही उस व्यक्ति का बोध हो जाता है तथा पूरे नाम का तात्पर्य भी निकल आता है। ऐसी अवस्था में यह सम्भव है कि उसके नाम के प्रथम अंश को छोड़कर केवल दूसरे अंश (गुप्त) का ही प्रयोग होने लगा और वह उसी नाम से प्रसिद्ध हो गया।

यदि गुप्त वंश के आदिपुरुष 'गुप्त' नाम की प्रामाणिकता पर विचार किया जाय तो उपर्युक्त निराधार अनुमानों पर सिद्धान्त स्थिर करना न्याय-संगत नहीं होगा। शिलालेखों के अतिरिक्त पुराण से भी 'गुप्त' नाम की पुष्टि होती है। वायुपुराण में गुप्त वंश की राज्यसीमा बतलाते हुए 'भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः' (गुप्त के वंशज इस पर शासन

---

१. महाराज श्रीगुप्तप्रपौत्रस्य महाराजश्रीघटोत्कचपौत्रस्य महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तपुत्रस्य लिच्छविदौहित्रस्य महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तस्य (गु० ले० न० १)।

२. जायसवाल—हिस्ट्री आफ इंडिया (१५०-३५०) पृ० ११३। एलन—कै० आफ इ० क्वा० गु० डा० भूमिका पृ० १६।

३. परमभट्टारिकायां राज्ञ्यां महादेव्यां श्री श्रीमती देव्यामुत्पन्ना, का० इ० इ० भा० ३ न० ४६।

करेंगे) का उल्लेख मिलता है[१]। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि गुप्त वंश के आदि-राजा का नाम 'गुप्त' था। इसके वंशजों ने अपने राजवंश का नाम इसी के नाम पर 'गुप्त वंश' ही निर्धारित किया।

महाराजा गुप्त के विषय में लेखों के अतिरिक्त इत्सिंग के कथन द्वारा प्रकाश पड़ता है। इत्सिंग नामक बौद्ध चीनी सातवीं शताब्दी में भारतवर्ष में भ्रमण करने आया था। उसने वर्णन किया है[२] कि पाँच सौ वर्ष पहले चेलिकेतो नामक एक महाराजा ने मृगशिखावन के समाप एक मंदिर का निर्माण किया था। वह मंदिर विशेषतया चीनी यात्रियो के निवास करने के निमित्त था तथा उसके प्रबंध के लिए महाराजा ने चैाबीस ग्राम दान में दिये थे। इतिहासिश इत्सिंग के महाराजा चेलिकेतो को श्रीगुप्त का चीनी अनुवाद मानते हैं। जान एलन इत्सिंग-कथित महाराजा श्रीगुप्त की समता गुप्तों के प्रथम राजा गुप्त से बतलाते हैं[३]। यदि यह समीकरण सत्य है तो गुप्त का समय ई० स० की दूसरी शताब्दी मानना पड़ेगा (७००—५००)। ऐतिहासिक विद्वानों ने गुप्त वंश का उत्थान तीसरी शताब्दी में निश्चित किया है। ऐसी अवस्था में इत्सिंग-वर्णित राजा श्रीगुप्त तथा गुप्तों के प्रथम राजा गुप्त में एक शताब्दी का अंतर दिखलाई पड़ता है। इस उपर्युक्त—नाम तथा समय के—अंतर के कारण फ़्लीट इन दोनों राजाओं को भिन्न व्यक्ति मानते हैं। फ्लीट महोदय के इस वाद-विवाद में कुछ सार नहीं ज्ञात होता। प्रथम तो इत्सिंग के वर्णित श्रीगुप्त नाम पर कोई विशेष विचार नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह एक चीनी यात्री था, उसके हृदय में भारत के प्रति प्रेम तथा आदर था। उस राजा के प्रति उसके कितने उज्ज्वल भाव होंगे जिसने चीनी यात्रियो के लिए धर्मशाला बनवाई थी। ऐसी दशा में उसने राजा गुप्त को श्रीगुप्त लिख दिया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। दूसरा विचार इत्सिंग-कथित समय पर है। समय-निरूपण करते हुए इत्सिंग-वर्णित 'पाँच सौ वर्ष' पर अक्षरशः विचार नहीं किया जा सकता। इसका प्रयोग यहाँ निश्चित काल-निरूपण के लिए नहीं किया गया है; बल्कि केवल अनिश्चित भूत काल के प्रकट करने के लिए किया गया प्रतीत होता है। इन सब कारणों से इत्सिंग वर्णित 'श्री गुप्त' तथा गुप्तवंशी आदि-राजा 'गुप्त' में कोई भी भेद नहीं है। यदि दोनों व्यक्ति भिन्न भिन्न थे और गुप्त वंश का आदिपुरुष इत्सिंग-कथित श्रीगुप्त नहीं था तो इत्सिंग के श्रीगुप्त का स्थान गुप्त-वंशावली में ढूँढ़ना होगा। परन्तु श्रीगुप्त नामधारी दूसरा कोई भी गुप्त नरेश गुप्त वंश में विद्यमान नहीं था। यदि दोनों व्यक्ति समकालीन थे तो एक ही नाम के और एक ही समय तथा स्थान में इनका राज्य करना असंभव है। इन सब कारणों से गुप्तों के आदिपुरुष तथा इत्सिंग-कथित श्रीगुप्त एक ही व्यक्ति थे, यह निर्विवाद है।

चेलिकेतो = श्रीगुप्त

---

१. ना० पु० ६६।३८३।

२. इ० ए० भा० १० पृ० ११०।

३. गुप्त क्वायन इन ब्रिटिश म्यूजियम, भूमिका पृ० १५।

एलन आदि विद्वानों का कथन है कि महाराजा गुप्त पाटलिपुत्र तथा उसके समीपस्थ प्रदेशों पर शासन करता था। संभवतः इसका शासन ई० स० २७५ के लगभग प्रारम्भ होता है जो कुषाणों के नाश होने पर स्वतंत्र हो गया[१]। जायसवाल महोदय का अनुमान है कि गुप्त एक सामंत राजा था जो भारशिव राजाओं के अधीन होकर प्रयाग के समीप राज्य करता था[२]।

इस गुप्त राजा की एक मिट्टी की मुहर मिली है जिसपर 'श्रीगुप्तस्य' लिखा है। डा० हार्नले का अनुमान है कि यह मुहर गुप्तों के आदिपुरुष 'गुप्त' की है[३]।

(२) घटोत्कच

परिचय — महाराज घटोत्कच गुप्तवंश के द्वितीय राजा थे। ये महाराज 'गुप्त' के पुत्र थे। गुप्त शिलालेखों में इनके नाम के आगे गुप्त शब्द नहीं मिलता है।

बिहार प्रान्त के मुजफ़्फ़रपुर ज़िले में, वैशाली में, बहुत सी प्राचीन मुहरें मिली हैं जिनमें से एक मुहर पर 'श्रीघटोत्कचगुप्तस्य' ऐसा खुदा हुआ है। डा० ब्लाख (Bloch) का अनुमान कि है ये मुहरें इसी घटोत्कच की हैं तथा इस गुप्तवंश के द्वितीय महाराजा श्री घटोत्कच तथा वैशाली मुहर के श्री घटोत्कच गुप्त को वे एक ही व्यक्ति मानते हैं[४]।

परन्तु डा० ब्लाख के विचार, इन दोनों मुहरों पर के नाम, समय आदि का विशेष रीति से अनुसन्धान करने पर कसौटी पर ठीक ठीक नहीं उतरते हैं। सबसे प्रथम

महाराज घटोत्कच तथा घटोत्कच गुप्त — दोनों की भिन्नता

चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में वैशाली में गुप्तों के प्रतिनिधि नियुक्त किये गये। वहाँ बहुत सी मुहरें प्राप्त हुई हैं जिनपर महादेवी ध्रुवदेवी का नाम खुदा हुआ है[५]। ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त द्वितीय की धर्मपत्नी थीं। अतः उन मुहरों पर उनका नाम (ध्रुवस्वामिनी) उनके पति ने खुदवाया होगा या उनके पुत्र गोविन्दगुप्त के द्वारा उत्कीर्ण किया गया होगा। चन्द्रगुप्त द्वितीय का समय पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में माना जाता है। अतएव वैशाली की वे मुहरें भी इसी समय में खुदवाई गई होंगी। घटोत्कच गुप्त की मुहर तथा ध्रुवस्वामिनी की मुहरें समकालीन हैं। अतएव गुप्तवंश के द्वितीय राजा घटोत्कच तथा वैशाली में प्राप्त मुहर के श्री

---

१. गुप्त क्वायन इन ब्रिटिश म्यूज़ियम, भूमिका पृ० १६।

२. हिस्ट्री आफ़ इण्डिया (१५०-३५० ई०) पृ० ११३ व ११५।

३. जे० आर० ए० एस० १६०५, पृ० ८१४।

४. आ० स० रि० १६०३-४ पृ० १०२; जे० आर० ए० एस० १६०५, पृ० १५३।

५. महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तपत्नी महाराजश्रीगोविन्दगुप्तमाता महादेवी श्री ध्रुवस्वामिनी।

घटोत्कचगुप्त के काल में बहुत अन्तर पड़ता है। अतः इन दोनों का एक होना असम्भव है।

गुप्तवंश के द्वितीय राजा ने 'महाराज' की पदवी धारण की थी। परन्तु वैशाली की मुहरों पर 'श्रीघटोत्कचगुप्तस्य' के साथ 'महाराज' शब्द नहीं मिलता। नाम के पूर्व विद्यमान 'श्री' शब्द केवल सम्मानसूचक है। इससे प्रकट होता है कि मुहरवाला 'घटोत्कचगुप्त' चन्द्रगुप्त का समकालीन, वैशाली का कोई नायक (Governor) था जिसका सम्बन्ध सम्भवतः गुप्त-परिवार से था। यह भी सम्भव है कि वह कोई गुप्तवंशीय राजकुमार हो; क्योंकि उस समय में राजकुमार भी यदा-कदा प्रदेशों के नायक रहा करते थे। इस विषय की पुष्टि ग्वालियर राज्य में स्थित तुमैन में प्राप्त एक गुप्त-शिलालेख से होती है[१]। इस लेख की तिथि गुप्त संवत् ११६ है। इस लेख मे द्वितीय चन्द्रगुप्त, कुमारगुप्त तथा घटोत्कचगुप्त का उल्लेख पाया जाता है। अतः इस घटोत्कचगुप्त का निर्दिष्ट समय गु० सं० ११६ (सन् ४३६ ई०) है। अतः इस लेख में उल्लिखित घटोत्कचगुप्त गुप्तवंशीय द्वितीय महाराज घटोत्कच से सर्वथा भिन्न है। यह घटोत्कचगुप्त कुमारगुप्त का छोटा भाई था तथा इसके राज्यकाल मे मालवा का शासक था।

गुप्तवंशीय शिलालेखों में महाराज घटोत्कच के नाम के साथ 'गुप्त' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। यदि ये दोनों नाम (महाराज घटोत्कच तथा घटोत्कचगुप्त) एक ही व्यक्ति के होते तथा एक ही व्यक्ति के लिए इनका प्रयोग किया जाता तो मुहर तथा शिलालेखों में इतनी विभिन्नता न मिलती। दोनों स्थानों में एक प्रकार का ही नाम मिलना चाहिए था। इस नाम-प्राप्ति की विषमता का अवश्य ही कोई विशेष कारण होगा। अतः इन सबल प्रमाणों से प्रत्यक्ष ही सिद्ध होता है कि गुप्तवंशीय द्वितीय राजा महाराज घटोत्कच तथा वैशाली की मुहर में प्राप्त घटोत्कचगुप्त में कोई समता नहीं है। ये दोनों भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं तथा इनकी सत्ता भिन्न भिन्न शताब्दियों में विद्यमान थी।

महाराज घटोत्कच की मुद्रा

रूस की राजधानी लेनिनग्रेड (सेंटपीटर्सबर्ग) में एक मुद्रा की उपलब्धि हुई है जिस पर गुप्त-अक्षरों में कुछ खुदा हुआ है। उस पर एक राजा की मूर्ति भी अंकित है तथा उसकी भुजा के नीचे 'घट' शब्द खुदा हुआ है। कुछ विद्वानों को सन्देह है कि सम्भवतः यह मुद्रा महाराज घटोत्कच की है।

इस राजा के विषय में हमारी जानकारी कुछ विशेष नहीं है। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि गुप्तवंशीय सर्वप्रथम राजा 'गुप्त' के अनन्तर यह गुप्त-राज्य के शासक हुए तथा इन्होंने अपनी स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण बनाये रक्खा। इसका राज्यकाल ईसा की तृतीय शताब्दी का अन्त तथा चतुर्थ शताब्दी का प्रारम्भ समझना चाहिए। इससे अधिक और कुछ ज्ञात नहीं है।

---

१. इ० ए० १९२०, पृ० ११४

(३) चन्द्रगुप्त प्रथम

यह प्रतापी राजा महाराज घटोत्कच का पुत्र था। इसने अपने प्रबल पराक्रम तथा अनुपमेय शौर्य से 'महाराजाधिराज' पदवी धारण की थी। सच पूछा जाय तो यही गुप्तवंशीय प्रथम राजा है जहाँ से इस वंश का इतिहास विस्तृत रूप से प्राप्त होता है। यह महायशस्वी राजा था। इसकी 'महाराजाधिराज' पदवी से ही सूचित होता है कि इसने अपनी प्रबल शूरता से अपने पूर्वजों की कीर्ति का विस्तार करते हुए राज्य का भी प्रचुर प्रसार किया।

वैशाली में लिच्छवियों का एक अति प्राचीन प्रजातन्त्र राज्य था। चंद्रगुप्त प्रथम ने इन्हीं सुप्रसिद्ध लिच्छवियों की वंशजा कुमारदेवी नामक राजकुमारी का पाणिग्रहण किया। यह घटना गुप्त-साम्राज्य के इतिहास में एक विशेष महत्त्व रखती है क्योंकि यहीं से गुप्तों का उत्कर्ष प्रारंभ होता है। इसी सुप्रसिद्ध घटना के अनन्तर इनके भाग्य का सितारा चमका तथा राज्यलक्ष्मी स्थायी रूप से इनके यहाँ सहचरी बनकर निवास करने लगी।

लिच्छवियों से वैवाहिक संबंध

समुद्रगुप्त (जो चंद्रगुप्त प्रथम का पुत्र था) की प्रयागवाली प्रशस्ति में उनकी माता का नाम कुमारदेवी मिलता है तथा उन्हें 'लिच्छिवी-दौहित्र' कहा गया है[1]। चंद्रगुप्त प्रथम का एक सोने का सिक्का भी मिला है जिस पर चंद्रगुप्त तथा कुमारदेवी का चित्र भी अंकित है। उस सिक्के पर 'चंद्रगुप्त तथा श्रीकुमारदेवी' लिखा भी है। उसी सिक्के की पीठ पर 'लिच्छवयः' शब्द भी उत्कीर्ण प्राप्त हुआ है। भारत-कला-भवन (काशी) में एक प्रस्तर की मूर्ति सुरक्षित है जिसमें एक पुरुष तथा स्त्री की आकृति अंकित है। कुछ लोग इसे चंद्रगुप्त प्रथम तथा कुमारदेवी की मूर्ति बतलाते हैं। इन कारणों से ऐतिहासिकों ने चद्रगुप्त प्रथम का विवाह संबंध लिच्छवी-राजकुमारी कुमारदेवी से माना है। इस विवाह के कारण के संबंध में विद्वानों में गहरा मतभेद है। लिच्छवी लोगों ने महाराजाधिराज चंद्रगुप्त प्रथम को योग्य तथा यशस्वी राजा समझकर अपनी वंशजा से इसकी शादी की या किसी युद्ध में हुई सन्धि के फलस्वरूप ऐसा किया हो। कौलहार्न महोदय का मत है कि लिच्छवी लोगों का संबंध पाटलिपुत्र से भी था[2]। कुमारदेवी के विवाह के पश्चात् चंद्रगुप्त प्रथम ने अपने संबंधी लिच्छवियों से मगध का राज्य पाया। जान एलन इस विचार से सहमत नहीं प्रतीत होते हैं। उनका कथन यह है कि पाटलिपुत्र तो पहले ही से गुप्तों के शासन में था। वहाँ पर सर्वप्रथम गुप्त राजा 'गुप्त' ने भी राज्य किया था। चंद्रगुप्त प्रथम ने वैशाली पर आक्रमण करके लिच्छवियों को पराजित किया। इसके पश्चात् लिच्छवी लोगों ने संधि के परिणाम-स्वरूप कुमारदेवी का विवाह चंद्रगुप्त से कर दिया[3]। 'कौमुदी-महोत्सव'

---

१. लिच्छवीदौहित्रस्य महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराजश्रीसमुद्रगुप्तस्य।

२. ना० इ० ए० न० ५४१।

३. एलेन—गुप्त क्वायन्स इन ब्रिटिश म्यूजियम।

नामक नाटक के आधार पर जायसवाल महोदय ने चंद्रगुप्त प्रथम का विवाह मगधकुल के वैरी लिच्छवियों से सुन्दरवर्मन् के विरोध स्वरूप माना है[१]।

चंद्रगुप्त के पिता तथा पितामह साधारण राजा थे जो पाटलिपुत्र तथा इसके समीपवर्ती प्रदेशों पर शासन करते थे। चन्द्रगुप्त प्रथम ने पराक्रम से अन्य राज्यों को जीतकर पाटलिपुत्र में फिर से एक साम्राज्य की नींव डाली तथा उस शुभ अवसर पर 'महाराजाधिराज' पदवी धारण की। उसने अपने राज्य की सीमा का विस्तार गङ्गा तथा यमुना के संगम तक किया। तिरहुत, दक्षिण विहार, अवध तथा इसके समीपवर्ती प्रदेश इसके राज्य के अन्तर्गत थे[२]। पुराणों में इसके राज्य का विस्तार इस प्रकार वर्णित है।—

राज्य-विस्तार

अनुगङ्गा प्रयाग च, साकेतं मागधांस्तथा।
एतान् जनपदान् सर्वान्, भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः[३] ॥

श्री कृष्णस्वामी ऐयङ्गर का कथन है कि लिच्छवी राजकुमारी कुमारदेवी से विवाह के पश्चात् वैशाली भी गुप्तों के राज्य के अन्तर्गत हो गया[४]। परन्तु पौराणिक वर्णनों से प्रतीत होता है कि वैशाली चन्द्रगुप्त प्रथम के राज्य के अन्तर्गत नहीं था। चन्द्रगुप्त प्रथम से पहले के गुप्त नरेशों ने पाटलिपुत्र तथा इसके समीप के प्रदेशों पर ही राज्य किया था तथा चन्द्रगुप्त प्रथम ने भी इन्हीं प्रदेशों पर शासन किया। क्योंकि चन्द्रगुप्त प्रथम की मृत्यु के पश्चात् लिखी गई सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रयागवाली प्रशस्ति में भी वैशाली नाम नहीं मिलता। अतः वैशाली को चन्द्रगुप्त प्रथम के राज्य के अन्तर्गत मानना न्यायसंगत नहीं है। सबसे पहले गुप्तवंशीय राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) के शासन-काल में वैशाली गुप्त राज्य के अन्तर्गत हुआ। यहाँ पर इस राजा ने अपना नायक (Governor) नियुक्त किया था[५]।

सम्भवतः चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने राज्याभिषेक के अवसर पर 'महाराजाधिराज' पदवी धारण की। इससे पहले गुप्त राजाओं की पदवी केवल महाराज थी। शिलालेखों में पूर्व के दोनों राजाओं की यही उपाधि उपलब्ध होती है[६]। चन्द्रगुप्त प्रथम के राजा होने के समय से ही गुप्त-काल-गणना प्रारम्भ होती है तथा यही गुप्त-संवत् के नाम से पुकारा जाता है। गुप्त-संवत् ३१९-२० ई० से प्रारम्भ होता है। गुप्त-संवत् की स्थापना चन्द्रगुप्त के जीवन की अवश्य ही महत्त्वपूर्ण घटना होगी। गुप्तवंशीय जितने शिलालेख मिले हैं उनमें जो काल-गणना दी गई है वह सब गुप्त-संवत् से की गई है।

गुप्त-संवत्

---

१. जायसवाल—हिस्ट्री आफ् इंडिया (१५०-३५० ई०) पृ० सं० ११४।

२. स्मिथ—अरली हिस्ट्री आफ् इंडिया पृ० २८०।

३. वायुपुराण—अ० ९९ श्लोक ३८३। ब्रह्मांड पुराण—३।७४।१९५।

४. कृष्णस्वामी ऐयङ्गर—स्टडीज़ इन गुप्त हिस्ट्री पृ० ४७।

५. वैशाली की मुहरें—आ० स० रि० १९०४-५।

६. फ्लीट—का० इ. इ. भा० ३. (नं० १, ४, १० तथा १३); महाराजश्रीगुप्त प्रपौत्रस्य महाराजश्रीघटोत्कच पौत्रस्य महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तपुत्रस्य।

इसी संवत् का प्रयोग इसके वंशजों ने भी किया तथा इस प्रकार इस संवत् को चिरस्थायी बनाया।

दक्षिण-भारत में प्राप्त 'कौमुदी-महोत्सव' नामक नाटक में चण्डसेन नामक एक व्यक्ति का उल्लेख मिलता है जिसने मगध के राजा सुन्दरवर्मन् से विद्रोह कर, उन्हें युद्ध में मारकर, स्वयं राजसिंहासन पर आसन जमा लिया।

चन्द्रगुप्त-चण्डसेन

कुछ समय के पश्चात् सुन्दरवर्मन् के पुत्र कल्याणवर्मन् को लोगों ने सिंहासन पर बैठाया[1] तथा चण्डसेन के विरुद्ध लड़ाई छेड़ दी। इस युद्ध के फल-स्वरूप चण्डसेन को मगध छोड़कर भाग जाना पड़ा तथा इसने भागकर अयोध्या में शरण ली[2]। जायसवाल इसी चण्डसेन की चन्द्रगुप्त प्रथम से समता करते हैं। कौमुदी-महोत्सव के इस साहित्यिक प्रमाण के अतिरिक्त ऐसा कोई भी अन्य प्रमाण नहीं मिला है जिससे इस बात की पुष्टि होती हो। ऐसी अवस्था में जायसवाल के सिद्धान्त में कितना ऐतिहासिक सत्य मिला है इसे वस्तुतः कहना कठिन कार्य है।

---

१. प्रकटितवर्णाश्रमपथमुन्मूलितचण्डसेनराजकुलम्। कौ० महो० अं० ५।

२. जायसवाल—हिस्ट्री आफ़ इंडिया पृ. ११६।

उत्कर्ष-काल

गुप्तों के आदि-काल के पश्चात् उत्कर्ष-काल का प्रारंभ होता है। यह काल सन् ३५० ई० से लेकर ४६७ ई० तक रहा। इस विस्तृत तथा महत्त्वपूर्ण काल में पाँच राजा हुए जिनके नाम निम्नलिखित हैं—१ समुद्रगुप्त, २ रामगुप्त, ३ चंद्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य), ४ कुमारगुप्त, ५ स्कंदगुप्त। इन राजाओं ने क्रमशः इस काल में राज्य किया। यह काल (उत्कर्ष-काल) गुप्त-साम्राज्य के इतिहास में विशेष महत्त्व रखता है। इस काल के इतिहास के बिना गुप्तों के इतिहास को अधूरा ही समझना चाहिए। यदि गुप्त-कालीन इतिहास को शरीर की उपमा दें तो इसे उसका प्राण ही कहना पड़ेगा। उपर्युक्त कथन के लिए अनेक कारण भी हैं। आदि-काल में गुप्त-नरेश केवल पाटलिपुत्र के आसपास ही राज्य करते थे। परन्तु इस उत्कर्ष-काल में इनका राज्य-विस्तार बहुत हुआ तथा क्रमशः गुप्त नरेशों ने एकराट् साम्राज्य स्थापित कर लिया। जो गुप्त-साम्राज्य-रूपी पौदा अभी आदि-काल में केवल अंकुरित हुआ था उसने शीघ्र ही लहलहाना प्रारंभ कर दिया। आदि-काल में अखिल-भारतीय साम्राज्य की स्थापना केवल स्वप्न मात्र थी परंतु वह इस काल में एक निश्चित सत्य हो गई। इस काल में प्रादुर्भूत समुद्रगुप्त आदि प्रबल प्रतापी राजाओं ने अपनी विजयपताका सुदूर दक्षिण में भी फहराई तथा प्रायः समस्त भारत को अपने अधीन कर लिया। जिन गुप्त-नरेशों को पहले विशेष महत्त्व नहीं मिला था, उनकी अब सारे देश में धाक सी जम गई। इस काल में चारों ओर गुप्त नरेशों का ही बोलबाला था। समस्त वस्तुओं पर इनकी छाप सी पड़ गई। इन्हीं नरेशों ने समस्त राजाओं को परास्त कर भारत में पुनः एकछत्र राज्य की स्थापना की। दंड्य को अपने दंड का पात्र बनाकर इन्होंने चारों ओर शांति-स्थापना की। इतना ही नहीं, शस्त्र से रक्षित राष्ट्र में इन्होंने शास्त्र की चिन्ता भी प्रवर्तित की। इसी काल में कालिदास आदि महाकवि भी उत्पन्न हुए जिनकी कीर्त्तिलता आज भी हज़ारों वर्षों के बाद लहलहा रही है। इस महाकवि ने संस्कृत-साहित्य को वह दिव्य दान दिया है जिसका वर्णन करना असंभव है। इस काल में इस महाकवि के द्वारा काव्य की वह महती सरिता बहाई गई जिसका स्रोत आज भी नहीं सूख सका है। महाराजाधिराज चंद्रगुप्त द्वितीय के दरबार में कवियों का सदा जमघट सा लगा रहता था तथा तत्कालीन वायुमंडल भी काव्यमय हो गया था। जहाँ देखिए वहीं कविता की धूम थी। क्यों न हो, जब स्वयं प्रभु ही इतना गुणग्राही तथा कविराज हो तब प्रजा में संसर्ग-दोष क्यों न लगे! संस्कृत का समादर जैसा इन राजाओं

ने किया वैसा किसी ने नहीं किया। कुटिल कुशानों के कुशासन में संस्कृत का सूखता स्रोत जलद रूप इन राजाओं को प्राप्त कर वेग से यह निकला। संस्कृत का समुचित प्रचार हुआ तथा इसे सम्मान के सिंहासन पर सादर बैठाया गया। इन राजाओं ने सर्वप्रथम संस्कृत में ही शिला तथा ताम्रलेख उत्कीर्ण करने की प्रथा प्रवर्तित की। लेखों की कौन कहे, सिक्कों पर भी इन्होंने संस्कृत श्लोकों को उत्कीर्ण कराया। भारतीय इतिहास में ऐसा उदाहरण अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। गुप्त नरेशों के समस्त लेख संस्कृत ही में मिलते हैं। इसी एक उदाहरण के द्वारा इनकी संस्कृत-भक्ति परायणता का पता लगाया जा सकता है।

इन गुप्त-नरेशों में आर्य सभ्यता का अभिमान कूट कूटकर भरा हुआ था। अश्वमेध यज्ञ का सम्यक् अनुष्ठान कर समुद्रगुप्त ने वेद-वर्णित विधि का प्रचार किया तथा जनता में इन कार्यों के प्रति सम्मान उत्पन्न किया। समस्त भारत में दिग्विजय कर इसने भारतीय पुरातन प्रथा को क़ायम किया। इस प्रकार इन्होंने आर्य सभ्यता तथा संस्कृति का प्रचुर प्रचार किया।

साहित्य के सिवा इन नरेशों ने ललित कला को प्रोत्साहन दिया। गुप्तकालीन शिला-तक्षण कला के नमूने आज भी सारनाथ म्यूज़ियम को शोभा बढ़ा रहे हैं तथा तत्कालीन कुशल कलाकारों के हाथ की सफाई को डंके की चोट आज भी बतला रहे हैं। गुप्त-कालीन चित्रकारों की तूलिका किस कुशल कलाविद को आश्चर्य के चक्कर में नहीं डाल देती? कहने का तात्पर्य यह है कि इस काल में राज्य-विस्तार तथा ललित कला का प्रचार अलौकिक रीति से हुआ।

चन्द्रगुप्त प्रथम की मृत्यु के पश्चात् उसका सुयोग्य पुत्र समुद्रगुप्त राज्यसिंहासन पर बैठा। संसार के दिग्विजयी राजाओं की नामावली में इसका स्थान एक विशेष महत्त्व रखता है। यह बड़ा ही पराक्रमी, शूर तथा रणकुशल राजा था। शत्रु रूप सर्पों के लिए इसका नाम गारुडिक मन्त्र था। अपने प्रबल पराक्रम तथा विजयिनी बाहुओं के द्वारा इसने न केवल उत्तर भारत के बल्कि दक्षिणापथ के राजाओं को भी परास्त कर उन्हें 'करदीकृत' बनाया था। मगध राज्य की टिमटिमाती दीपशिखा को प्रचण्ड ज्वाला के रूप में परिणत करने का श्रेय इसी को है। इसी ने मगध का यशःस्तम्भ सुदूर दक्षिण में गाड़ा। इसने समस्त भारत पर दिग्जय कर किस नरेश को वैतसी वृत्ति नहीं सिखलाई? किस राजा ने इसकी निशित तलवार की धार के आगे अपना सिर स्वेच्छा से समर्पित नहीं किया? इस विश्व-विजयिनी वीरता से विभूषित होने के सिवा इसे सरस्वती ने भी अपना वरद पुत्र बनाया था। जिस प्रकार इसकी रण-चातुरी शत्रुओं के हृदय में भय का संचार कर देती थी उसी प्रकार इसकी काव्य-मर्मज्ञता सहृदय रसिकों को आनन्द में मग्न कर देती थी। यह स्वयं एक महान् कवि तथा कवियों का गुणग्राही था। संगीत-शास्त्र से इसे विशेष अनुराग था तथा वीणा बजाने में यह कुशल समझा जाता था। अपनी दान वृत्ति के द्वारा इसने अनेक दरिद्रों की दरिद्रता को दरिद्र कर दिया। यज्ञ-यागादि का अनुष्ठान कर इसने अपनी धार्मिक मनोवृत्ति का परिचय दिया। इस प्रकार

समुद्रगुप्त का चरित्र

समुद्रगुप्त केवल एक विजयी वीर ही नहीं था प्रत्युत वह प्रतिभा-सम्पन्न कवि, वीणावादन-कुशल तथा दानी भी था।

विद्या-प्रेम

समुद्रगुप्त बहुत योग्य पुरुष था। इसकी योग्यता का पता इसी से चल सकता है कि अनेक पुत्रों के तथा इससे ज्येष्ठ पुत्र के होते हुए भी इसके पिता चन्द्रगुप्त प्रथम ने इसकी अलौकिक योग्यता पर मुग्ध होकर, अपने दरबारियों के बीच में, स्नेह से व्याकुलित और आनन्दाश्रु से भरे चक्षुओं से इसे देखकर तथा पुलकित-गात्र होकर 'पुत्र! उर्वीमेवं पाहि' ऐसा कहा था[1]। समुद्रगुप्त को विद्या से बड़ा अनुराग था। यह एक साधारण पढ़ा-लिखा पुरुष ही नहीं था परन्तु प्रगाढ़ विद्वान् था। सरस्वती इसकी जिह्वा पर निवास करती थी। यह काव्यकला में अत्यन्त प्रवीण था तथा अन्य शास्त्रों में भी पारंगत पण्डित था। कवि हरिषेण ने इसकी प्रयागवाली प्रशस्ति में इसके लिए 'कविराज' शब्द का प्रयोग किया है[2]। महाकवि राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमांसा में लिखा कि अनेक प्रकार के कवि होते हैं, इनमें 'कविराज' का स्थान सबसे श्रेष्ठ है। 'कविराज' संसार में कोई विरला पुरुष ही होता है[3]। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि समुद्रगुप्त एक श्रेष्ठ कवि था। 'कविराज' की उपाधि प्राचीन काल में बड़े बड़े कवियों को दी जाती थी। साधारण कोटि के कवि इस उपाधि के पात्र नहीं थे। राजशेखर ने इन कवियों के लिए 'जगति कतिपये' लिखा है। अतः समुद्रगुप्त के महान् कवि होने में कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता। अनेक काव्यों के निर्माण अथवा कविता करने से यह विद्वान् पुरुषों का उपजीव्य भी बन गया था[4]। अवश्य ही इसकी सरस कविता रसिकों के हृदय का हार बनती होगी। अवश्य ही इसकी सूक्ति सहृदयों के हृदय में गुदगुदी पैदा कर देती होगी। इसी लिए हरिषेण ने सत्य ही लिखा है कि इसका 'अध्येयः सूक्तिमार्गः कविमतिविभवोत्सारणं चापि काव्यम्'[5]। अवश्य ही महाराज समुद्रगुप्त एक प्रतिभा-सम्पन्न कवि था। तभी तो इसकी सूक्तियों के अध्ययन का उपदेश दिया गया है। वस्तुतः इसकी कविता आदर्श-स्वरूप थी तथा कविमन्य तथा पण्डितम्मन्य पुरुषों को रिझाती थी। इस नरेश का जीवन ही काव्यमय हो गया था। इसने अपने समस्त शिलालेख संस्कृत

---

१. आर्यो हीत्युपगुह्य भावपिशुनैरुत्कर्णितै रोमभिः,
सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्यकुलजम्लानाननोद्वीक्षितः।
स्नेहव्याकुलितेन बाष्पगुरुणा तत्त्वेक्षिणा चक्षुषा,
यः पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्येवमुर्वीमिति ॥—समुद्रगुप्त की, प्रयाग की प्रशस्ति।

२. विद्वज्जनोपजीव्यानेककाव्यक्रियाभिः प्रतिष्ठितकविराजशब्दस्य।—वही।

३. नैदिष्टा कविराजता ॥—राजशेखर, काव्यमीमांसा।

४. विद्वज्जनोपजीव्यानेककाव्यक्रियाभिः।—प्रयाग की प्रशस्ति।

५. वही।

(गद्य तथा पद्य दोनों) में लिखवाये। इसके अलावा इसने अपने सिक्कों पर भी संस्कृत में श्लोकबद्ध लेख खुदवाये हैं[१]। यह घटना समुद्रगुप्त की सतत-काव्य-भक्ति का ज्वलन्त उदाहरण है। संसार के इतिहास में आज तक सिक्के पर किसी भी राजा का लेख छन्दोबद्ध रूप में नहीं मिलता। इसी लिए हरिषेण ने इसे कवितारूपी राज्य का भोग करनेवाला लिखा है[२]।

काव्य की कोमल-कान्त-पदावली से पूरित मानस में कर्कश तथा कठोर अन्य शास्त्रों का प्रवेश निषिद्ध था, ऐसी बात नहीं थी। काव्यकला का पारगत पण्डित होने के सिवा उसकी तीक्ष्ण बुद्धि कठिन शास्त्रों के मर्मस्थल को बेध देती थी। वह शास्त्रों की गहराई तक पहुँचता था। वह शास्त्रों के अर्थ तथा उनके तत्त्व को भली भाँति जानता था इसी लिए हरिषेण ने उसे शास्त्र-तत्त्वार्थ का भर्ता लिखा है[३]। वास्तव में इसका प्रगाढ़ पाण्डित्य शास्त्रों के तत्त्वों को भेदन करनेवाला था[४] तथा इसकी पैनी बुद्धि शास्त्रीय ग्रन्थियों को कुतरनेवाली थी। इसी अपनी विश्लेषात्मिका बुद्धि के कारण इसका चित्त सर्वदा प्रसन्न रहता था[५]। इससे स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त की काव्यकला-चातुरी जिस प्रकार सहृदय के हृदय को चुरानेवाली तथा उन्हें काव्य-सागर में गोता खिलानेवाली थी उसी प्रकार उसकी पैनी और तीक्ष्ण बुद्धि कठिन शास्त्रों की तह तक पहुँचनेवाली थी तथा उनके गूढ़ तत्त्वों को भेदन करनेवाली थी। जिस प्रकार उसके मानस में काव्य-समुद्र उमड़ा पड़ता था उसी प्रकार उसके मस्तिष्क में शास्त्र तत्त्वभेदि बुद्धि की कमी नहीं थी, इस प्रकार समुद्रगुप्त के हृदय तथा मस्तिष्क—दोनों—का प्रचुर विकास हुआ था।

शास्त्र-तत्त्व-भेदन

परम काव्य-प्रेमी समुद्रगुप्त को संगीत से भी प्रेम था, यह कथन व्यर्थ ही है। ऐसे काव्य-प्रेमी का संगीत-प्रेमी होना उचित तथा स्वाभाविक ही है। यदि संगीत विद्या काव्य की सहचरी कही जाय तो कुछ भी अत्युक्ति नहीं होगी। काव्य तथा संगीत का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। अतः काव्यभक्त समुद्रगुप्त का संगीत-प्रेमाभाव ही आश्चर्य का विषय होता। हरिषेण ने इसका वर्णन करते हुए लिखा है कि इसने अपनी गन्धर्व-कला से देवताओं के गुरु तुम्बुरु तथा नारद को लज्जित कर दिया[६]। स्वर्गलोक में तुम्बुरु तथा नारद बहुत बड़े संगीतज्ञ

संगीत-प्रेम

---

१. एलन-गुप्त क्वायन्स। पृ० २५। बनर्जी—प्राचीन मुद्रा।

२. सत्काव्यश्रीविरोधान् बुधगुणितगुणाज्ञाहतानेव कृत्वा,
विद्वल्लोके वि (..) स्फुटबहुकविताकीर्त्तिराज्यं भुनक्ति ॥—प्रयाग की प्रशस्ति।

३. शास्त्रतत्त्वार्थभर्तुः।—वही।

४. वैदुष्यं तत्त्वभेदि।—वही।

५. प्रज्ञानुषङ्गोचितसुखमनसः।—वही।

६. निशितविदग्धमतिगान्धर्वललितैर्व्रीडितत्रिदशपतिगुरुतुम्बुरुनारदादेः।—वही।

समझे जाते हैं। ये दोनों 'वीणा' के बड़े भारी बजवैया माने जाते हैं। परन्तु-हरिषेण के कथनानुसार समुद्रगुप्त ने वीणा-वादन में इन दोनों को लज्जित कर दिया था। नारद जैसे वीणा-वाद्य-कुशल को लज्जित करना कोई साधारण खेल नहीं। अवश्य ही समुद्रगुप्त वीणा बजाने में बड़ा ही कुशल था, अन्यथा हरिषेण उसके लिए ऐसी शब्दावली का प्रयोग न करता। समुद्रगुप्त के कुछ सोने के सिक्के मिले हैं जिनमें एक मंच के ऊपर बैठे हुए राजा की मूर्ति अंकित है। राजा का बदन नङ्गा है तथा वह हाथ में वीणा लिये हुए है। इसके एक ओर 'महाराजाधिराज समुद्रगुप्त' लिखा है[1]। इससे इसके संगीत-प्रेम का पूर्ण परिचय मिलता है। इस प्रकार समुद्रगुप्त जैसा काव्य का पुजारी था वैसा ही वह संगीत का परम प्रेमी था।

जिस प्रकार इसकी कीर्ति के लिए कोई स्थान अगम्य नहीं था उसी प्रकार इसके रथ के लिए कोई स्थान दुर्गम्य नहीं था। काव्यार्थशीलन में ही इसकी चातुरी सीमित नहीं थी बल्कि वह रणाङ्गण में भी अपना अजीब जौहर दिखाती थी। यह नरेश इतना प्रतापी था कि जिस दिशा में जाने पर सूर्य का तेज कम हो जाता है, उसकी प्रभा क्षीण हो जाती है, उसी दिशा में जाने पर इसका तेज और भी चमक उठा, मानों महाकवि कालिदास ने रघुवंश में रघु के व्याज से इसी सम्राट् के विषय में निम्नांकित विजय-वर्णन लिखा था—

> दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि।
> तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः, प्रतापं न विषेहिरे ॥

यदि गुप्तों के छोटे राज्य को साम्राज्य के रूप में परिणत करने का किसी को श्रेय था तो वह समुद्रगुप्त की फड़कती हुई भुजाओं को। समुद्रगुप्त का हज़ारों कोसों तक इतना विस्तृत दिग्विजय ही उसकी अद्भुत वीरता तथा अतुल पराक्रम का ज्वलन्त उदाहरण है। उसने सैकड़ों लड़ाइयाँ लड़ीं, हज़ारों को यमलोक का टिकट दिलाया तथा लाखों को अपनी तलवार का शिकार बनाया। इसकी देह पर अनेक-व्रण बने हुए थे जो इसकी रण-प्रियता के नमूने थे। हरिषेण ने प्रयागवाली प्रशस्ति में समुद्रगुप्त की वीरता का वर्णन इस प्रकार किया है—"तस्य विविधसमरशतावतार-दक्षस्य स्वभुजबलपराक्रमैकबन्धोः पराक्रमाङ्कस्य परशुशरशंकुशक्ति ....अनेक प्रहरणविरूढाकुलव्रणशताङ्कशोभासमुदयोपचितकान्ततरवर्ष्मणः" इत्यादि। इससे समुद्रगुप्त की युद्धप्रियता तथा वीरता स्पष्ट सिद्ध होती है। समुद्रगुप्त के सिक्कों पर खुदी हुई पदवियाँ तथा उन पर अंकित इसकी मूर्ति भी इसकी अद्भुत वीरता का जीता जागता उदाहरण है। उन सिक्कों पर समुद्रगुप्त के लिए 'पराक्रमः, व्याघ्रपराक्रमः, कृतान्तपरशु' आदि पदवियाँ दी गई हैं। सिक्कों पर अंकित उसकी मूर्ति देखने से ज्ञात होता है मानों वीर-रस साक्षात् शरीर धारण किये हो। वास्तव में समुद्रगुप्त का पराक्रम अद्वितीय था। हरिषेण ने समुद्रगुप्त की प्रयाग वाली प्रशस्ति में उसके सम्पूर्ण चरित्र का बड़ा ही अच्छा

---

१. देखिए—प्लेट नं० १ (वीणा चित्र)

खाका खींचा है। अतः मैं, हरिषेण ही के शब्दों में, समुद्रगुप्त का चरित्र नीचे देता हूँ। जिससे उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व आँखों के सामने नाचने लगे—

"तस्य विविधसमरशतावतरणदक्षस्य स्वभुजबलपराक्रमैकबन्धोः पराक्रमाङ्कस्य परशुशरशंकुशक्तिप्रासासितोमरभिंदिपालनाराचवैतस्तिकाद्यनेकप्रहरणविरूढाकुलमणशताङ्कशोभासमुदयोपचितकान्ततरवर्ष्मणः... ... ...आर्यावर्तराजप्रसभोद्धरणोद्वृत्तप्रभावमहतः परिचारकीकृतसर्वाटविकराजस्य... ... सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमनपरितोषितप्रचण्डशासनस्य......निखिलभुवनविचरणशान्तयशसः... ...बाहुवीर्यप्रसरधरणिबन्धस्य पृथिव्यामप्रतिरथस्य सुचरितशतालंकृतानेकगुणगणोत्सिक्तिभिश्चरणतलप्रमृष्टान्यनरपतिकीर्तेः, साध्वसाधूदयप्रलयहेतुपुरुषस्याचिन्त्यस्य, भक्त्यवनतिमात्रग्राह्यमृदुहृदयस्य, अनुकम्पावतोऽनेकगोशतसहस्रप्रदायिनः, कृपणदीनानाथातुरजनोद्धरणमंत्रदीक्षाभ्युपगतमनसः, समिद्धस्य, विग्रहवतो, लोकानुग्रहवतो,......सुचिरस्तोतव्यानेकाद्भुतोदारचरितस्य, लोकसमयक्रियानुविधानमात्रमानुषस्य, लोकधाम्नो, देवस्य.........।

दृष्ट्वा कर्म्माण्यनेकान्यमनुजसदृशान्यद्भुतोभिन्नहर्षा।
वीर्य्योत्तप्ताश्च केचित् शरणमुपगता यस्य वृत्ते प्रणामे॥
सङ्ग्रामेषु स्वभुजविजितानित्यमुच्छ्रापकाराः।
धर्मप्राचीरबन्धः शशिकरशुचयः कीर्तयः सप्रताना,
वैदुष्यं तत्त्वभेदि ... ...।
यस्योर्जितं समरकर्म पराक्रमेद्धम्,
......यशः सुविपुलं परिबभ्रमीति।
......णि यस्य रिपवश्चरणोर्जितानि,
स्वप्नान्तरेष्वपि विचिन्त्य परित्रसन्ति।

दान-शीलता तथा उदार चरित्र

बहुधा ऐसा देखने में आता है कि रण-विजयी राजाओं का स्वभाव क्रूर होता है तथा उनके हृदय को करुणा और दया स्पर्श ही नहीं करतीं। वे इस अलौकिक गुण से सर्वथा वञ्चित रहते हैं। परन्तु समुद्रगुप्त के विषय में यह बात नहीं थी। उसके वीररस से परिपूरित हृदय में भी करुणा को स्थान था तथा क्षात्रधर्म में दीक्षित होने पर भी वह दान दया की दिव्य विभूति से वञ्चित नहीं था।

उपरिलिखित उद्धरण में आये हुए 'साध्वसाधूदयप्रलयहेतुपुरुषस्य, मृदुहृदयस्य, अनुकम्पावतो, अनेकगोशतसहस्रप्रदायिनः, कृपणदीनानाथातुरजनोद्धरणमंत्रदीक्षाभ्युपगतमनसः' आदि विशेषण इसी कथन के पोषक हैं। समुद्रगुप्त ने अपने हाथ से अनेक लक्ष गौओं का दान किया था। उसने अश्वमेध यज्ञ के अन्त में दानार्थ सोने के सिक्के भी ढलवाये थे। ग़रीबों की आवाज़ तथा दुःखियों के आर्तनाद ने सदा ही उसका ध्यान आकर्षित किया था। वह बड़ा ही दयालु था। उसके हृदय में करुणा की नदी बहती थी। साधु के उदय तथा असाधु के प्रलय का वह कारण था। कृपण, दीन, अनाथ तथा आतुर लोगों के उद्धार के लिए उसने मानों मंत्रदीक्षा ली थी तथा इसके लिए वह सर्वदा कटिबद्ध रहता था। किसी अबला की आह से उसका हृदय फट जाता

था तथा निर्बल की गरम साँस से उसका हृदय मोम सा गल जाता था। बड़े होते हुए भी ग़रीबों पर कृपादृष्टि रखने में ही बड़ों की महत्ता है। स्वयं अपराजेय शत्रु को भी धूल में मिला देने की सामर्थ्य रखते हुए भी निर्बल पर दया करना महत्ता का सूचक है। ये गुण, जो वास्तव में मनुष्य को महान् बनानेवाले हैं, सम्पूर्णतया समुद्रगुप्त में वर्त्तमान थे।

समुद्र का व्यक्तित्व महान् था। वह पराक्रमी राजा, सूरमा योद्धा, कुशल राजनीतिज्ञ प्रसिद्ध संगीतज्ञ और मर्मज्ञ सहृदय कविराज था तथा उसपर भी था कृपणदीनानाथातुरजनोद्धरण-मंत्र में दीक्षित। अब क्या चाहिए? उसकी कीर्त्ति-पताका समस्त भारत पर फहरा रही थी। उसके यशःस्तम्भ उसकी वीरता के सूचक थे। प्रबल से प्रबल शत्रु को भी उसने परास्त किया। उसने अनेक—एक-दो नहीं सैकड़ों—लड़ाइयाँ लड़ीं, शत्रुओं को पछाड़ा, स्वयं रण में घायल भी हुआ परन्तु उसने कभी शत्रु को पीठ नहीं दिखलाई। अपने इतने विस्तृत दिग्विजय में समुद्रगुप्त को कभी हार नहीं खानी पड़ी। वह शत्रुओं को शिकस्त देना जानता था, खाना नहीं जानता था। वीरता उसके स्वभाव का प्रधान गुण था। वह ऐसा प्रचण्ड राजा था जिसकी प्रसन्नता में लक्ष्मी का, पराक्रम में विजय का तथा क्रोध में मृत्यु का निवास था[1]। राजनीति के शुष्क वातावरण में रहते हुए भी उसका हृदय काव्यरस से सर्वदा आप्लावित रहता था। इस प्रकार से उसमें लक्ष्मी (राज्यलक्ष्मी) तथा सरस्वती का अद्भुत निवास था। कालिदास ने मानो राजा के मिस से इसी का वर्णन निम्नप्रकार से किया था—

निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थं, अस्मिन् द्वयं श्रीश्च सरस्वती च।

संगीतकला की निपुणता तथा करुणा, दया, दान आदि गुणों ने 'हेम्नः परमामोदः' का काम किया था। यद्यपि इसका पिता प्रतापशाली राजा था परन्तु इसने अपने अलौकिक गुणों से अपने पिता के विषय में प्रजाजन की उत्कण्ठा को सदा के लिए शान्त कर दिया[2]। इस प्रकार से जितने मनुष्य-सुलभ गुण हैं वे सब हमें राशिभूत होकर समुद्रगुप्त में मिलते हैं।

समुद्रगुप्त का व्यक्तित्व

प्रसिद्ध ऐतिहासिक डा० स्मिथ ने समुद्रगुप्त की तुलना प्रसिद्ध फ्रेंच विजेता नेपोलियन से की है[3] परन्तु यह तुलना समुचित नहीं प्रतीत होती। इसमें सन्देह नहीं कि नेपोलियन एक प्रबल विजेता था, यह भी सत्य है कि इसने समस्त यूरोप में कुछ दिन के लिए हड़कम्प सा मचा दिया था और इसमें भी कुछ सन्देह नहीं कि उसके प्रताप से समस्त यूरोपीय राष्ट्र काँप उठे थे परन्तु इन सब गुणों के होते हुए भी कुछ ऐसी बातें थीं जो समुद्रगुप्त को नेपोलियन से पृथक् करती हैं।

नेपोलियन से तुलना

---

१. यस्य प्रसादे पद्मास्ते, विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे, सर्वतेजोमयो नृपः॥ —मनुस्मृति।

२. मन्दोत्कण्ठाः कृतास्तेन, गुणाधिकतया गुरौ।
फलेन सहकारस्य, पुष्पोद्गम इव प्रजाः॥ कालिदास—रघुवंश, सर्ग ४।

३. स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री आफ़ इंडिया, पृ० १७२

नेपोलियन में घमण्ड भरा हुआ था। उसे विश्वास था कि उसे हराने की शक्ति किसी में है ही नहीं। अतः उसने जिस देश पर विजय प्राप्त की वहाँ बड़ा ही अत्याचार किया। इसके ठीक विपरीत, समुद्रगुप्त ने अपने विजित राजाओं को उनका राज्य लौटा दिया तथा उनपर किसी प्रकार का अत्याचार नहीं किया। नेपोलियन का सारा गर्व वाटरलू की लड़ाई में चूर्ण हो गया तथा वाटरलू की जो हूक उसके हिये में समाई वह फिर कभी नहीं निकली। सेण्ट हेलेना की बुरी हवा का उसे मृत्यु-पर्यन्त विस्मरण नहीं हुआ तथा वहाँ वह जीता हुआ भी नरक का दुःख भोग रहा था। उसकी मृत्यु, बन्दी की हालत में, अपने देश से दूर हुई। परन्तु समुद्रगुप्त के जीवन में कभी दुःखद घटना नहीं हुई। अपने इतने विस्तृत दिग्विजय में भी उसने परास्त होने का नाम नहीं जाना। वह छोटे राज्य का राजकुमार होकर पैदा हुआ तथा एकछत्र सम्राट् होकर मरा। उसकी मृत्यु सुख तथा सम्मान से हुई। अतः नेपोलियन से समुद्रगुप्त की तुलना करना नितान्त अनुचित है। सच तो यह है कि समुद्रगुप्त का व्यक्तित्व नेपोलियन से बहुत ही बड़ा था। संसार के इतिहास में बहुत कम सम्राट् ऐसे मिलेंगे जिनसे इसके व्यक्तित्व की तुलना की जा सके।

समुद्रगुप्त के जीवन की सबसे बड़ी घटना उसका दिग्विजय है। प्रयाग की प्रशस्ति में इस समस्त भारत पर विजय का वर्णन सुन्दर शब्दों में दिया गया है। इस विजय-यात्रा में समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त के नव राजाओं तथा दक्षिणापथ के बारह नरेशों को परास्त किया। मध्य भारत के समस्त जङ्गल के राजाओं को अपना सेवक बनाया और सीमा प्रदेश के शासनकर्ताओं तथा गण राज्यों को उसने (समुद्र ने) कर देने के लिए बाधित किया। इस विजय के कारण समुद्रगुप्त का प्रताप ऐसा फैला कि सुदूर देशों के नरेशों (सिंहल तथा कुषाण राजा) ने उससे मैत्री स्थापित की। इस प्रकार चारों दिशाओं में विजय पताका फहराकर समुद्रगुप्त ने एकछत्र साम्राज्य स्थापित किया।

समुद्रगुप्त का दिग्विजय काल-क्रम

प्रयाग का प्रशस्ति-लेखक हरिषेण समुद्रगुप्त का सेनानायक तथा सान्धिविग्रहिक मंत्री था। अतएव वह समुद्र के दिग्विजय से पूर्णतया परिचित होगा, इसमें किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता। सेनापति द्वारा दिग्विजय का वर्णन अक्षरशः सत्य होगा। यद्यपि प्रयाग के लेख में विजित राजाओं की नामावली दक्षिणापथ के राजाओं से प्रारम्भ होती है परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि समुद्रगुप्त ने दक्षिण के नरेशों पर सर्वप्रथम आक्रमण किया। डुब्र्यूरिल साहब का मत है कि हरिषेण ने समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा का वर्णन काल-क्रम के अनुसार किया है[1]।

'कौमुदी-महोत्सव' के आधार पर जायसवाल यह सिद्धान्त स्थिर करते हैं कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने (चण्डसेन) पाटलिपुत्र से हारकर अयोध्या में शरण ली। वहीं से उसके पुत्र समुद्रगुप्त ने पुनः अपने राज्य की स्थापना की[2]। समुद्रगुप्त को अपने

---

१. एंशेंट हिस्ट्री आफ डेकेन पृ० ३२

२. जायसवाल हिस्ट्री आफ इंडिया (१५०-३५०) पृ० १३२-४०।
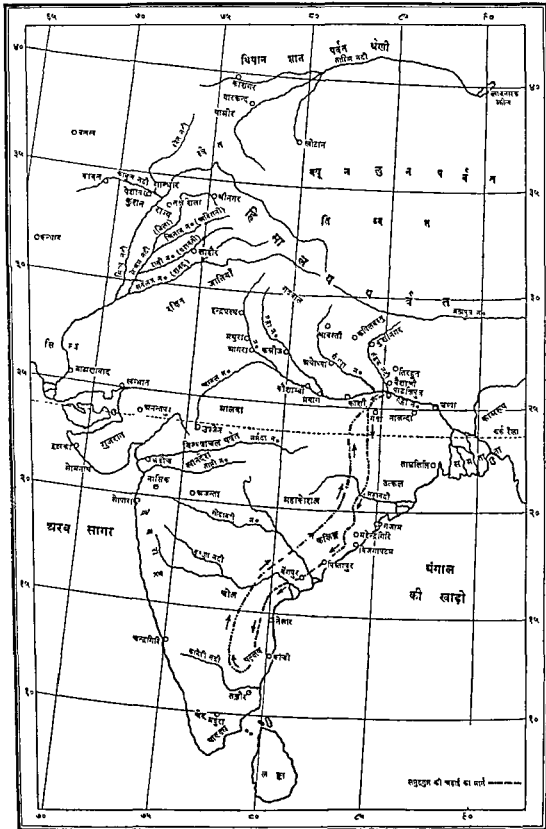
समुद्रगुप्त का दिग्विजयमार्ग

दिग्विजय में तीन युद्ध करने पड़े। सर्वप्रथम ई० स० ३४४ के लगभग उत्तरी भारत में उसे एक सामान्य लड़ाई लड़नी पड़ी, तत्पश्चात् उसने दक्षिण भारत पर आक्रमण किया। यह युद्ध दूसरे ही वर्ष (ई० स० ३४५-४६) समाप्त हुआ जिसमें बारह शत्रुओं ने भाग लिया था। समुद्रगुप्त ने इन समस्त राजाओं पर विजय प्राप्त किया। दक्षिण की विजय कर समुद्र को उत्तरी भारत में पुनः एक बहुत बड़ी लड़ाई लड़नी पड़ी। यह युद्ध एरण के समीप हुआ जिसमें मालवा से लेकर पूर्वी पंजाब तक के समस्त राजा लड़े तथा परास्त हुए। जायसवाल का मत है कि इसी युद्ध में समुद्रगुप्त ने वाकाटक-सीमा में प्रवेश कर उनके शासनकर्ता रुद्रसेन प्रथम को मार डाला।

उत्तरी भारत का प्रथम युद्ध बहुत सामान्य था अतएव उत्तर में अनेक बलवान् शत्रुओं के रहते हुए समुद्रगुप्त का दक्षिण पर आक्रमण करना राजनीति के विरुद्ध ज्ञात होता है। अतएव यह मानना युक्तिसङ्गत होगा कि प्रथम समुद्रगुप्त ने उत्तरी भारत पर विजयध्वजा फहराई तदनन्तर दक्षिणापथ की ओर अपनी दृष्टि फेरी। यहाँ पर काल-क्रम के अनुसार समुद्र के विजय का वर्णन किया जायगा।

प्राचीन समय में विन्ध्य तथा हिमालय के बीच की पुण्यभूमि का नाम आर्यावर्त था। समुद्रगुप्त ने समस्त उत्तरी भारत के राजाओं को परास्त कर उनके राज्य को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। इस प्रकार वह गुप्त नरेश एकछत्र राज्य स्थापित करने में सफल हुआ[1]। राजनीति में ऐसे विजेता को 'असुरविजयी' के नाम से पुकारते हैं। प्रयाग की प्रशस्ति में आर्यावर्त्त के राजाओं की निम्नलिखित नामावली दी है:—

आर्यावर्त्त का विजय

(१) रुद्रदेव
(२) मतिल
(३) नागदत्त
(४) चन्द्रवर्म
(५) गणपति नाग
(६) नागसेन
(७) अच्युत
(८) नन्दि
(९) बलवर्मा

इन्हीं नव राजाओं को समुद्रगुप्त ने परास्त किया। प्रशस्ति में 'आदि अनेक आर्यावर्त-राज' के प्रयोग से ज्ञात होता है कि समुद्र के द्वारा कुछ और भी राजा पराजित किये गये जिनके नाम का हरिषेण ने उल्लेख नहीं किया है। ये नरेश कौन थे, इस विषय में कुछ मतभेद है। रैपसन का अनुमान है कि ये नव राजा विष्णुपुराण में उल्लिखित नव नाग नरेश हैं। इन नागवंशी नरेशों ने एक सम्मिलित राज्य स्थापित किया था जिसे समुद्रगुप्त ने हरा कर अपने राज्य में मिला लिया[2]। परन्तु इस मत के पोषक प्रमाण नहीं मिलते। सच तो यह है कि ये नव राजा भिन्न भिन्न स्थानों के शासक थे। इन राजाओं के व्यक्तित्व के विषय में जितने ऐतिहासिक तथ्यों का पता लगा है, उनका यहाँ पर सप्रमाण क्रमशः विवेचन किया जायगा।

---

१. अनेकआर्यावर्त्तराजप्रसभोद्धरणोद्वृत्तप्रभावमहतः। —फ्लीट—गु० ले० नं० १

२. जे० आर० ए० एस० १८९७ पृ० ४२१।

(१) रुद्रदेव :—आर्यावर्त के पराजित नरेशों में रुद्रदेव का नाम सर्वप्रथम उल्लिखित है। इसके समीकरण में बहुत मतभेद है। जायसवाल तथा दीक्षित इसका सम्बन्ध वाकाटक वंश से बतलाते हैं। उनके कथनानुसार रुद्रदेव तथा वाकाटक राजा रुद्रसेन प्रथम एक ही व्यक्ति थे[१]। इनके मत को स्वीकार करने में बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। प्रशस्ति के राजा रुद्रदेव की गणना आर्यावर्त के राजाओं में की गई है परन्तु वाकाटक राजा रुद्रसेन प्रथम दक्षिणापथ का शासक था[२]। समुद्रगुप्त ने समस्त उत्तरी भारत के राजाओं को परास्त कर उनके राज्य को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। यदि वाकाटक वंश का पराजित होना सत्य होता तो वाकाटक राज्य को गुप्त-साम्राज्य के अंतर्गत होना चाहिए; परन्तु समुद्रगुप्त के समय में गुप्त राज्य एरण (मालवा) के दक्षिण में विस्तृत नहीं था। ऐसी अवस्था में तथा अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में रुद्रदेव का समीकरण वाकाटक राजा रुद्रसेन प्रथम से नहीं किया जा सकता। रुद्रदेव के विषय में अधिक बातें ज्ञात नहीं हैं। आर्यावर्त के एक शासक होने की बात स्वयं सिद्ध है[३]।

(२) मतिल :—इस राजा के विषय में अभी तक कोई निश्चित मत स्थिर नहीं है। विद्वान् इसे संयुक्त प्रांत में बुलंदशहर के समीप का शासनकर्त्ता मानते हैं जहाँ पर इसकी नामांकित एक मुहर मिली है[४]। जान एलन इस विचार से सहमत नहीं हैं। इस मुहर पर नाम के साथ राजा की उपाधि नहीं मिलती है, अतएव उनका (एलन का) अनुमान है कि प्रशस्ति में उल्लिखित मतिल तथा मुहर के मटिल दो भिन्न भिन्न व्यक्ति थे[५]। जायसवाल महोदय का कथन है कि मतिल अंतरवेदी में शासन करनेवाला नागवंशी नरेश था[६]।

(३) नागदत्त :—प्रयाग की प्रशस्ति में तीसरा नाम इसी का मिलता है। मथुरा के समीप बहुत से सिक्के मिले हैं जिनके नाम के अंत में 'दत्त' आता है। नागदत्त के नामांत में दत्त होने के कारण बहुत संभव है कि यह राजा भी मथुरा के आसपास राज्य करता हो, परन्तु अभी तक दत्त कुल के साथ इसका निश्चित सम्बन्ध ज्ञात नहीं है। जायसवाल इसे ई० स० ३२८-३४८ के लगभग नागवंश का शासक मानते हैं[७]।

(४) चन्द्रवर्म :—हरिषेण ने समुद्रगुप्त से पराजित नरेशों में चन्द्रवर्म को चौथा स्थान दिया है। इसके समीकरण में बहुत मतभेद है। पूर्वी बंगाल के बाँकुड़ा ज़िले में सुसुनियाँ पर्वत पर एक शिलालेख मिला है जिसमें चन्द्रवर्म का नाम उल्लिखित है।

---

१. जायसवाल—हिस्ट्री आफ् इंडिया (१५०-३५० ई०) पृ० ७७।

२. इ० हि० क्वा० भाग १ पृ० २५४।

३. प्रयाग की प्रशस्ति—गु० ले० नं० १।

४. इ० ए० भाग १८ पृ० २८९।

५. एलन—गुप्त क्वायन भूमिका पृ० ३३।

६. जायसवाल—हिस्ट्री आफ् इंडिया (१५०-३५०) पृ० ३६।

७. वही पृ० ३६।

उससे ज्ञात होता है कि वह पुष्करण नामक स्थान का शासक था[१]। डा० हरप्रसाद शास्त्री पुष्करण की समता मारवाड़ में स्थित पोकरण स्थान से बतलाते हैं। इसी आधार पर उनका अनुमान है कि चन्द्रवर्म मारवाड़ का शासक था[२]। डा० भण्डारकर इस अनुमान से सहमत नहीं हैं। डा० चैटर्जी के कथनानुसार पुष्करण नामक स्थान बाँकुड़ा ज़िले में स्थित है[३]। अतएव भण्डारकर प्रयाग की प्रशस्ति में उल्लिखित चन्द्रवर्म तथा सुसुनियाँ में उल्लिखित बाँकुड़ा के शासक को एक ही व्यक्ति मानते हैं[४]। परन्तु जायसवाल इसे पूर्वी पंजाब का शासक मानते हैं[५]। इस प्रकार इस राजा के विषय में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

(५) गणपति नाग :— इसके विषय में निश्चित बातें ज्ञात हैं। यह नागवंशी राजा था। यह नागों की राजधानी पद्मावती में ई० स० ३१०—३४४ तक शासन करता था[६]। इस राजा के सिक्के भी नारवार तथा विसनगर के समीप मिले हैं[७]। डा० भण्डारकर का मत है कि सम्भवतः यह राजा नागों की विदिशा शाखा पर शासन करता था जिसका वर्णन विष्णु पुराण में मिलता है[८]।

(६) नागसेन :—यह भी नागवंशी राजा था जिसके विषय में निश्चित बातें ज्ञात हैं। नागसेन का नाम प्रयाग की प्रशस्ति में आर्यावर्त के राजाओं की नामावली से पूर्व भी उल्लिखित है। यह राजा गणपति नाग के समकालीन नागों की दूसरी शाखा पर शासन करता था। रैप्सन का कथन है कि यह राजा तथा हर्षचरित में वर्णित नागसेन एक ही व्यक्ति थे[९]। बाण के वर्णन से ज्ञात होता है कि हर्षचरित में उल्लिखित नागसेन पद्मावती का शासक था जो सम्भवतः गुप्तों के अधीन था। परन्तु यह नागसेन मथुरा का शासक प्रतीत होता है[१०]। अतएव हर्षचरित में वर्णित नागसेन को समुद्रगुप्त का समकालीन मानना युक्ति-सङ्गत नहीं है।

(७) अच्युत :—समुद्रगुप्त द्वारा पराजित राजाओं में अच्युत का सातवाँ नाम है। इसके समीकरण में बहुत मतभेद है। जायसवाल अच्युत तथा नन्दि को एक ही शब्द मानते हैं[११]। संयुक्त प्रांत के बरेली ज़िले के अंतर्गत अहिच्छत्र (आधुनिक रामनगर)

---

१. ए० इ० भा० १२ नं० ६।
२. इ० ए० १६१३।
३. ओरिजिन एंड डेवलपमेंट आफ बंगाली लैंगुएज पृ० १०६१।
४. इ० हि० क्वा० भाग १ पृ० २५५।
५. जायसवाल—हिस्ट्री आफ इंडिया (१५०-३५०) पृ० १४२।
६. वही पृ० ३५ तथा ३८।
७. क्वायन आफ एंशेंट इंडिया पृ० १८
८. इ० हि० क्वा० भाग १ पृ० २५५।
९. नागकुलजन्मनः सारिकाश्रावितमन्त्रस्य आसीद् नाशो नागसेनस्य पद्मावत्याम्। —हर्षचरित
१०. जायसवाल—हिस्ट्री आफ इंडिया (१५०-३५०) पृ० ३५।
११. वही (१५०-३५०) पृ० १३३।

में कुछ सिक्के मिले हैं जिन पर एलन ने 'अच्यु' शब्द पढ़ा है[१]। परन्तु काशी के श्रीनाथ साह के संग्रह में लेखक ने 'अच्युत' शब्द पढ़ा है। अनुमान किया जाता है कि सम्भवतः ये सिक्के इसी राजा (अच्युत) के चलाये हों। डा० भण्डारकर पद्मावती के नाग-सिक्कों से इसकी बनावट की समता बतलाते हैं। अतएव बहुत सम्भव है कि अच्युत नागवंशी राजा हो जो मथुरा के समीप शासन करता होगा[२]। जायसवाल अच्युत को अहिच्छत्र का राजा मानते हैं[३]।

(८) नन्दिः – इस राजा के विषय में बहुत मतभेद है। पुराणों में नागवंशी राजाओं की नामावली में शिशुनन्दि या शिवनन्दि का सम्बन्ध मध्य भारत से बतलाया गया है। डुब्रूरिल साहब नन्दि तथा शिवनन्दि की एकता सिद्ध करते हैं[४]। अनुमान किया जाता है कि नन्दि भी नागवंशी राजा था।

(९) बलवर्मा :—प्रयाग की प्रशस्ति में उल्लिखित राजाओं की नामावली में बलवर्मा का अंतिम नाम है। इसके विषय में अभी तक कोई निश्चित मन्तव्य नहीं है। कुछ ऐतिहासिक अनुमान करते हैं कि यह राजा हर्ष के समकालीन आसाम के राजा भास्करवर्मन् का पूर्वज हो[५]। इसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि आसाम आर्यावर्त में सम्मिलित नहीं था। अतएव आर्यावर्त के राजा बलवर्मा को आसाम का राजा नहीं माना जा सकता।

इन आर्यावर्त के शासकों को जीतकर तथा उत्तरीय भारत में अपने राज्य का विस्तार कर समुद्रगुप्त ने दक्षिण भारत के विजय की ओर अपनी दृष्टि दौड़ाई। दक्षिण

आटविक-नरेश

भारत के विजय करने के लिए मध्य भारत के विस्तीर्ण जंगलों से होकर किसी उत्तरी भारत के विजेता को जाना पड़ेगा। समुद्रगुप्त के विषय में भी ऐसी ही बातें हुईं। आर्यावर्त के नरेशों पर अपने प्रताप का सिक्का जमाकर जब समुद्र ने दक्षिण भारत के राजाओं के जीतने का मनसूबा बाँधा तब आटविक भूपालों का जीतना उसके लिए नितांत आवश्यक हो गया। अतएव उसने इन सब राजाओं को जीता तथा अपना सेवक बनाया[६]। एरण की प्रशस्ति से भी यही सूचित होता है कि समुद्र ने मध्य भारत के जंगल के राजाओं को जीतकर अपने वश में किया। डा० फ्लीट के कथनानुसार आटविक नरेश संयुक्त प्रांत के ग़ाज़ीपुर से लेकर मध्य प्रांत के जबलपुर तक फैले हुए थे[७]।

---

१. एलन—गुप्त क्वायन पृ० २२, इ० म्यू० कै० प्लेट २२ नं० ६।
२. इ० हि० क्वा० भाग १ पृ० २५६।
३. हिस्ट्री आफ इंडिया (१५०–३५०) पृ० १३३।
४. एंशेंट हिस्ट्री आफ डेकेन पृ० ३१।
५. ए. इ. भाग १२ पृ० ६६।
६. परिचारकीकृतसर्वाटविकराजस्य (प्रयाग की प्रशस्ति गु० ले० नं० १)।
७. फ्लीट गु० ले० पृ० १४४; ए० इ० भाग ८ पृ० २८४-८७।

दक्षिण भारत का विजय

मध्य भारत के जंगलों को पार कर समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ पर आक्रमण किया तथा वहाँ के शासकों को जीतकर अपने अधीन कर लिया। प्रयाग की प्रशस्ति में दक्षिण के राजाओं का नाम दिया गया है। बहुत से ऐतिहासिक इन सब राजाओं को स्वतंत्र शासक मानते हैं। दक्षिणापथ के विजय में इन राजाओं से समुद्रगुप्त की मुठभेड़ हुई। अधिक सम्भव है कि भिन्न भिन्न स्थानों पर इनसे लड़ाइयाँ हुई हों; परन्तु जायसवाल का कहना है कि दक्षिण के इन नरेशों ने आपस में मिलकर कोलेरू तालाब के किनारे उत्तर के इस प्रतापी विजेता को आगे बढ़ने से रोकने के लिए तुमुल युद्ध किया। इस युद्ध में केरल के मण्टराज तथा कांची के राजा विष्णुगोप इन राजाओं के मुखिया थे, जिनके सेनापतित्व में सब ने लड़ाई में भाग लिया। उनमें कोसल तथा महाकान्तार के राजा को छोड़कर अन्य राजा सेनानायक तथा ज़िले के पदाधिकारी थे। यह युद्ध आर्यावर्त्त की पहली लड़ाई (कौशाम्बी का युद्ध) के पश्चात् ई० स० ३४५-४६ के लगभग हुआ[१]।

जो हो, यह तो निश्चित है कि समुद्रगुप्त ने समस्त दक्षिण के राजाओं को परास्त किया और उसका प्रबल प्रताप सर्वत्र छा गया। इस पराक्रमी विजेता ने समस्त पराजित नरेशों को सिंहासन से च्युत किया, परन्तु उसने उनके राज्य को गुप्त साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किया। समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ के विजित प्रदेश उसी स्थान के शासकों को लौटा दिये तथा अपनी छत्रच्छाया के अंतर्गत होकर राज्य करने की आज्ञा दी[२]। ऐसे यशस्वी राजा को 'धर्मविजयी' के नाम से पुकारते हैं। कालिदास ने अपने दिग्विजयी नरेश रघु के भी 'धर्मविजयी' राजा होने का वर्णन किया है[३]।

दक्षिणापथ के पराजित राजाओं की नामावली हरिषेण ने प्रयाग के लेख में निम्नलिखित प्रकार से दी है—

(१) कौसलक महेन्द्र।
(२) महाकान्तारक व्याघ्रराज।
(३) कैरलक मण्टराज।
(४) पैष्ठपुरक-महेन्द्रगिरि-कौट्टूरक स्वामिदत्त[४]।

---

१. जायसवाल – हिस्ट्री आफ् इंडिया (१५०—३५०) पृ० १३८-३९।

२. सर्वदक्षिणापथराजग्रहणमोक्षानुग्रहजनितप्रतापोन्मिश्रितमहाभाग्यस्य — प्रयाग का लेख — गु० ले० नं० १

३. गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।
श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार, न तु मेदिनीम्॥ —रघुवंश सर्ग ४।

४. प्रशस्ति में उल्लिखित इस नाम के पद-विच्छेद में विद्वानों में गहरा मतभेद है। डा० स्मिथ तथा डी० आर० भण्डारकर इसमें पदविच्छेद करके दो राजाओं के उल्लिखित होने के सिद्धान्त को मानते हैं। उनके सिद्धान्त के अनुसार पैष्ठपुर का राजा महेन्द्रगिरि तथा कौट्टूर का राजा स्वामिदत्त था। गिरि शब्द गोसाइयों के नाम के अन्त में आया करता है, अतएव वह महेन्द्रगिरि को महेन्द्रनामक गोसाईं राजा मानते हैं। (इं० हि० क्वा० भाग १ पृ० २५२) परन्तु इस मत के मानने में सबसे बड़ी आपत्ति यही मालूम पड़ती है

(५) ऐरण्ड पल्लक दमन।
(६) काञ्चेयक विष्णुगोप ।
(७) अवमुक्तक नीलराज ।
(८) वैङ्गेयक हस्तिवर्म ।
(६) पालक्ककोग्रसेन ।
(१०) देवराष्ट्रक कुबेर ।
(११) कौस्थलपुरक धनञ्जय ।

अब यहाँ पर प्रत्येक स्थान तथा राजा के विषय में ऐतिहासिक विवेचन क्रमशः किया जायगा ।

(१) कोसल महेन्द्र

दक्षिणापथ का यह पहला नरेश महेन्द्र कोसल का राजा था। यहाँ पर कोसल से अभिप्राय दक्षिण कोसल का समझना चाहिए। यह तो सुप्रसिद्ध बात है कि भारत में दो कोसल थे—उत्तर कोसल तथा दक्षिण कोसल। उत्तर कोसल की राजधानी अयोध्या थी, अतः यह प्रदेश आर्यावर्त के ही अंतर्गत था। दक्षिणापथ में उल्लिखित होने के कारण यहाँ कोसल शब्द दक्षिण-कोसल के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। इसमें आज कल के मध्यप्रदेश के बिलासपुर, रायपुर तथा सम्भलपुर के ज़िले सम्मिलित थे। इसकी राजधानी श्रीपुर थी जो आजकल रायपुर ज़िले का सिरपुर नामक नगर है[1]। राजा महेन्द्र के विषय में अन्य कोई बात ज्ञात नहीं है ।

(२) महाकान्तारक व्याघ्रराज

राजा व्याघ्रराज महाकान्तार का शासक था। महाकान्तार मध्यप्रदेश के विस्तीर्ण जंगलों के लिए प्रयुक्त होता है। अतः इस राजा की स्थिति गोंडवाना के पूर्व वनमय प्रदेश में थी। कुछ लोग इसे गंजाम तथा विज़गापट्टम जिले के झारखण्ड बतलाते हैं[2]। यह व्याघ्रराज कौन था ? इसके विषय में अभी तक कोई निश्चित मत स्थिर नहीं हुआ है। यह व्याघ्रराज गंज शिलालेख के वाकाटक पृथ्वीषेण प्रथम का पादानुध्यात

कि गिरि शब्द का प्रयोग दशनामी सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त गोसाइयों के लिए उत्तरी भारत में ही हुआ करता है। गोसाईं शासक मध्यप्रदेश में किसी समय में बड़े प्रभावशाली थे; परन्तु चौथी शताब्दी में गोसाईं के लिए गिरि शब्द का प्रयोग तथा सुदूर दक्षिण में गोसाईं शासक का अस्तित्व दोनों ही सन्देहजनक है। अतएव महेन्द्रगिरि को शासक का नाम न मानकर स्थान-विशेष का ही नाम मानना उचित है। इसलिए इस शब्द के द्वारा स्वामिदत्त नामक शासक का ही उल्लेख लेखक को युक्तियुक्त प्रतीत होता है। बहुमत भी इसी पक्ष में है (जायसवाल—हिस्ट्री आफ् इंडिया पृ० १३७; फ्लीट—गुप्त लेख पृ० ७; राय-चौधरी—हिस्ट्री पृ० ३६६; रामदास—इं० हि० क्वा०, भा० १ पृ० ६८१; बरुआ—प्राचीन ब्राह्मी अक्षर पृ० २२४)।

१. इं० हि० क्वा० भा० १० (१९३४) पृ० ६५

२. वही पृ० ६८४ ।

व्याघ्रदेव प्रतीत हो रहा है[1]। डा० भण्डारकर व्याघ्रराज की समानता दूसरे ही व्याघ्रराज से बतलाते हैं जो उच्चकल्प के राजा जयन्त (ई० स० ४२३) का पिता था और वाकाटकों की अधीनता में मध्यप्रदेश में शासन करता था[2]।

(३) कैरलक मण्टराज

इस राजा का नाम मण्टराज था। यह कैरल देश का राजा था। कैरल केरल का दूसरा रूप है। इससे दक्षिण का मालाबार नहीं समझना चाहिए। इसे दक्षिण कोशल तथा मद्रास के बीच में कहीं होना चाहिए। डा० कीलहार्न इसकी समता गोदावरी तथा कृष्णा के बीच कोलेरु कासार से बतलाते हैं[3]। डा० रायचौधरी इसे मध्यप्रदेश में स्थित बतलाते हैं। महाकवि धोयी ने पवनदूत में केरल लोगों का सम्बन्ध ययाती नगरी से बतलाया है[4]। यह नगरी सोनपुर के समीप महानदी के किनारे केरल देश की राजधानी थी। कैरल का नाम महाकान्तार के बाद उल्लिखित है, अतएव यह स्थान उड़ीसा तथा मद्रास प्रांत के मध्य में होना चाहिए।

(४) पैष्ठपुरक-महेन्द्रगिरि-कौट्टूरक-स्वामिदत्त

स्वामिदत्त इन तीन स्थानों—पैष्ठपुर, महेन्द्रगिरि तथा कौट्टूर—का शासक था। मद्रास प्रांत के गोदावरी ज़िले का पीट्टापुर पैष्ठपुर ज्ञात होता है। सम्भवतः यही स्थान कलिङ्ग देश का प्रधान नगर था। महेन्द्रगिरि तथा कौट्टूर आजकल गञ्जाम ज़िले में हैं। महेन्द्रगिरि पूर्वी घाट की पहाड़ियों का मूलस्थान है। कौट्टूर महेन्द्रगिरि से बारह मील दक्षिण-पूर्व में आज भी कोट्टूर के नाम से विख्यात है। अतः यह स्वामिदत्त कलिङ्ग देश का राजा प्रतीत होता है।

(५) एरण्डपल्लक दमन

राजा दमन एरण्डपल्ल नामक स्थान का शासक था जो समुद्रगुप्त के द्वारा पराजित किया गया। इस शासक के विषय में कुछ निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है परन्तु एरण्डपल्ल को फ्लीट साहब खानदेश मानते हैं। प्रयाग की प्रशस्ति में यह स्थान गिरि कौट्टूर के पश्चात् उल्लिखित है अतएव इसे खानदेश में स्थित नहीं मान सकते। कलिङ्ग के राजा देवेन्द्र वर्मा के सिद्धान्त ताम्रपत्र में एरण्डपल्ल का नाम आया है; इसलिए कलिङ्ग के समीप गञ्जाम ज़िले में स्थित चिकाकोल के समीप एरण्डपल्ली से इसकी समता की जा सकती है। नामों के क्रमशः उल्लेख से एरण्डपल्ली से समीकरण युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

---

१. वाकाटकानां महाराज श्री पृथ्वीषेणपादानुध्यातो व्याघ्रदेव मातापित्रोः पुण्यार्थम्—गु० ले० नं० ५४।

२. ए० इ० भा० १ पृ० २५१।

३. ए० इ० भा० ११ पृ० १८६।

४. लीलां नेतुं नयनपदवीं केरलीनां रतेश्चेद्, गच्छेः ख्यातां जगति नगरीं आख्ययानां ययातेः।

(६) काञ्चेयक विष्णुगोप

विष्णुगोप नामक राजा काञ्ची का शासक था जो प्राचीन काल में पल्लवों की राजधानी थी। समुद्रगुप्त से मुठभेड़ करनेवाले राजा विष्णुगोप के व्यक्तित्व के विषय में मतभेद है। डा० कृष्णस्वामी का कथन है कि इस विष्णुगोप का समीकरण पल्लवों के प्राकृत तथा संस्कृत लेख वाले विष्णुगोप से नहीं कर सकते[१]। जो हो, यह तो निर्विवाद है कि पल्लवों का सम्बन्ध सर्वदा काञ्ची से था; अतएव वहाँ का शासक विष्णुगोप अवश्य ही पल्लव राजा होगा।

(७) अवमुक्तक नीलराज

नीलराज अवमुक्त नामक स्थान का राजा था। अभी तक किसी के विषय में कोई निश्चित बातें ज्ञात नहीं हैं। कुछ लोगों का कथन है कि नीलराज गोदावरी के समीप अव देश का शासक था[२]।

(८) वैङ्गेयक हस्तिवर्म

यह स्थान मद्रास प्रांत के कृष्णा जिले में स्थित है। इस स्थान का आधुनिक नाम वेङ्गी या पेडवेङ्गी है जिसका शासक हस्तिवर्म था। कुछ विद्वानों का मत है कि हस्तिवर्मन् वेंगी का एक शालंकायनवंशीय राजा था जिसका नाम नन्दिवर्मन् द्वितीय के पेडवेंगी ताम्रपत्र में उल्लिखित है। यह ताम्रपत्र भी शालंकायन वंश का ही है[३]। इस राजा को हुल्स पल्लववंशी नरेश मानते हैं[४]। बहुत सम्भव है कि पल्लवों का अधिकार वेङ्गी पर भी हो तथा उसी के वंशज वहाँ का शासन करते हों।

(९) पालक्ककोग्रसेन

राजा उग्रसेन पालक्क का शासक था। इस दक्षिणापथ के नरेश के विषय में कुछ भी निश्चित बातें मालूम नहीं हैं। कुछ विद्वान् सुदूर दक्षिण में मालाबार के पालघाट से पालक्क की समता मानते हैं[५]। परन्तु यह मत मान्य नहीं है। पल्लवों के ताम्रपत्र में पालक्क का नाम आता है[६] अतएव सम्भवत: यह स्थान पल्लवों के अधिकार में होगा जहाँ उनके प्रतिनिधि शासक थे। इससे प्रकट होता है कि पालक्क कृष्णा जिले में कोई स्थान होगा।

---

१. कन्ट्रीब्यूशन आफ साउथ इंडिया पृ० १६५।
२. हिस्ट्री आफ इंडिया (१५०-३५०) पृ० १३८।
३. जरनल आफ आंध्र हि० रि० सोसाइटी १ पृ० ९२।
४. इं० एन० भा० ९ पृ० १४२।
५. जे० आर० ए० एस० १९१७ पृ० ८७३।
६. वेंकय्या की वार्षिक रिपोर्ट १९०४-५।

(१०) देवराष्ट्रक कुबेर

देवराष्ट्र स्थान का राजा कुबेर था। इस स्थान को कतिपय विद्वान् महाराष्ट्र देश मानते हैं[1]। परन्तु यह मत सर्वथा अमान्य है। देवराष्ट्र एलमंचि कलिङ्ग (जिसका आधुनिक नाम येलमंचिली है) देश का एक ज़िला (विषय) था जिसका नाम पूर्वी चालुक्य राजा भीम के दानपत्र में उल्लिखित है[2]। देवराष्ट्र कृष्णा ज़िले के समीप आंध्र-देश का कोई स्थान था। इसके शासक कुबेर के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है।

(११) कौस्थलपुरक धनञ्जय

राजा धनञ्जय कौस्थलपुर का शासक था। अभी तक इस स्थान तथा इसके शासक धनञ्जय के विषय में कोई निश्चित मन्तव्य स्थिर नहीं हुआ है। डा० बारनेट का मत उचित ज्ञात होता है कि कौस्थलपुर आरकाट में स्थित कुट्टलुर नामक स्थान है[3]।

यह विचारणीय प्रश्न है कि समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ के विजय में किस मार्ग का अवलम्बन किया तथा वह पुनः उत्तरीय भारत में किस रास्ते से लौटा। प्रशस्ति में उल्लिखित राजाओं की नामावली से प्रकट होता है कि समुद्र

समुद्रगुप्त का आक्रमण-मार्ग

जगल के राजाओं को जीतकर मध्यप्रदेश में पहुँचा। वहाँ से महाकोशल तथा महाकान्तार के मार्ग से होता हुआ कलिङ्ग के समीप उसने समस्त नरेशों को परास्त किया। दक्षिण-पूरब के प्रदेशों को अपने अधीन करते हुए समुद्रगुप्त ने काञ्ची पर आक्रमण किया। परन्तु इसमें सन्देह है कि इस प्रतापी गुप्तनरेश ने पल्लवों की राजधानी काञ्ची नगरी पर धावा किया हो, क्योंकि पल्लव राज्य कृष्णा तक विस्तृत था और प्रायः युद्ध में सीमा पर ही राजाओं में मुठभेड़ होती है। इस कारण विष्णुगोप ने कृष्णा के समीप अपने राज्य की सीमा पर समुद्र को आगे बढ़ने से अवश्य ही रोका होगा। बैनर्जी महोदय का मत है कि सम्भवतः स्वामिदत्त, दमन तथा कुबेर ने विष्णुगोप के साथ संघ बनाकर समुद्रगुप्त का सामना किया था[4]। उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त का आक्रमण-मार्ग महाकोशल से दक्षिण-पूरब भाग से होते हुए कृष्णा तक पहुँचा था।

समुद्रगुप्त ने इस मार्ग से दक्षिण में आक्रमण किया; परन्तु उसके प्रत्यागमन-मार्ग के विषय में गहरा मतभेद है। यदि एरण्डपल्ल की समता खानदेश में स्थित एरण्डोल, पालक्क की पालघाट तथा देवराष्ट्र की महाराष्ट्र से मानी जाए तो यह सम्भव है कि समुद्र कोशल से पूर्वी भाग में होता हुआ पश्चिम से लौटा। परन्तु विद्वानों का यह मत युक्ति-सङ्गत नहीं है। प्रथम तो इन स्थानों का समीकरण सन्दिग्ध है और हमारे मत में ये स्थान (एरण्डपल्ल, पालक्क व देवराष्ट्र) इन स्थानों से सर्वथा भिन्न हैं। अतः समुद्र-

---

१. इं० हि० क्वा० भा० १ पृ० ६८४।

२. मद्रास रिपोर्ट आन इपिग्राफी १९०९ पृ० १०८-९।

३. कलकत्ता रिव्यू १९२४ पृ० २५३ नोट।

४. राखालदास बैनर्जी कृत हिस्ट्री आफ ओरिसा भाग १ पृ० ११६-१७

गुप्त का पच्छिम के मार्ग से लौटना ठीक नहीं। इससे भी प्रबल हमारे मत का पोषक प्रमाण यह है कि वाकाटकों के पराजय का वर्णन कहीं वर्णित नहीं है। गुप्तों का समकालीन *वाकाटक वंश एक प्रतापी राज-वंश था।* इसका *मूलस्थान,* जैसा कि पहले बतलाया गया है, मध्यभारत में था। परन्तु इस समय इसका प्रताप बुन्देलखण्ड से लेकर कुन्तल (करनाटक) तक फैला था। इस वंश का पृथ्वीषेण प्रथम समुद्र का समकालीन प्रतीत होता है; क्योंकि इसी के लड़के रुद्रसेन द्वितीय के साथ समुद्र के पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी कन्या का विवाह किया था। यदि समुद्रगुप्त पच्छिम के मार्ग से लौटता तो पृथ्वीषेण प्रथम के साथ कहीं न कहीं उसकी मुठभेड़ अवश्य होती और इस प्रतापी नरेश की विजय वार्ता को समुचित शब्दों में वर्णन करने से हरिषेण बाज़ न आता। परन्तु प्रयाग की प्रशस्ति में ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख न होने से यही प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त पच्छिम के मार्ग से लौटा ही नहीं। बल्कि वह जिस पूर्वी भाग से गया था उसी मार्ग से लौटा।

समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ के राजाओं को परास्त कर सीमांत नरेशों (प्रत्यंत नृपतियों) को विजय करने की ठानी। इस विजय-यात्रा में दो प्रकार के शासकों को उस गुप्त नरेश ने परास्त किया जिनका नामोल्लेख हरिषेण ने किया है। सीमांत राज्यों का विजय इन पराजित नरेशों में पाँच भिन्न भिन्न प्रदेशों के शासक थे जो नृपति शब्द से सम्बोधित किये गये हैं। इन राजाओं के अतिरिक्त नव राज्यों का नाम मिलता है जो गण राज्य के नाम से पुकारे जाते हैं। इन गण-राज्यों की शासन-प्रणाली उन पाँच राज्यों से भिन्न थी, इसी लिए इनके नाम के साथ नृपति शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। अतएव इस यात्रा में समुद्र ने उत्तर तथा पूरब के राजाओं तथा पच्छिम के नव गण-राज्यों को अपने अधीन किया।

समुद्रगुप्त की नीति इन राजाओं के प्रति भिन्न थी। उसने अपने प्रबल शासन से उनको सब प्रकार का कर देने, आज्ञा मानने तथा प्रणाम करने के लिए बाधित किया[1]। समुद्र से पराजित समस्त सीमांत-राजाओं के नाम नहीं मिलते, परन्तु इनके राज्यों की निम्न नामावली का उल्लेख प्रयाग की प्रशस्ति में मिलता है—

(१) समतट

सर्वप्रथम समुद्र ने पूरब के राज्यों पर आक्रमण किया जिसमें समतट का पहला नाम है। यह पूर्वी बंगाल के समुद्रतट का प्रदेश है। यह गंगा तथा ब्रह्मपुत्र की धाराओं के मध्यभाग में स्थित है। कोमिल्ला के समीप कर्मान्त इसकी राजधानी थी[2]।

(२) उवाक

समतट के पश्चात् उवाक का नाम आता है जिस पर समुद्र ने आक्रमण किया। इस राज्य की सीमा में उत्तरी बंगाल के बोगरा, दीनाजपुर तथा राजशाही के ज़िले सम्मि-

१. सर्वकरदानआज्ञाकरणप्रणामागमनपरितोषितप्रचण्डशासनस्य (प्रयाग की प्रशस्ति; गु० ले० नं० १)।

२. मट्टमाली—आर्क्कालोजिकल रिपोर्ट १९०४।

लित थे। इसका नाम समतट तथा कामरूप के बीच होने के कारण प्रतीत होता है कि ढाका और चटगाँव के ज़िले से सीमित राज्य का नाम डवाक हो।

(३) कामरूप

इसका आधुनिक नाम आसाम है। परन्तु प्राचीन काल में प्राग्ज्योतिष राज्य का कामरूप एक भाग हो।

(४) नेपाल

यह राज्य आज भी इसी नाम से संयुक्त प्रांत तथा बिहार के उत्तर में स्थित है। सम्भवतः प्राचीन नेपाल इतना विस्तृत नहीं था। समुद्रगुप्त का समकालीन जयदेव प्रथम नेपाल का शासक था; परन्तु इसका नाम प्रशस्ति में उल्लिखित नहीं है। इसी राजा के समय से नेपाल में गुप्त-संवत् का प्रयोग प्रारम्भ हुआ।

(५) कर्तृपुर

समुद्रगुप्त से पराजित सबसे अंतिम उत्तर का राज्य कर्तृपुर है जिसके आक्रमण के पश्चात् समुद्र पच्छिम की ओर बढ़ा। इस राज्य का आधुनिक नाम कर्तारपुर है जो पंजाब के जालधर ज़िले में स्थित है। नेपाल के पश्चात् समुद्र ने कर्तृपुर पर धावा किया अतएव सम्भवतः यह राज्य कमायूँ, गढ़वाल तथा रुहेलखण्ड में सीमित हो।

गुप्तवंशी इस पराक्रमी विजेता ने पूरब और उत्तर के राजाओं को परास्त कर अपनी दृष्टि पश्चिम की ओर फेरी। ये गण-राज्य बहुत प्राचीन काल से भारत के पश्चिमीय प्रांतों में शासन करते थे। उन समस्त संघों का समुद्रगुप्त ने समूल नाश कर दिया और उसी समय से भारत में संघ शासन का अभाव हो गया। समुद्र की नीति सब पर एक ही थी। उनसे कर लिया और वे उसकी अधीनता स्वीकार कर सीमा पर शासन करते रहे। प्रयाग की प्रशस्ति में इन नव संघों का नाम मिलता है—

गण-राज्य

(१) मालव

नव गण-राज्यों में मालव का नाम सर्वप्रथम मिलता है। मालव नाम की एक बहुत प्राचीन जाति थी जो उत्तर-पश्चिम में निवास करती थी। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में ग्रीक लोगों ने मल्लोई (Malloi) के नाम से इसका उल्लेख किया है। सिकन्दर से भी मालव लोगों की मुठभेड़ हुई थी। कालान्तर में इन लोगों ने अपना निवास राजपूताने में स्थापित किया जहाँ पर शक राजा नहपान के जामाता उषवदात से मालवों का युद्ध हुआ था। इस जाति के निवास के कारण उस स्थान का नाम 'मालवा' हो गया। विक्रम संवत् से भी इनका सम्बन्ध बतलाया जाता है और इसी कारण विक्रम संवत् को मालव संवत् भी कहते हैं[1]। समुद्रगुप्त के समय में यह जाति मध्यभारत में निवास करती थी। ई० तीसरी सदी के बहुत से सिक्के नगपुर

१. मन्दसोर प्रशस्ति में इसी संवत् में काल-गणना दी गई है—
मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये। गु० ले० नं० १८।

राज्य के नागर स्थान में मिले हैं जिन पर—मालवानां जयः मालवगणस्य जय लिखा मिलता है[१]।

(२) अर्जुनायन

यह गण-नामावली की दूसरी जाति है जो समुद्र के हाथों परास्त हुए। बृहत् संहिता में इसका नाम यौधेय के साथ आता है तथा लेख में मालव और यौधेय के बीच में उल्लिखित है। इस आधार पर यह प्रकट होता है कि यह जाति मध्यभारत में मालवों तथा यौधेयों के निवासस्थान (पूर्वी पञ्जाब) के बीचोबीच निवास करती थी। इस जाति के बहुत से सिक्के भरतपुर व अलवर राज्य में मिले हैं जिन पर 'अर्जुनायनानां जयः' लिखा है[२]।

(३) यौधेय

यह जाति भारत के पश्चिमोत्तर प्रांत में बहुत प्राचीन काल से निवास करती थी। पाणिनि ने (ईसा पूर्व ५००) इस जाति को आयुधजीवि संघ में उल्लिखित किया है[३]। ई० स० १५० में महाक्षत्रप रुद्रदामन् ने क्षत्रियों में वीर की उपाधि धारण करनेवाले यौधेयों को परास्त किया था[४]। भरतपुर राज्य में प्राप्त विजयगढ़ लेख में यौधेयों के 'महाराज महासेनापति' उपाधि धारण करनेवाले अधिपति का उल्लेख मिलता है। इन सब विवेचनों से ज्ञात होता है कि यौधेय एक बलशाली जाति समझी जाती थी जिसे समुद्रगुप्त द्वारा पराजित होना पड़ा। अनुमान किया जाता है कि पंजाब की बहावलपुर रियासत में रहनेवाली याहिया नामक जाति यौधेयों की आधुनिक वंशधर है तथा उस प्रदेश का योहियावार नाम इन्हीं यौधेयों से निकला है। यौधेयों के छोटे-छोटे ताँबे के सिक्के मिलते हैं जिन पर 'यौधेयानां गणस्य जयः' या 'भगवतो स्वामिन ब्रह्मण यौधेयदेवस्य' लिखा रहता है[५]।

(४) मद्रक

प्राचीन काल में मद्रकों का निवासस्थान उत्तर-पश्चिम में था। पाणिनि इसे आयुधजीविन संघ के नाम से पुकारते हैं[६]। झेलम तथा रावी के बीच का भाग मद्र-देश के नाम से प्रसिद्ध था[७]। इससे प्रकट होता है कि समुद्रगुप्त ने पश्चिमोत्तर की ओर जाकर इस गण जाति को परास्त किया। इसके पश्चात् समुद्र ने पश्चिम की ओर बसनेवाली जातियों पर आक्रमण किया।

---

१. जे० आर० ए० एस० १८९७ पृ० ८८३।

२. इ० म्यू० कै० पृ० १६१।

३. अष्टाध्यायी ५।३।११४

४. सर्वक्षत्राविष्कृतवीरशब्दजातोत्सेकाविधेयानां यौधेयानां (इ० ए० भा० ८ ' ० ४७)।

५. क्वायन आफ् ऐंशेंट इंडिया प्लेट ६।

६. मद्रवृज्योः कन्।

७. आर्क० सर्वे रिपोर्ट भा० २ पृ० १४।

(५) आभीर

आभीर जाति की सम्भवतः दो शाखाएँ थीं जो पंजाब तथा मध्यभारत में निवास करती थीं। सिकन्दर से इनका युद्ध हुआ था जिनको ग्रीक ऐतिहासिकों ने सोड्राई (Sodrai) लिखा है। संस्कृत साहित्य में इनको शूद्र कहते हैं और पतञ्जलि ने भी महाभाष्य[१] में इनका वर्णन किया है। पञ्जाब की शाखा के अतिरिक्त आभीर लोग पश्चिमी राजपुताना और मध्यभारत में निवास करते थे। दूसरी शताब्दी में आभीर लोगों का प्रताप विशेष रूप से फैला था। इसी समय इन्होंने पश्चिमी भारत के शासक शक महाक्षत्रप को परास्त किया और आभीर ईश्वरसेन ने शासक का स्थान ग्रहण कर लिया था[२]। आभीरों के निवासस्थान होने के कारण झाँसी तथा भिलसा के मध्यभाग को आहिरवाड़ा कहते हैं[३]। समुद्रगुप्त ने इस बढ़ते हुए आभीरों के प्रवाह को रोका जिसके कारण ये उसके अधीन हो गये।

(६) प्रार्जुन

इस गण-राज्य के स्थान के विषय में अभी तक कुछ बातें ज्ञात नहीं हैं। इसका नाम मध्य भारत के संघ-राज्यों के साथ उल्लिखित है अतएव ये भी मध्य भारत में कहीं स्थित होंगे।

(७) सनकानीक

यह भी मध्यभारत का गण-राज्य था। समुद्रगुप्त के पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरि के लेख में सनकानीक महाराजा का वर्णन मिलता है कि सनकानीक [illegible] गुप्तों के अधीन थे[४]। इससे प्रकट होता है कि समुद्रगुप्त के समय में ही सनकानीक शासक परास्त हुए जो सम्भवतः उदयगिरि प्रदेश (आधुनिक भिलसा) के समीप निवास करते थे।

के समय में गुप्तों के अधीन हो गया था[१]। इस लेख के आधार पर ज्ञात होता है कि साँची के समीपवर्ती प्रदेश का नाम काक या काकनाड़ था। जायसवाल भिलसा से बीस मील उत्तर काकपुर नामक स्थान में काकों का निवासस्थान बतलाते हैं[२] जिसका नाम सम्भवतः काक जाति के रहने के कारण पड़ा हो।

(६) खर्परिक

इस गण-राज्य का नाम मध्यभारतीय संघो में उल्लिखित होने के कारण यह ज्ञात होता है कि इनका निवासस्थान मध्य प्रांत हो[३]।

समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा की दुदुंभि समाप्त होने पर उसके दिग्विजय का प्रताप सुदूर देशों में फैल गया। उस विजेता की अतुल कीर्ति इस चरम सीमा को पहुँची कि विदेशी राज्यों को बाधित होकर उससे मित्रता की भीख माँगनी पड़ी। इसी मैत्री के कारण उन पर गुप्त नरेश ने आक्रमण नहीं किया तथा उनका राज्य शांतिमय रहा। विदेशी राजाओं ने केवल मित्रता का दिखलावा नहीं किया प्रत्युत उसे कितनी ही चीज़ें भेंट में दीं। इन नरेशों ने आत्मनिवेदन, अपनी कन्याओं की भेंट तथा अपने राज्य (विषय-भुक्ति) में शासन करने के लिए गरुड़ की मुहर से मुद्रित अधिकार (Chaiter, फरमान) माँगे[४]। इन विदेशी राजाओं का नाम प्रयाग की प्रशस्ति में निम्न प्रकार से उल्लिखित है—'दैवपुत्र शाहि शाहानुशाहि शकमुरुण्डैः सैंहलकादिभिश्च'।

विदेश में प्रभाव

इसमें किन किन राजाओं का उल्लेख है, इस विषय में गहरा मतभेद है। कतिपय विद्वान् अनुमान करते हैं कि इस उल्लेख से पाँच राजाओं—(१) दैवपुत्र शाहि, (२) शाहानुशाहि, (३) शक, (४) मुरुण्ड तथा (५) सैंहल का बोध होता है[५]। दूसरे लोग चार राजाओं का उल्लेख मानते हैं। इन भिन्न-भिन्न मतों का कोई विशेष पार्थक्य न होने से यह मानना युक्तिसंगत है कि दैवपुत्र शाहि शाहानुशाहि की पदवी से एक ही नरेश का बोध होता है। इसी प्रकार शक, मुरुण्ड तथा सैंहल का भी नाम उसी के साथ उल्लिखित है।

(१) दैवपुत्र शाहि शाहानुशाहि

यह एक पदवी है जो विदेशी राजा के लिए प्रयोग की गई है। पश्चिमोत्तर प्रांत में एक कुषाण नामक विदेशी जाति गुप्तों से पहले ही शासन करती थी। इन

---

१. गु० ले० नं० ५।
२. जे० बी० ओ० आर० एस० २८।
३. इ० हि० का० १९२५ पृ० २५८।
४. आत्मनिवेदनकन्योपायनदानगरुत्मदङ्कस्वविषयभुक्तिशासनयाचना — फ्लीट—गु० ले० नं० १।
५. एलन—गुप्त क्वायन पृ० ७९।

राजाओं के लेख तथा सिक्के पर इस पदवी का उल्लेख मिलता है[1]। कुषाणों के राज्य नष्ट होने के पश्चात् बहुत सी जातियाँ गन्धार के समीप शासन करती थी। इनका नाम किदार कुषाण है जो बड़े कुषाणों के स्थान पर पश्चिमोत्तर प्रांत में शासन करने लगीं। उस समय कोई भी उस प्रदेश में प्रभावशाली राजा नहीं था अतएव बहुत सम्भव है, इन छोटे (किदार) कुषाणों ने पहले के कुषाणों की इस लम्बी पदवी को धारण किया हो। इन्हीं समस्त नरेशों ने समुद्रगुप्त के प्रबल प्रताप के सम्मुख शिर झुकाया तथा उससे मित्रता स्थापित की।

(२) शक

विदेशी राजाओं की नामावली में शक जाति को दूसरा स्थान मिला है। इन्होंने भी पश्चिमोत्तर किदार कुषाणों के सदृश समुद्रगुप्त के प्रताप के सामने सिर झुकाया। गुप्तों से पहले शक जाति पश्चिम तथा मध्य भारत में शासन करती थी। इस शक से सौराष्ट्र के शक क्षत्रप तथा मध्य भारतीय शक नरेशों का तात्पर्य है। इन्हीं शक नरेशों का एक लेख साँची के समीप मिला है जिससे ज्ञात होता है कि महादण्डनायक श्रीधरवर्मन् ई० स० ३१६ के लगभग राज्य करता था[2]। इस लेख के द्वारा मध्यभारत में शकों का अस्तित्व ज्ञात होता है तथा उपर्युक्त बात की पुष्टि होती है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि समुद्र के सम्मुख सभी विदेशियों के समान शकों का भी स्थान रहा परन्तु इसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों को परास्त कर उनके राज्य को गुप्त-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

(३) मुरुण्ड

शकों के पश्चात् मुरुण्ड जाति के शासकों ने भी समुद्रगुप्त की शरण ली तथा उसकी छत्रछाया में रहकर वे शासन करते रहे। मुरुण्ड जाति के विषय में विद्वान् भिन्न-भिन्न अनुमान करते हैं। स्टेनकोनो का कथन है कि मुरुण्ड पृथक् कोई जाति नहीं थी। शक भाषा में मुरुण्ड का अर्थ है स्वामिन्[3]। अतएव शक मुरुण्ड से शक जाति के स्वामी या राजा का बोध होगा। पुराणों में यवन तथा तुषार के साथ मुरुण्ड शब्द मिलता है[4] अतएव यह प्रतीत होता है कि मुरुण्ड जाति यवनों के साथ

---

१. शाहानुशाहि ईरान की प्रभुत्व-सूचक राजाओं की पदवी है। इनका ही कुषाणों ने अनुकरण किया तथा अपने लेखों व सिक्कों पर इसे स्थान दिया। संस्कृत में इस पदवी को महाराजा राजति राजा के रूप में पाते हैं जिसे हिन्दू राजा भी धारण करते थे। आरा की प्रशस्ति (का० इन० इन्टो० भा० २ पृ० ८६) तथा मथुरा के समीप प्राप्त एक लेख में (आर० सर्वे रिपोर्ट १६११-१२ पृ० १२४) महाराजा राजति राजा व देवपुत्र की उपाधि कुषाण राजाओं के लिए प्रयुक्त है। कुषाण-सिक्कों पर इस पदवी का ग्रीक रूपान्तर शाओ-नेनो-शाओ (Shao Nano Shao) उत्कीर्ण रहता है।

२. ए० इ० भा० १६ पृ० २३२। जे० आर० ए० एस० १६२३ पृ० ३३७।

३. राय-चौधरी पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एंशेंट इंडिया पृ० २७३।

४. मत्स्य पुराण।

पश्चिमोत्तर प्रान्त में निवास करती हो जहाँ से समुद्रगुप्त से उन लोगों ने मित्रता स्थापित की हो।

(४) सैंहल

समुद्रगुप्त का प्रभाव सुदूर पश्चिमोत्तर प्रदेशों में तो फैला था ही, परन्तु इससे भी दूर दक्षिण भारत के समीपस्थ द्वीपों में भी उसकी कीर्ति ने अपना स्थान बनाया। प्रशस्ति में 'सर्वद्वीपवासिभिः' का उल्लेख है परन्तु उनमें केवल सैंहल का नाम ही मिलता है। इस सैंहल द्वीप से लङ्का का तात्पर्य है। इसका राजा मेघवर्ण गुप्त विजेता समुद्र का समकालीन था जिसका शासनकाल ई० स० ३५१—७६ तक माना गया है। इसी राजा मेघवर्ण ने समुद्र से मित्रता स्थापित की तथा उसके उपलक्ष में अपने दूत के साथ-साथ अमूल्य रत्न भी भेंट में भेजा। मेघवर्ण का विचार था कि बुद्धगया में बौद्ध यात्रियों के विश्राम के लिए एक मठ बनवाया जाय जिसकी आज्ञा उसने गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त से माँगी। समुद्र ने अपने सम्मान के बदले में उसे मठ निर्माण की आज्ञा दे दी; तदनुसार मेघवर्ण ने कला-कौशल से युक्त उस मठ में रत्नजटित बुद्ध की प्रतिमा स्थापित करवाई। सातवीं शताब्दी के चीनी बौद्ध यात्री ह्वेनसांग ने उस मठ का सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है[१]। इस वर्णन से प्रकट होता है कि समुद्रगुप्त ने अन्य विदेशियों से अपनी मित्रता का निर्वाह किस सीमा तक किया। इस प्रकार गुप्त नरेश का प्रताप हिमालय से लेकर लङ्का आदि द्वीपों तक तथा पूरब से पश्चिम पर्यन्त विस्तृत था। क्यों न हो, उस समय इसकी समता करनेवाला कौन पुरुष था या इसके सम्मुख भुजा उठानेवाला कोई भी वीर न था जिसके विषय में कुछ उल्लेख भी किया जा सके।

सम्राट् समुद्रगुप्त की इतनी विशाल कीर्ति का विस्तार समझते हुए यह सन्देह होता है कि क्या सचमुच उसका साम्राज्य इतनी दूर तक विस्तृत था? परन्तु ऐसी बात नहीं थी। समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त, दक्षिणापथ, आटविक राज्य, प्रत्यन्त नृपति तथा और द्वीपों के नरेशों पर विजय प्राप्त किया;

राज्य-विस्तार

लेकिन समस्त विजित देशों को अपने अधिकार में नहीं किया। अतएव समस्त प्रदेश गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं थे। भिन्न भिन्न देशों में इसकी पृथक् पृथक् नीति थी। सुदूर देशों से समुद्र ने मैत्री स्थापित की। दक्षिण के सब शासक इसकी छत्रछाया में रहकर अपने-अपने राज्य पर शासन करते रहे। समुद्रगुप्त ने केवल आर्यावर्त तथा जङ्गलों के समस्त देशों को गुप्त-साम्राज्य में मिला लिया। इस प्रकार समुद्र का साम्राज्य उत्तरी भारत से मध्य प्रदेश तक विस्तृत था। समुद्रगुप्त ने देशवर्द्धन की नीति को ग्रहण नहीं किया। उसका दिग्विजय का मुख्य ध्येय अपनी विजयपताका फहराना था। इसी कारण समुद्र ने अधिक देशों को साम्राज्य में नहीं मिलाया।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट सिद्ध है कि समुद्रगुप्त ने हज़ारों कोसों की यात्रा की तथा भारत के कोने-कोने में अपनी विजय-दुन्दुभि बजाई। समस्त उत्तरापथ के राजाओं को

---

१. वाटर्स पृ० १७३।

अश्वमेध यज्ञ

जीतकर समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ के राजाओं को परास्त किया। यह बिहार तथा उड़ीसा के वनमय प्रदेशों से होता हुआ मद्रास के काञ्जीवरम् नगर तक पहुँचा। भारत के पूर्वी तट पर महानदी तथा कृष्णा के बीच के देशों को पराजित कर यह स्वदेश को लौट गया। अपनी इस महान् दिग्विजय से ही वह वीर योद्धा संतुष्ट न हो सका। सीमान्त के राजाओं को भी उसने अपने वश में कर लिया। स्वतन्त्रता के परम पुजारी गणराज्यों ने भी इसके प्रबल प्रताप के आगे अपना मस्तक अवनत कर दिया। इसके अतिरिक्त इसने विदेशी राजाओं के भी दाँत खट्टे किये। पश्चिमोत्तर प्रदेश से आक्सस तक के प्रदेशों के शासक शाहानुशाहि उपाधिधारी राजाओं ने भी तथा सुदूर दक्षिण में स्थित लङ्का के राजा मेघवर्ण ने भी इसकी मैत्री की याचना की। इन राजाओं को राजाज्ञा के पालन के साथ ही साथ अपनी कन्याओं को भी विवाह में देना पड़ा। इस महान् विजय से समुद्रगुप्त का प्रभाव समस्त भारत में छा गया। चतुर्दिक् में इसकी तूती बोलने लगी। समस्त राजागण नत-मस्तक हो उसका नाम स्मरण करने लगे। भिन्न-भिन्न दिशाओं में आरोपित विजय-वैजयन्तियों के द्वारा मानों इसका यश स्वर्गलोक में भी जाने का तथा उसे भी व्याप्त करने का प्रयत्न करने लगा। कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय उसका यश अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था तथा उसके समान प्रतापी एवं पराक्रमी नरेश उस समय कोई दूसरा न था।

अपने महान् विजयरूपी यज्ञ के पूर्णाहुति-स्वरूप अब समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय किया। प्राचीन काल में अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान सार्वभौम प्रभुता का सूचक था। इस यज्ञ को वही नरेश कर सकता था जो सर्वश्रेष्ठ राजा समझा जाता था। अतः समुद्रगुप्त का इस काल में अश्वमेध यज्ञ करना सर्वथा उचित ही था। इस यज्ञ में दान देने के लिए समुद्रगुप्त ने सोने के सिक्के भी ढलवाये थे। उन सिक्कों पर एक ओर यज्ञस्तम्भ (यूप) में बँधे हुए घोड़े की मूर्ति है तथा दूसरी ओर हाथ में चँवर लिये समुद्रगुप्त की महारानी का चित्र अंकित है। इन सिक्कों पर 'अश्वमेधपराक्रमः' लिखा हुआ है। समुद्रगुप्त के वंशजों ने उसके लिए 'चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्त्तुः' शब्द का प्रयोग किया है। इससे ज्ञात होता है कि चिरकाल से न होनेवाले अश्वमेध यज्ञ का उसने फिर से अनुष्ठान प्रारम्भ किया। उसने उस वैदिक प्रथा का पुनः प्रचलन किया जो काल की कुटिलता से चिरकाल से प्रायः बन्द सी हो गई थी। इस प्रकार से अश्वमेध यज्ञ का विधिवत् अनुष्ठान कर अपने प्रबल बाहुओं से उपार्जित एकाधिपत्य का उसने यज्ञ विधान के द्वारा भी समर्थन कराया।

समुद्रगुप्त के समय के केवल तीन शिलालेख प्रयाग[1], एरण[2] (सागर ज़िला, मध्य-प्रदेश) तथा गया[3] इन तीन स्थानों में मिले हैं जिनमें केवल गया की प्रशस्ति में ही तिथि

---

१. का० इ० इ० नं० १।

२. वही नं० २।

३. ए० इ० भा० १३।

का उल्लेख मिलता है। इस लेख की तिथि गुप्त संवत् के नवें वर्ष की है जो ईसवी सन् (३१६+६) ३२८ वर्ष में पड़ती है। डा० रायचौधरी को इस लेख के तिथि पाठ पर विश्वास नहीं है[१]। डा० फ़्लीट तो गया की प्रशस्ति को कल्पित बतलाते हैं[२]। परन्तु भारत के सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता राखालदास बैनर्जी का कथन है कि यह प्रशस्ति जाली (कल्पित) नहीं है; तथा वे इस नवें वर्ष की तिथि को सत्य मानते हैं[३]। समुद्रगुप्त के काल निर्णय में गया की प्रशस्ति तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय की मथुरा की प्रशस्ति से बड़ी सहायता मिलती है। मथुरा का शिलालेख चन्द्रगुप्त द्वितीय की सर्वप्रथम प्रशस्ति है, तथा इसकी तिथि गुप्त संवत् के ६१वें वर्ष की है। इसी आधार पर यह अनुमान किया गया है कि समुद्रगुप्त ईसा के ३८० वर्ष के (३१६+६१) पहले ही अपने राज्य-शासन की समाप्ति कर चुका होगा। जब यह (समुद्रगुप्त) ३२८ ई० में राज्य करता था तब ज्ञात होता है कि यह कुछ वर्ष पहले ही सिंहासनारूढ़ हुआ होगा। अतः समुद्रगुप्त का शासनकाल ३२५ ई० से लेकर ३७५ ई० तक माना जाता है।

काल-निर्णय

समुद्रगुप्त केवल युद्ध-कला में ही निपुण नहीं था परन्तु राजनीति में भी बड़ा ही दक्ष था। उसके साम्राज्य की शासन-व्यवस्था तथा अन्तरराष्ट्रीय संबंध पर विचार करने पर उसकी नीति का परिचय पर्याप्त मात्रा में मिलता है। गुप्त साम्राज्य को सुदृढ़ तथा सुसगठित करना उसका ध्येय था। वह सर्वत्र एक ही नीति पर अवलम्बित नहीं रहा परन्तु प्रत्येक प्रदेश के राजाओं के साथ उसने भिन्न भिन्न नीति का बर्ताव किया। समस्त राज्यों को जीतकर अपनी छत्रछाया में रखकर उनके ऊपर शासन करना उसकी नीति के विरुद्ध था। उसके पूर्वजों का राज्य-विस्तार बहुत ही कम था अतः उसने उत्तरापथ के राज्यों को जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया। इन आर्यावर्त्त के नरेशों के प्रति उसका व्यवहार अत्यन्त कठोर था। उनकी स्वतन्त्रता को छीन करके उसने विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की थी। समुद्रगुप्त ने अपना साम्राज्य सुरक्षित करने के लिए सीमान्त के मगध तथा उड़ीसा के मध्य जङ्गलों के राजाओं को अपना सेवक बनाया। इसी कारण वे नरेश गुप्त-राजाओं के सदा सहायक बने रहे। यही नीति आधुनिक काल में भी दृष्टिगोचर होती है। भारतीय सरकार ने भारत के सीमान्त प्रदेश नेपाल, अफ़ग़ानिस्तान आदि से सन्धि स्थापित की है तथा शेष राजाओं को कर देने, प्रणाम करने तथा अपनी आज्ञा मानने पर विवश किया है। ठीक यही नीति समुद्रगुप्त की भी थी। आज इस बीसवीं शताब्दी में जिस कूट-नीति के बर्तने के कारण अँगरेज़ जाति प्रवीण राजनीतिज्ञ समझी जाती है ठीक उसी कूटनीति का व्यवहार आज से १६०० वर्ष पहले इस वीर भारतीय सम्राट् ने किया था। समुद्रगुप्त अपने प्रभुत्व स्थापन के लिए कठोरता का व्यवहार नहीं करता था बल्कि उसने निर्बल तथा पराजित राष्ट्रों के प्रति उदारता का बर्ताव भी किया। कितने ही

नीति-निपुणता

१. राय-चौधरी—पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ एंशेंट इंडिया पृ० सं० ३७५।

२. फ़्लीट—गुप्त लेख भूमिका

३. बैनर्जी—महेन्द्रचन्द्र नन्दी लेक्चर्स पृ० ८।

नष्ट राजवंशों को इसने फिर से प्रतिष्ठापित किया। दक्षिणा पथ के राजाओं के प्रति उसने अनुग्रह दिखलाया तथा उनको अपने वश में करके पुनः मुक्त कर दिया। इन राजाओं को सदा ही इसने वैतसी वृत्ति का पाठ सिखलाया। प्रायः इसने दक्षिणापथ के राजाओं को परास्त करके उनकी लक्ष्मी को ही चुराया, उनकी पृथ्वी (राज्य) को नहीं लिया। मानों महाकवि कालिदास ने रघु के दिग्विजय के व्याज से इसी धर्म-विजयी नरेश के दिग्विजय का वर्णन किया है—

गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।
श्रियं महेन्द्रनाथस्य, जहार न तु मेदिनीम् ॥ रघुवंश—सर्ग ४

इस प्रकार समुद्रगुप्त एक धर्मविजयी नरेश था। महमूद ग़ज़नवी आदि पुरुषों की नाईं इसका कार्य प्रजा को लूटना खसोटना नहीं था बल्कि यह उनके विजित राष्ट्र को भी लौटा देता था। यह विजित राष्ट्रों से कर लेकर ही संतुष्ट हो जाता था—राजाओं को 'करदीकृत' करना ही इसका परम ध्येय था।

सुदूरवर्ती विदेशियों के साथ इसने मित्रता का व्यवहार स्थापित किया। विदेशियों ने भी इसकी विविध प्रकार की सेवा की तथा इसकी राजाज्ञा की भिक्षा माँगी। उपर्युक्त नीति के ही आधार पर इसने अपने साम्राज्य का सङ्गठन किया। इसने साम, दाम, दण्ड, भेद इन चारों नीतियों को व्यवहृत किया। उसकी नीति न तो अत्यन्त कठोर थी और न अत्यन्त मृदुल। उसकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण थी परन्तु अरुन्तुदा न थी। प्रतापी होने पर भी उसका कर्म शान्त था। उसका उष्ण मन दूसरे को व्याकुल करनेवाला नहीं था[1]।

देश-काल के अनुसार उसने अपनी नीति का प्रयोग किया। स्मिथ महोदय ने समुद्रगुप्त पर 'राज्यों के अपहरण करने का' अभियोग लगाया है। परन्तु उनकी धारणा नितांत निराधार है। हिन्दू नीतिशास्त्र के अनुसार समस्त राजाओं में वह सर्वोपरि बनना चाहता था परन्तु अन्य राज्यों का अपहरण कर उन्हें अपनी छत्रछाया में रखना ही उसका प्रयोजन नहीं था। उसे राज्य की तृष्णा नहीं थी परन्तु भारत में साम्राज्य के प्रभुत्व को प्राप्त करने के यश का तथा अतुलनीय पराक्रम से उत्पन्न कीर्ति का वह लोभी था। प्रयागवाली प्रशस्ति में निम्नलिखित प्रकार की नीतियों का वर्णन मिलता है—

(१) राजग्रहण मोक्षानुग्रह = राजाओं को जीतकर, अनुग्रह से उनको पुनः राज्याधिकार देना। यह नीति दक्षिणापथ के राज्यों के प्रति व्यवहृत की गई थी।

(२) राजप्रसभोद्धारण = बलपूर्वक राज्यों को साम्राज्य में मिलाना। इसका प्रयोग आर्यावर्त के राजाओं प्रति हुआ था।

---

१. महाकवि माघ ने इसी बात को निम्नलिखित श्लोक में कितनी सुन्दर रीति से अभिव्यक्त किया है—

तीक्ष्णा नारुन्तुदा बुद्धिः, शान्तं कर्म स्वभावजम्।
नोपतापि मनः सोष्म, वागेका वाग्मिनः सतः॥

(३) परिचारकीकृत = सेवक बनाना । वन के नरेशों के साथ इसका व्यवहार हुआ । :

(४) करदानाज्ञाकरण प्रणामागमन = कर देना, आज्ञा मानना तथा प्रणाम करना । प्रत्यन्त नृपति तथा गण-राज्यों के साथ समुद्रगुप्त ने इस नीति के द्वारा बर्ताव किया था ।

(५) भ्रष्टराज्योत्सन्नराजवंशप्रतिष्ठा—नष्ट राज्यों की पुनः स्थापना करना । दक्षिणापथ के राजाओं के साथ यह नीति व्यवहृत हुई थी । इससे समुद्रगुप्त के विशाल-हृदय का परिचय मिलता है ।

(६) *आत्मनिवेदन, कन्योपायन-दान, गरुत्मदङ्क-स्वविषयभुक्ति-शासन-याचना*—आत्मसमर्पण, कन्या का विवाह, गरुड़ की मुद्रा से अंकित अपने विषय तथा भुक्ति में राजाज्ञा की भिक्षा माँगना[1] । समुद्रगुप्त ने इस नीति का व्यवहार विदेशी राजाओं के साथ भी किया था ।

(७) प्रत्यर्पण[2]—विजित राजाओं के छीने हुए धन को पुनः लौटा देना ।

हरिषेण ने वर्णन किया है कि समुद्रगुप्त कुबेर, वरुण तथा इन्द्र के समान था तथा उसके सेवक विजित राजाओं के धन को लौटाने में तल्लीन थे[3] ।

उपर्युक्त विभिन्न व्यवहृत नीतियों के वर्णन से समुद्रगुप्त की नीति-निपुणता तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति-कुशलता का पूर्ण परिचय मिलता है । अतः यदि समुद्रगुप्त को कुटिल राजनीतिज्ञ कहा जाय तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं होगी । सम्राट् अशोक के पश्चात् समुद्रगुप्त ने पुनः एकराट् साम्राज्य की स्थापना की । इसने ही सर्वप्रथम स्वतन्त्रता का पुनः शंखनाद किया था । अपनी अद्भुत नीति-निपुणता के कारण इसने गुप्त-साम्राज्य की नींव इतनी सुदृढ़ बनाई कि कई शताब्दियों तक प्रबल पराक्रमी शत्रु इसे हिलाने में समर्थ नहीं हो सके । इसने चञ्चला राजलक्ष्मी को भी अपनी परिचारिका बनाया था इसी कारण यह राज्यलक्ष्मी इसके वंशजों को सैकड़ों वर्षों तक नहीं छोड़ सकी । इसने अपने राज्य में इतना सुदृढ़ शासन स्थापित किया कि खुले राजद्रोह की तो कथा ही क्या, कोई भी इसके विरुद्ध अपना सिर तक नहीं उठा सका । दुष्टों को दण्ड देकर तथा सज्जनों की रक्षा कर इसने अपने राज्य में शान्ति-स्थापना की । यदि गुप्त-साम्राज्य को चिर-स्थायिता प्रदान करने का किसी को श्रेय है तो सब से प्रधान श्रेय सम्राट् समुद्रगुप्त को ही है ।

---

१. कुछ विद्वानों में 'गरुत्मदङ्क-स्वविषयभुक्ति-शासनयाचना' के अर्थ में गहरा मतभेद है । जायसवाल महोदय का मत है कि विदेशियों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर गरुड़ध्वज से अङ्कित समुद्रगुप्त के सिक्कों को अपने राज्य (विषय-भुक्ति) में प्रचलित करने की आज्ञा माँगी थी ।

२. स्वभुजबलविजितानेकनरपतिविभवप्रत्यर्पणानित्यनित्यव्यापृतायुक्तपुरुषस्य । —प्रयाग की प्रशस्ति ।

३. धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य । —वही ।

ऊपर लिखा जा चुका है कि सम्राट् समुद्रगुप्त कितना शक्तिशाली तथा प्रभावशाली राजा था। बहुधा देखा जाता है कि अनेक महाराजा सर्व-सम्पत्ति-सम्पन्न होने पर भी अपने पारिवारिक जीवन से सुखी नहीं रहते हैं। उनका पारिवारिक जीवन कष्टमय रहता है तथा उनको कभी शान्ति नहीं मिलती। कभी सन्तानहीन होने का कष्ट उन्हें सताता है तो कभी स्त्री का तथा दुष्टा होने का दुःख उन्हें पीड़ित करता है। कभी भाई के द्वारा राज्य-षड्यन्त्र की चिन्ता उन्हें लगी रहती है तो कभी भोजन में विष का सन्देह उनके हृदय को सदा सशंकित बनाये रहता है। कौन नहीं जानता कि पुत्रहीन दिलीप को दुःख से दग्ध गर्म आँसू पीने पड़े थे तथा अपनी सन्तान के कुपुत्र होने के कारण शाहजहाँ को कारागार के भीतर नरक की यातना सहनी पड़ी थी। परन्तु ऐसी दुर्घटनाएँ सम्राट् समुद्रगुप्त के जीवन में कभी नहीं हुईं। न तो उसे पुत्रों की कमी थी और न सत्पुत्रों का अभाव। उसके राज्य-वैभव से सम्पन्न गृह में अनेक पुत्र, पौत्र नित्य क्रीड़ा किया करते थे तथा उसकी व्रतिनी कुलवधू उसे नित्य आनन्द देती थी। एरण की प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के पारिवारिक जीवन के विषय में क्या ही अच्छा लिखा है—

पारिवारिक जीवन

> ....स्य पौरुषपराक्रमदत्तशुल्का,
> हस्त्यश्वरत्नधनधान्यसमृद्धियुक्ता।
> ...गृहेषु मुदिता बहुपुत्र-पौत्र-
> संक्रामणी कुलवधूः व्रतिनी निविष्टा॥

जब समुद्रगुप्त के सुख का अनुमान किया जाता है तो ईर्ष्या सी उत्पन्न होने लगती है। एकछत्र साम्राज्य, समस्त सामन्त राजाओं का स्वामित्व-स्वीकार, समस्त भारत में यशःस्थापना, अश्वमेध-पराक्रम में प्रसिद्धि, दीनानाथों का शरणत्व, चारों ओर प्रभाव, तिस पर भी घर में अनेक सुयोग्य पुत्र, पौत्र तथा व्रतिनी कुलवधू, इन सबका सुन्दर संयोग। अब इससे अधिक क्या चाहिए था। अवश्य ही बुढ़ापे में प्रबल प्रतापी सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) जैसे सुयोग्य, सुशासक पुत्र को पाकर समुद्रगुप्त अपने को कृतकृत्य समझता होगा। अपनी व्रतिनी कुलवधू का स्मरण तथा दर्शन अवश्य ही उसे आनन्द-सागर में डुबो देता होगा।

राजनैतिक जीवन में प्रसिद्धि तथा पारिवारिक जीवन के आनन्द की कल्पना से अवश्य समुद्रगुप्त का हृदय स्वर्गीय आनन्द से फूला न समाता होगा। चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसा जिसे पुत्ररत्न हो उसके भाग्य से देवता भी ईर्ष्या करते होंगे। समुद्रगुप्त के परिवार में कोई भी व्यक्ति (भाई आदि) ऐसा न था जिसके कारण उसको कुछ भी कष्ट हुआ हो। यदि उसके जीवन पर हम दृष्टिपात करते हैं तो हमें उसका जीवन आदि से अन्त तक सुखमय ही मिलता है। वस्तुतः संसार के इतिहास में समुद्रगुप्त के समान भाग्यशाली विरले ही पुरुष मिलेंगे। अब अन्त में हम भी हरिषेण का निम्नाङ्कित श्लोक देकर इस पुनीत चरित्र को समाप्त करते हैं।

यस्य—

प्रदानभुजविक्रमप्रशमशास्त्रवाक्योदयै-
रुपर्युपरि संचयोच्छ्रितमनेकमार्गं यशः ।
पुनाति भुवनत्रयं पशुपतेर्जटान्तर्गुहा-
निरोधपरिमोक्षशीघ्रमिव पाण्डु गाङ्गं पयः ॥

गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के पश्चात् इस विशाल गुप्त-साम्राज्य का कौन उत्तराधिकारी हुआ, इस विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है। गुप्त लेखों से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त का पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य अपने पिता के बाद राजसिंहासन पर बैठा। परन्तु आधुनिक काल में ऐतिहासिक पण्डितों ने गुप्तों के एक नये राजा को खोज निकाला है जिसे वे रामगुप्त के नाम से सम्बोधित करते हैं। उन विद्वानों का कथन है कि समुद्रगुप्त तथा द्वितीय चन्द्रगुप्त के मध्यकाल में रामगुप्त नामक एक गुप्त-नरेश ने अल्प समय तक शासन किया। रामगुप्त की ऐतिहासिक स्थिति के न माननेवाले विद्वानों का कथन है कि गुप्त-लेखों में इस राजा का उल्लेख नहीं मिलता और न इसी का कोई लेख मिला है। जितने साहित्यिक प्रमाण हैं वे छठीं शताब्दी के पूर्व के नहीं हैं। परन्तु ऐसे विवाद में कोई सार नहीं है। अनेक गम्भीर तथा प्रामाणिक साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर इस नये राजा रामगुप्त की स्थिति मानने में तनिक बाधा नहीं प्रकट होती। इन साहित्यिक प्रमाणों की पुष्टि एक काच नामक सिक्के से होती है जो रामगुप्त का (काच का नहीं) सिक्का है। इस संक्षिप्त उपक्रम के बाद रामगुप्त की ऐतिहासिकता पर विचार किया जायगा।

रामगुप्त

रामगुप्त के आधारभूत प्रमाणों पर विचार करने से पूर्व इसके संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण से परिचित होना अधिक उचित है। उन प्रमाणों के अध्ययन से पता लगता है कि गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के बाद उसका पुत्र रामगुप्त (शर्मगुप्त) राजसिंहासन पर बैठा। यह अत्यन्त बुज़दिल तथा कमज़ोर हृदय का मनुष्य था। उसके समकालीन शक राजा ने रामगुप्त पर आक्रमण किया। सन्धि के फल-स्वरूप इस गुप्त नरेश ने अपनी साध्वी पत्नी ध्रुवदेवी को शकों को समर्पित करने का वचन दिया था। इस सन्धि के बाद रामगुप्त के छोटे भाई चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ध्रुवदेवी का वेष बनाकर शकों के समीप जाने का निश्चय किया। ऐसा करने में वह सफल हुआ तथा उसने शकपति को मार डाला। इस घटना के पश्चात् रामगुप्त —चन्द्रगुप्त या उसके प्रोत्साहक द्वारा—मार डाला गया। पति (रामगुप्त) की मृत्यु के उपरान्त महारानी ध्रुवदेवी ने अपने देवर (चन्द्रगुप्त द्वितीय) से विवाह कर लिया। रामगुप्त के बाद यही चन्द्रगुप्त राजसिंहासन पर बैठा। गुप्तों के इस नये राजा रामगुप्त की जीवन-सम्बन्धी इतनी ही घटनाओं का वर्णन मिलता है जिसका अनेक साहित्यिक ग्रंथकारों ने अपनी पुस्तकों में उल्लेख या उद्धरण किया है।

रामगुप्त की ऐतिहासिक वार्त्ता

रामगुप्त के उपर्युक्त संक्षिप्त चरित्र-चित्रण के आधारभूत प्रमाणों का यदि सूक्ष्म रीति से अध्ययन किया जाय तो समस्त वार्ता स्वतः मालूम हो जायगी। इनका विचार तिथिक्रम के अनुसार किया जायगा।

साहित्यिक प्रमाण

सबसे पहला संस्कृत ग्रंथ 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक नाटक है जिसमें रामगुप्त की जीवन-सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन मिलता है। यह नाटक अभी तक अप्राप्य है। परन्तु इसके थोड़े से उद्धरण रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र कृत 'नाट्यदर्पण' नामक ग्रंथ में मिलते हैं। प्रश्न यह प्रस्तुत होता है कि 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नाटक का रचयिता कौन है तथा वह किस शताब्दी में वर्त्तमान था। विद्वानों का अनुमान है कि मुद्राराक्षस के कर्त्ता विशाखदत्त ही इस अप्राप्य नाटक के रचयिता हैं। विशाखदत्त अधीन राजवंश में उत्पन्न हुए थे तथा छठीं शताब्दी में वर्तमान थे। यह नाटककार राजनीति, और शृङ्गारशास्त्र का ज्ञाता तथा अनेक नाटकों का रचयिता था[1]। ऐसे राजवंश में उत्पन्न तथा विद्वान् की लेखनी को अप्रामाणिक मानना न्याय-रहित है। अतएव 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के उन ऐतिहासिक उद्धरणों को यहाँ उद्धृत किया जाता है[2]।

देवीचन्द्रगुप्तम्

(१) यथा देवीचन्द्रगुप्ते द्वितीयेऽङ्के प्रकृतीनामाश्वासनाय शकस्य ध्रुवदेवी-संप्रदाने अभ्युपगते राज्ञा रामगुप्तेनारिवधनार्थं यियासुः प्रतिपन्नध्रुवदेवीनेपथ्यः कुमारचन्द्र-गुप्तो विज्ञपयन्नुच्यते—

एतत्स्त्रीवेषधारि चन्द्रगुप्तबोधनार्थमभिहितमपि विशेषणसाम्येन ध्रुवदेव्या स्त्रीविषय प्रतिपन्नम्, इति।

(२) आर्तिः खेदो व्यसनमिष्टाद्विरोधः यथा देवीचन्द्रगुप्ते राजा चन्द्रगुप्तमाह—

अत्र स्त्रीवेषनिह्नुते चन्द्रगुप्ते प्रियवचनैः स्त्रीमत्ययाद्ध्रुवदेव्या गुरुमनुसंतापरूपस्य व्यसनस्य संप्राप्तिः।

(३) इयमुन्मत्तस्य, चन्द्रगुप्तस्य मदनविकारगोपनपरस्य मनोजशत्रुभीतस्य राजकुलगमनार्थे निष्क्रमसूचिकेति।

(४) यथा देवीचन्द्रगुप्ते चन्द्रगुप्तो ध्रुवदेवीं दृष्ट्वा स्वगतमाह—इयमपि सा देवी तिष्ठति। यैषा

रम्यां चारतिकारिणीं च करुणाशोकेन नीतां दशाम्
तत्कालोपगतेन राहुशिरसा गुप्तेव चान्द्रीकला।
पत्युः क्लीवजनोचितेन चरितेनानेन पुंसः सतः
लज्जाकोपविषादभीत्यरतिभिः क्षेत्रीकृता ताम्यते।

अत्र ध्रुवदेव्यभिप्रायस्य चन्द्रगुप्तेन निश्चयः।

---

१. कुर्वन् बुद्ध्या विमर्शं प्रसृतमपि पुनः संहरन्कार्यजातम्
कर्ता वा नाटकानामिमगनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा। —मुद्राराक्षस ४।३

२. जरनल एशियाटिक १९२३ पृ० २०१—०६।

देवीचन्द्रगुप्तम् के उद्धरणों के पश्चात् दूसरा शक-रामगुप्त की लड़ाई का प्रमाण बाणकृत हर्षचरित (उ० ६) में पाया जाता है। इसके वर्णन से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी का स्वाँग बनाकर शक राजा को मार डाला।

हर्षचरित

बाण सातवीं सदी के सम्राट् हर्षवर्धन के राजकवि थे। जो कुछ इन्होंने वर्णन किया है वह सब स्वयं दरबार में रहने के कारण ये जानते होंगे। हर्षचरित में निम्नलिखित वर्णन मिलता है :—

अरिपुरे च परकलत्रं कामुकं कामिनीवेषगुप्तः चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयत्।

बाणकृत हर्षचरित पर टीका करते हुए शंकरार्य ने उपरिलिखित बाण के उद्धरण पर भी ठीक उसी प्रकार की ऐतिहासिक बातों से पूर्ण टीका लिखी जो वार्ता बाण ने लिखी है। शंकरार्य नवीं शताब्दी का टीकाकार है जिसने कामंदक नीतिसार पर भी टीका लिखी। इस पुस्तक की रचना गुप्त काल में हुई थी। अतएव राजनीतिज्ञ टीकाकार उस समय की घटनाओं से सम्भवतः परिचित अवश्य होगा। बाण के बाद चौथा प्रमाणयुक्त विवरण शंकरार्य से ही मिलता है। इन्होंने टीका यों की है—

टीकाकार शंकरार्य

शकानामाचार्यः शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानः चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेषजनपरिवृतेन व्यापादितः।

इन तीनों प्रमाणों के अतिरिक्त चौथा वर्णन राजशेखर-कृत काव्यमीमांसा में मिलता है। दसवीं शताब्दी के कन्नौज के शासक यशोवर्मा के राजकवि राजशेखर ने वस्तुस्वरूप का उदाहरण देते हुए अपनी पुस्तक में एक श्लोक लिखा है जिससे रामगुप्त की जीवन-सम्बन्धी घटनाओं का पता लगता है। इसके वर्णन से ज्ञात होता है कि हिमालय पर्वत-माला में रामगुप्त तथा शकों (खसाधिपति) में युद्ध हुआ। शर्मगुप्त ने ध्रुव-स्वामिनी खस राजा को दे दी। वहाँ एक राजा का यश स्त्रियाँ गीतों द्वारा वर्णन करती हैं—

काव्यमीमांसा

दत्त्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीम्
यस्मात् खण्डितसाहसो निववृते श्रीशर्मगुप्तो नृपः।
तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकोणक्वणत्किन्नरे
गीयन्ते तव कार्तिकेयनगर स्त्रीणां गणैः कीर्तयः॥

इन सब साहित्यिक प्रमाणों के साथ-साथ राजा भोज के शृंगारप्रकाश में कुछ उद्धरण मिलते हैं जो इन सब प्रमाणों को सबल बनाते हैं। शृंगारप्रकाश में देवी-चन्द्रगुप्तम् से ही उद्धृत वाक्य मिलते हैं। भोज ११वीं सदी के धार के राजा थे। राजा होते हुए भोज बहुत बड़े विद्वान् तथा अनेक ग्रंथों के रचयिता थे। इनके उद्धृत वाक्य से स्पष्ट ज्ञात होता है कि स्त्रीवेषधारी चन्द्रगुप्त ने शक राजा को मार डाला।

शृंगार-प्रकाश

स्त्रीवेषनिह्नुतः चन्द्रगुप्तः शत्रोः स्कन्धावारमलिपुरं शकपतिवधायागमत्।

यथा देवीचन्द्रगुप्ते शकपतिना परं कृच्छ्रमापादितं रामगुप्तस्कन्धावाराम् अनुजिघृक्षुरुपायान्तराऽगोचरे प्रतिकारे निशि वेतालसाधनम्। अध्यवस्यन् कुमार चन्द्रगुप्त आत्रेयेण विदूषकेन उक्तः।

इन साहित्यिक प्रमाणों के अतिरिक्त कुछ ऐतिहासिक उल्लेख भी मिलते हैं जिनके वर्णन से इस घटना की पुष्टि होती है। दक्षिण के राजा राष्ट्रकूटवंशज अमोघवर्ष प्रथम का एक लेख मिला है[1]। इस संजन ताम्रपत्र (शक० ७६५) के वर्णन से ज्ञात होता है कि किसी दानी गुप्त-नरेश ने अपने भाई का राजसिंहासन ले लिया तथा उसकी दीन स्त्री को भी ग्रहण किया। इस गुप्त राजा का नामोल्लेख नहीं मिलता परन्तु ताम्रपत्र में अमोघवर्ष प्रथम उस गुप्त-नरेश से भी अधिक दानशील होने का दावा रखता है। इस लेख में सम्भवतः द्वितीय चन्द्रगुप्त का निर्देश किया गया है जिसने रामगुप्त की स्त्री से विवाह किया तथा जो उसके बाद राज्य का उत्तराधिकारी हुआ।

ऐतिहासिक प्रमाण

संजन प्लेट

संजन प्लेट के अतिरिक्त एक अन्य कथानक का पता चलता है जिससे उपर्युक्त घटनाओं की पुष्टि होती है। यह ऐतिहासिक कथानक १२वीं सदी के मुजमलुत्तवारीख में वर्णित है[2]। इसके वर्णन के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस इतिहासज्ञ ने इस वार्ता को उसी प्राचीन संस्कृत नाटक से लिया है और कथानक का मूल आधार देवीचन्द्रगुप्तम् ही है। वह वृत्तान्त इस प्रकार दिया गया है,—

मुजमलुत् तवारीख

राजा रव्वाल तथा बरकमारीस दो भाई थे। रव्वाल के शासन-काल में स्वयंवर में बरकमारीस को एक राजकुमारी मिली। राजकुमारी के साथ घर लौटने पर रव्वाल उस पर मोहित हो गया तथा राजकुमारी से स्वयं विवाह कर लिया। बरकमारीस तदनन्तर विद्याभ्यास में लग गया और एक सुप्रसिद्ध विद्वान् हुआ। रव्वाल के पिता के शत्रु ने उस पर आक्रमण किया। पराजित होने पर राजा अपने भ्राता तथा समस्त सरदारों को लेकर पर्वत की चोटी पर गया जहाँ एक दुर्ग था। उस स्थान पर रव्वाल ने सन्धि के लिए प्रार्थना की। सन्धि-स्वरूप रव्वाल ने अपनी स्त्री तथा सरदारों की पुत्रियों को शत्रुओं को समर्पण करने का वचन दिया। इस वृत्तांत को सुनकर बरकमारीस ने राजा से आज्ञा माँगी कि मुझे तथा समस्त सरदार-पुत्रों को कुमारियों का स्वाँग बनाकर तथा एक अस्त्र के साथ शत्रु राजा के पास भेजा जाय। ऐसा वेष बनाने पर राजा बरकमारीस को अपने पास रख लेगा तथा दूसरों को अपने सरदारों में बाँट देगा। उसने सोचा कि जब राजा मुझे एकान्त में ले जायँगे तो मैं (बरकमारीस) अस्त्र से शत्रु को मार डालूँगा। शत्रु की मृत्यु के साथ बिगुल बजेगा और उसे सुनकर समस्त नवयुवक शत्रुओं पर टूट पड़ेंगे। बरकमारीस की आवाज़ को सुनते ही सैनिक शत्रु-सेना पर धावा करेंगे जिससे रव्वाल की विजय होगी।

---

१. ए० इ० भा० १८ पृ० २४८।

२. इलियट—हिस्ट्री आफ इंडिया भा० १ पृ० ११०-१२।

इस युक्ति के सफल होने पर रव्वाल विजयी हुआ। इस प्रकार उपाय करने पर भी वज़ीर ने वरकमारीस के प्रति रव्वाल के दिल में सन्देह पैदा कर दिया। इस कारण वह पागल हो गया और शहर में उन्मत्त की तरह घूमने लगा। संयोगवश इसी वेष में वरकमारीस एक दिन राजमहल में प्रवेश कर गया। वहाँ कुछ साधारण कार्य के पश्चात् उसने धोखे से राजा को मार डाला। वरकमारीस ने रव्वाल के मृत शरीर को सिंहासन से नीचे गिरा दिया। तदनन्तर वह वज़ीर तथा जनता के सम्मुख राजसिंहासन पर बैठा और रानी से विवाह कर लिया। वरकमारीस का प्रताप दूर तक फैला और समस्त भारत उसके अधिकार में हो गया।

यह वृत्तान्त रामगुप्त तथा शकों की लड़ाई और विक्रमादित्य तथा ध्रुवदेवी की ऐतिहासिक वार्ता को लक्ष्य करता है। मुजमलुत्तवारीख़ के रचयिता ने उसी घटना का वर्णन कुछ भिन्नता के साथ दिया है। इस कथानक में रव्वाल के नाम की समता रामगुप्त से करना कठिन है परन्तु वरकमारीस की समता विक्रमादित्य से ठीक ठीक होती है। देवीचन्द्रगुप्तम् के उद्धृत अंशों को पढ़ने से सब बातें स्पष्ट हो जाती हैं तथा दोनों वर्णनों में बहुत अधिक समता है।

इन समस्त ऐतिहासिक प्रमाणों पर ध्यान देने से रामगुप्त की जीवन-सम्बन्धी सच्ची घटनाओं का ज्ञान होता है। इन सब विद्वानों तथा राजनीति के पण्डितों के कथित या उद्धृत अंशों की प्रामाणिकता में सन्देह नहीं होता।

प्रमाणों की प्रामाणिकता

यद्यपि साहित्यिक प्रमाण ईसा की छठी सदी से पूर्व के नहीं हैं परन्तु उस समय जो जनश्रुति वर्तमान थी उसको भी सर्वथा निराधार नहीं माना जा सकता। विशाखदत्त चन्द्रगुप्त की जीवन घटनाओं से अनभिज्ञ न होगा। देवीचन्द्रगुप्तम् के कथानक को सभी ने—बाण, शङ्करार्य, भोज तथा सजन प्लेट आदि ने—सत्य माना तथा उसका परिपोषण किया है। इन समस्त प्रमाणों के अध्ययन से यह प्रकट होता है कि *रामगुप्त अत्यन्त शक्तिहीन और असमर्थ राजा था*[१]। उसके *राज्य* पर शकों ने आक्रमण किया[२]; परन्तु राज्य को सुरक्षित रखने के लिए उसने शत्रुओं से सन्धि कर ली। सन्धि के परिणाम स्वरूप उसने अपनी पत्नी ध्रुवदेवी को उन शकों को समर्पण करना स्वीकार कर लिया। उसका कनिष्ठ भ्राता चन्द्रगुप्त अपने कुल की मर्यादा का ऐसा पतन न देख सका। उस वीर तथा साहसी योद्धा[३] ने ध्रुवदेवी का वेष बनाकर शत्रुओं के शिविर में जाने का निश्चय किया ताकि उन दुष्ट नीचों (शकों) के राजा को मार डाले[४]। वह (चन्द्रगुप्त) स्त्री-वेषधारी सैनिकों के साथ[५] वहाँ पहुँचा जहाँ पर शक

---

१. पत्युः क्लीबजनोचितेन चरितेनानेन पुंसः सतः। उद्धरण नं० ४।—देवीचन्द्रगुप्तम्।

२. प्रकृतीनामाश्वसनाय शकस्य ध्रुवदेवीं संप्रदानेऽभ्युपगते—उ० नं० १।

३. एकस्यापि विधूतकेसरसटा भारस्य भीता मृगाः।
   गन्धादेव हरेर्द्रवन्ति बहवो वीरस्य किं संख्यया। - शृङ्गार-प्रकाश।

४. अरिवधनार्थं—उ० नं० १।

५. स्त्रीवेषपरिवृतेन (शङ्करार्य टीका)।

राजा ध्रुवदेवी (ध्रुवस्वामिनी) के आगमन का रास्ता देख रहा था। इस दल के पहुँचने पर ज्योंही शक राजा समीप आया, चन्द्रगुप्त ने उसे मार डाला।

उपर्युक्त रामगुप्त और शकों के युद्ध का वर्णन सर्वत्र मिलता है। परन्तु इन उद्धृत अंशों में दो नाम विलक्षण मिलते हैं जिनका निराकरण करना आवश्यक है। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में रामगुप्त के लिए शर्मगुप्त तथा शक के लिए खस का प्रयोग किया है। बहुत सम्भव है कि रामगुप्त का दूसरा नाम शर्मगुप्त हो[1]। डा० भण्डारकर का मत है कि शक शब्द का परिवर्तित रूप खस है[2]। परन्तु प्रश्न यह होता है कि शक कौन थे। शक शब्द का प्रयोग साधारणतया भारत के बाहर से आनेवाली जातियों के लिए होता है। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के समय में पश्चिमी भारत में शक क्षत्रप शासन करते थे। इसके अतिरिक्त पंजाब की शक-जातियों (शकमुरुण्डैः) से इसकी मित्रता हो गई थी। प्रसिद्ध विद्वान् बैनर्जी महोदय का मत था कि समुद्रगुप्त की प्रयागवाली प्रशस्ति में उल्लिखित कुषाण जाति ही रामगुप्त के शत्रु शक थे[3]। पश्चिमी शक क्षत्रप का शासन केवल सौराष्ट्र में था। सम्भव है कि इसी जाति से रामगुप्त को युद्ध करना पड़ा हो। डा० अलटेकर इसी शक-क्षत्रप जाति की समता साहित्य में उल्लिखित शकों (रामगुप्त के शत्रु) से करते हैं[4]। उनका कथन है कि राजसिंहासन पर बैठने पर द्वितीय चन्द्रगुप्त ने पृथ्वी जीतने की अभिलाषा[5] से या पूर्व-शत्रुता के कारण इन शकों को भारतवर्ष से निकाल बाहर करने की ठानी। उसने गुजरात तथा मालवा विजय कर और बल्ख तक आक्रमण करके इस शक जाति का सदा के लिए नाश कर डाला[6]। जो हो, परन्तु इस सिद्धान्त के मानने में एक कठिनाई पड़ती है। पश्चिमी शक-क्षत्रपों का बल कितना भी बढ़ गया हो, लेकिन यह सम्भव नहीं कि क्षत्रपों ने सौराष्ट्र से आकर हिमालय में (रामगुप्त व शकों का युद्धस्थान) रामगुप्त का सामना किया हो। उस समय पंजाब में छोटे कुषाणों का राज्य था। यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि पंजाब में शासन करनेवाली किसी बाहरी जाति ने हिमालय के पर्वतीय प्रदेश में रामगुप्त से युद्ध किया हो। असावधानी के कारण व्यापक शक शब्द से उसका उल्लेख किया गया है।

शक कौन थे?

रामगुप्त की ऐतिहासिक वार्ता के मूलाधार साहित्यिक प्रमाणों में सर्वत्र उस स्थान का वर्णन नहीं मिलता है जहाँ पर रामगुप्त तथा शकों में युद्ध हुआ था। राजशेखर-कृत काव्य-

---

१. जे० बी० ओ० आर० एस० भा० १४ पृ० २४२।

२. मालवीय कमेमोरेशन वाल्यूम पृ. १८४।

३. दैवपुत्र शाहि शाहानुशाहि शकमुरुण्डैः (फ्लीट-गु० ले० नं० १)

४. जे० बी० ओ० आर० एस० भा० १४ पृ० २५१।

५. 'कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन'। —उदयगिरि का लेख (गु० ले० नं०. ६)

६. उदयगिरि का लेख व मेहरौली का लौहस्तम्भ-लेख।

—(का०, इ० इ० भा० ३ नं० ६, ३२)

मीमांसा में केवल इसका उल्लेख मिलता है[१]। इस अंश के वर्णन से ज्ञात होता है कि हिमालय के पर्वतीय प्रदेश में कार्तिकेयनगर के समीप यह युद्ध हुआ था जिस स्थान की स्त्रियाँ एक राजा के यश को गाती हैं। गज़ेटियर (भा० ११ पृ० ४६३) से ज्ञात होता है कि कार्तिकेयनगर गोमती नदी की घाटी के उत्तर में स्थित था। इसका आधुनिक नाम कार्तिकेयपुर है। यह स्थान हिमालय पर्वत में स्थित संयुक्त-प्रांत के अलमोड़ा ज़िले के अन्तर्गत बैजनाथ ग्राम के समीप था। इस स्थान का नाम कुछ राजाओं के लेखों में उल्लिखित है[२]। इस बात की पुष्टि मुजमलुत्तवारीख़ के वर्णित वृत्तांत से होती है। उसमें वर्णन मिलता है कि राजा रव्वाल शत्रुओं से पराजित होने पर अपने भ्राता (बरकमारीस) तथा सरदारों को लेकर पर्वत की चोटी पर गया। उस चोटी पर एक दुर्ग था जहाँ जाकर रव्वाल ने सन्धि के लिए प्रार्थना की। इन दोनों प्रमाणों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि रामगुप्त तथा शकों का युद्धस्थान हिमालय पर्वत पर कार्तिकेय नामक स्थान था। डा० भण्डारकर का कथन है कि कार्तिकेयनगर कर्तृपुर नामक प्रदेश में स्थित था जो समुद्रगुप्त के समय एक प्रत्यन्त राज्य था[३]। इसका नाम प्रयाग की प्रशस्ति में मिलता है[४]।

युद्ध-स्थान

समस्त साहित्यिक प्रमाणों में चन्द्रगुप्त का नाम आता है जिसने शक राजा को मार डाला। परन्तु अमोघवर्ष प्रथम के संजन प्लेट में चन्द्रगुप्त का नाम नहीं मिलता। उस प्लेट के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि वह गुप्त नरेश बहुत दानी था जिसने अपने भ्राता के राजसिंहासन तथा स्त्री को ग्रहण कर लिया था। डा० भण्डारकर का मत है कि सजन प्लेट में उल्लिखित गुप्त नरेश स्कन्दगुप्त है[५] परन्तु यह सिद्धान्त माननीय नहीं है। संजन प्लेट के वर्णन से पता चलता है कि गुप्त नरेश ने लाखों रुपए दान किये थे[६]। गुप्त नरेश स्कन्दगुप्त के शासनकाल में हूणों से युद्ध हुआ था जिसका उसकी मुद्रानीति पर प्रभाव पड़ा। स्कन्दगुप्त के शासन में विशुद्ध सुवर्ण-मुद्राओं के साथ-साथ मिश्रित धातु के सिक्के तैयार होने लगे। ऐसी परिस्थिति में संजट प्लेट के दान का वर्णन स्कन्दगुप्त के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता। इसके विपरीत गुप्त राजा विक्रमादित्य के दान तथा गुणग्राहकता का वर्णन अनेक स्थानों में मिलता है। हुनसांग ने गुप्त राजा विक्रमादित्य द्वारा कितने लाखों रुपयों को दरिद्रों में बँटवाने का

चन्द्रगुप्त = द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य

---

१. तस्मिन्नेव हिमालये गिरिगुहाकोणक्वणत्किन्नरे
गीयन्ते तव कार्तिकेयनगर-स्त्रीणां गणैः कीर्तयः ॥

२. इ० ए० भा० २५ पृ० १७८। ए० इ० भा० १३ पृ० ११५।

३. मालवीय कामोमेरेशन वाल्यूम पृ० १८६।

४. का० इ० इ० भा० ३ नं० १।

५. ए० इ० भा० १७ पृ० २४८।

६. लक्षं कोटिमलेखयन्किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः।

वर्णन किया है[1]। इससे ज्ञात होता है कि ह्वेनसांग के समय (सातवीं सदी) में विक्रमादित्य नामक गुप्त-नरेश अपनी दानशीलता के लिए प्रसिद्ध था। गुप्त राजाओं की वंशावली में स्कन्दगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विक्रमादित्य की पदवी धारण की थी। परन्तु उपर्युक्त कथन के अनुसार स्कन्दगुप्त के लिए संजन प्लेट का वर्णन अप्रयुक्त है। अतएव यह प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ही का निर्देश संजन प्लेट में किया गया है। फ़ाहियान के वर्णन से अमोघवर्ष प्रथम के कथन की पुष्टि होती है। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासन-काल में चीनी यात्री फ़ाहियान का कथन है कि प्रजा वैभव-सम्पन्न तथा सुखी थी। इस गुप्त सम्राट् की विद्वत्ता, वीरता तथा गुणग्राहकता का वर्णन भी पर्याप्त रूप से प्राप्त है[2]। इस राजा के मंत्री बड़े बड़े विद्वान् थे[3] तथा इसके दरबार में अनेक महान् कवियों (कालिदास आदि) को आश्रय मिला था। इन सब वृत्तांतों से प्रकट होता है कि साहित्य में उल्लिखित तथा संजन प्लेट में निर्दिष्ट राजा चन्द्रगुप्त गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त का पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही था। इसी राजा की कीर्ति कार्त्तिकेयनगर की स्त्रियाँ गाती थीं[4]।

चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवदेवी का विवाह

ऊपर बतलाया जा चुका है कि समस्त उद्धरणों में उल्लिखित चन्द्रगुप्त गुप्त नरेश चन्द्रगुप्त द्वितीय ही है। इसी का निर्देश संजन प्लेट में आया है। संजन प्लेट से उद्धृत अंश की प्रथम पंक्ति के वर्णन से ज्ञात होता है उस गुप्त नरेश ने अपने भाई का राज्य तथा पत्नी को हरण कर लिया था। शंकरार्य ने भी ध्रुवदेवी को चन्द्रगुप्त की भ्रातृजाया (रामगुप्त की स्त्री) बतलाया है परन्तु इन दो प्रमाणों के अतिरिक्त समस्त साहित्यिक उद्धरणों में यही वर्णन मिलता है कि चन्द्रगुप्त ध्रुवदेवी के वेष में शकराजा के समीप गया था। अतएव संजन प्लेट के आधार पर यह प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने भाई रामगुप्त को मारकर ध्रुवदेवी को ग्रहण किया था। इसकी पुष्टि कुछ अंशों में देवीचन्द्रगुप्तम् से भी होती है। पाँचवें अंक में चन्द्रगुप्त उन्मत्त होकर रामगुप्त के महल की ओर गया था[5]। यदि मुजमलुत्तवारीख में वर्णित कथानक पर ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट मालूम होता है कि वरकमारीस (चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य) ने महल में प्रवेश कर रव्वाल (रामगुप्त) को मार डाला तथा उसकी स्त्री से विवाह कर लिया। सम्भव है कि

---

१. वाटर – ह्वेनसांग जि० १ पृ० २११।

२. एकस्यापि विधूतकेसरसटाभारस्य भीता मृगाः।
गन्धादेव हरेर्द्रवन्ति बहवो वीरस्य किं संख्यया।—शृंगारप्रकाश।

३. अन्वयप्राप्तसचिवो व्यापृतसन्धिविग्रहः। २
शब्दार्थन्याय लोकज्ञः कविः पाटलिपुत्रकः॥ ४—उदयगिरि का गुहालेख।

४. गीयन्ते तत्र कार्त्तिकेयनगरस्त्रीभिः गणैः कीर्तयः।— काव्यमीमांसा।

५. स्वानुमत्तचन्द्रगुप्तस्य मदनविकारगोपनपरस्य मता राजकुलगमन (उ० न० ३) इयं स्वानाय-शंकिनः कृतोन्मत्तस्य कुमारचन्द्रगुप्तस्य (देवीचन्द्रगुप्ते)।

चन्द्रगुप्त ने स्वयं अपने भाई की हत्या न की हो (क्योंकि रामगुप्त के हृदय में छोटे भ्राता चन्द्रगुप्त के लिए स्नेह का भाव था[1]) परन्तु गुप्त रूप से उसके प्रेरकों के द्वारा यह कार्य हुआ हो।

कतिपय विद्वानों को यह संदेह होता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने रामगुप्त की विधवा स्त्री से विवाह नहीं किया था। परन्तु यह शंका निराधार है। विशाखदत्त तथा शकार्य के कथन (ध्रुवदेवी चन्द्रगुप्त के भ्राता रामगुप्त की स्त्री थी[2]) की प्रामाणिकता संजन प्लेट से होती है। अतएव ध्रुवदेवी रामगुप्त की स्त्री है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। गुप्त लेखों तथा वैशाली की मुद्राओं से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि ध्रुवदेवी चन्द्रगुप्त द्वितीय की पत्नी तथा उसके पुत्र कुमारगुप्त प्रथम व गोविन्दगुप्त की माता थी[3]। अतएव इन सबल प्रमाणों के सम्मुख तनिक भी संदेह नहीं रह जाता कि ध्रुवदेवी गुप्त राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय की स्त्री थी जिसे उसने रामगुप्त की मृत्यु के उपरान्त ही ग्रहण किया होगा। इस आधार पर यही कहा जायगा कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने *विधवा स्त्री ध्रुवदेवी से विवाह किया।*

ध्रुवदेवी के विधवा-विवाह को कोई व्यक्ति धर्मशास्त्र से असंगत नहीं कह सकता, परन्तु धर्मशास्त्रकारों ने ध्रुवदेवी के समान विधवा के विवाह का समर्थन किया है।

नियोग-प्रथा

धर्मशास्त्रों में एक विवाह की प्रथा का वर्णन है जिसे 'नियोग' कहते हैं। नियोग-प्रथा के अनुसार यदि स्त्री को कोई पुत्र न हो और उसका पति मर जाय तो वह स्त्री पति के छोटे भ्राता (देवर) से विवाह कर सकती है। गुप्तकालीन नारदस्मृति से इस सिद्धान्त के परिपोषक श्लोकों को उद्धृत करना परमावश्यक है—

अपत्यार्थं स्त्रियः सृष्टा स्त्री क्षेत्रं बीजिनो नराः।
क्षेत्र बीजवते देयं नाबीजो क्षेत्रमर्हति ॥ १२ । १९ ॥
मृते भर्तरि संप्राप्तान्देवरादीनपास्य या।
उपगच्छेत्परं कामात्सा द्वितीया प्रकीर्तिता । १२ । ५० ॥
नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते । १२ । ९७ ॥

इस स्मृति के सिद्धान्त (नियोग) के अनुसार ध्रुवदेवी के साथ चन्द्रगुप्त के विवाह का समर्थन पूर्ण रीति से होता है। देवीचन्द्रगुप्तम् के वर्णन से स्पष्ट प्रकट होता

---

१. त्यजामि देवीं तृणवत्त्वदन्तरे त्वया विना राजमिदं हि निष्फलम्।
ऊढेति देवां प्रति मे दयालुता त्वयि स्थितं स्नेहनिबन्धनं मनः। (देवीचन्द्रगुप्ते)

२. चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीम्।

३. परमभागवतस्य महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तस्य महादेव्यां ध्रुवदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज-श्रीकुमारगुप्तस्य।—का० इ० इ० भा० ३ नं० १०, १२, १३।

महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तपत्नी महाराजश्रीगोविन्दगुप्तमाता महादेवी ध्रुवस्वामिनी।

—*वैशाली की मुद्रा* (आर्क्यो० सर्वे रि० १९०३–०४)

है कि रामगुप्त नपुंसक पुरुष था। उसी प्रसंग में ध्रुवदेवी क्षेत्रीकृता भी कही गई है[1]। अतएव उस समय में प्रचलित नियोग-प्रथा तथा देवीचन्द्रगुप्तम् के वर्णन के आधार पर चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा ध्रुवदेवी का विवाह शास्त्र-सम्मत था।

परन्तु इस विवाह को शास्त्रानुसार सिद्ध करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि रामगुप्त चन्द्रगुप्त द्वितीय का जेठा भाई था या नहीं। राजनीति के अनुसार राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होता है। रामगुप्त के शासक होने से यह प्रकट होता है कि रामगुप्त गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र था। इस कथन का समर्थन समुद्रगुप्त के एरणवाले लेख से होता है। उसके वर्णन से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त के कई लड़के थे[2]। गुप्त लेखों में चन्द्रगुप्त द्वितीय गुप्त नरेश समुद्रगुप्त का पुत्र कहा गया है[3] तथा शंकरार्य-कृत टीका और अमोघवर्ष प्रथम के संजन प्लेट से पता चलता है कि रामगुप्त चन्द्रगुप्त का भ्राता था[4]। परन्तु रामगुप्त, शासक होने के कारण, चन्द्रगुप्त का ज्येष्ठ भ्राता प्रकट होता है। इसी के आधार पर यह कहना सर्वथा सत्य है कि ध्रुवदेवी ने अपने पति (रामगुप्त) के कनिष्ठ भ्राता (अपने देवर) चन्द्रगुप्त से विवाह किया था जो धर्मशास्त्र से सम्मत है। इन सब विवेचनों से यही सारांश निकलता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने भाई की मृत्यु के उपरान्त धर्मशास्त्र के आज्ञानुसार ध्रुवदेवी (रामगुप्त की स्त्री) के साथ विवाह किया था।

उपर्युक्त विस्तृत विवेचनों के अनन्तर किसी ऐतिहासिक पण्डित को रामगुप्त की स्थिति मानने में सन्देह न होना चाहिए। यद्यपि यह बात सत्य है कि गुप्त लेखों में इस राजा का एक लेख भी नहीं मिलता और न इसके नाम का किसी में उल्लेख है; परन्तु इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि गुप्त वंशवृक्ष में रामगुप्त के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रायः शिलालेखों में मुख्य वंशवृक्ष का ही उल्लेख मिलता है। शासन करनेवाले राजा के लेख में उसके पिता तथा पुत्र का ही उल्लेख किया जाता है। उसमें भाई के नाम का समावेश नहीं होता। गुप्त नरेश कुमारगुप्त प्रथम का भाई गोविन्दगुप्त भी था जिसका नाम वैशाली की मुहरों में लिखा मिलता है; परन्तु कुमारगुप्त के लेख में अपने पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा उनके पूर्वपुरुषों का नाम मिलता है। इसी तरह चन्द्रगुप्त के लेख में उसके भ्राता रामगुप्त का नाम नहीं मिलता। उसने अपने पिता समुद्रगुप्त का नाम दिया है। यदि रामगुप्त का कोई पुत्र शासक होता तो उसके लेख में रामगुप्त का नाम

रामगुप्त की मुद्रा

---

१ पत्युः क्लीवजनोचितेन चरितेनानेन पुंसः सतः
लज्जाकोपविषादभीत्यरतिभिः क्षेत्रीकृता ताम्यते।
अत्र ध्रुवदेव्यभिप्रायस्य चन्द्रगुप्तेन निश्चयः देवीचन्द्रगुप्ते।

२. गृहेषु मुदिता बहुपुत्रपौत्रसंक्रामिणी कुलवधूः व्रतिनी निविष्टा।—का० इ० इ० भा० ३० नं० २।

३. महाराजाधिराजश्रीसमुद्रगुप्तस्य पुत्रेण तत्परिगृहीतेन महादेव्यां दत्तदेव्यामुत्पन्नेन परमभागवतेन महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तेन।—का० इ० इ० भा० ३ नं० ४, १०, १३ आदि।

४. चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवी—टीका शंकरार्यकृत। हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवीं च दीनस्तथा।
—संजन प्लेट।

अवश्य मिलता; परन्तु उसके पश्चात् चन्द्रगुप्त द्वितीय ने राज्य किया। अतः उसके लेख में रामगुप्त को कोई स्थान नहीं मिल सकता।

परन्तु शिलालेखों में रामगुप्त का नाम न मिलने से यह नहीं माना जा सकता कि उसने शासन किया ही नहीं। रामगुप्त के लेख के अभाव में इसका एक ही प्रकार का सिक्का मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि थोड़े समय के शासन में रामगुप्त एक ही प्रकार की मुद्रा का निर्माण करा सका। मुद्राशास्त्रवेत्ता इसको 'काच का सिक्का' कहते थे। उन विद्वानों का यह अनुमान था कि इन सिक्कों को समुद्रगुप्त ने अपने भाई के नाम पर निकाला, या समुद्र की ही उपाधि का नाम काच था[1]। अतएव ये सिक्के समुद्रगुप्त के हैं। परन्तु अब यह मत मान्य नहीं है। गुप्तकालीन लिपि की ऐसी लिखावट है कि क के बदले र तथा च के स्थान पर म पढ़ा जा सकता है[2]। एलन के गुप्त सिक्कों के सूचीपत्र में एक काच का सिक्का है जिससे स्पष्टत: राम पढ़ सकते हैं[3]। ऐसी अवस्था में यही सत्य प्रतीत होता है कि काच नामधारी सिक्के रामगुप्त के हैं। उसके थोड़े समय के शासन-काल में एक बनावट के ही सिक्के तैयार हो सके। उसकी बनावट तथा तौल आदि सभी तत्कालीन गुप्त मुद्रानीति के अनुसार है[4]।

ऊपर बतलाया गया है कि रामगुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र था अतः उसके पश्चात् राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। समुद्रगुप्त के शासन का अन्त ई० स० ३७५ के लगभग हुआ। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा के लेख से ज्ञात होता है कि ई० स० ३८० (गु० स० ६१) में वह गुप्तसाम्राज्य का शासक था। अतः वह इससे पहले राजसिंहासन पर बैठा होगा। रामगुप्त ने समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय के मध्यकाल में राज्य किया था। अतएव यह प्रकट होता है कि रामगुप्त ने ई० स० ३७५ से ३८० के बीच शासन किया। बहुत सम्भव है, यह दो वर्ष (ई० स० ३७६—३७८) तक शासन करता रहा हो।

राज्य-काल

रामगुप्त की जीवन-सम्बन्धी ऐतिहासिक वार्ता के अध्ययन से उस राजा के चरित्र का स्वतः ज्ञान हो जाता है। इस स्थान पर रामगुप्त के चरित्र के विषय में कुछ कहना पुनरुक्ति होगी; तो भी कुछ कहे बिना संतोष नहीं होता। रामगुप्त अत्यन्त ही कायर, निर्बल तथा कमज़ोर हृदय का राजा था। जिस गुप्तवंश के सम्राट् समुद्रगुप्त ने समस्त भारत में दिग्विजय किया और जिसके प्रबल प्रताप से भयभीत होकर शकों ने जिसकी मैत्री की भिक्षा माँगी थी, उसी प्रतापी वंश में पैदा होकर रामगुप्त ने उन्हीं शकों से डरकर अपनी साध्वी पत्नी ध्रुवदेवी को समर्पण करने का वचन दे दिया था। जिस वंश की कीर्ति समस्त भारतवर्ष तथा बृहत्तर भारत (सिंहलद्वीप आदि) में विस्तृत थी उसी कुल

रामगुप्त का चरित्र

---

१. इ० ए० १९०२ पृ० २५९। एलन—गुप्त क्वायन भूमिका पृ० ३२।

२. मालवीय कामेमेरेशन वाल्यूम पृ० २०५।

३. एलन—गुप्त क्वायन प्लेट २ मुद्रा नं० ६।

४. इसका विस्तृत विवरण 'गुप्तों के सिक्के' में देखिए।

में उत्पन्न होनेवाले रामगुप्त का यह नीच कार्य उसकी कायरता का सूचक है। वह अपने उच्चवंश की मर्यादा का ध्यान न रखकर ऐसा कृत्य करने पर उद्यत हुआ जो सर्वदा के लिए गुप्त वंश के कलंकित करता; परन्तु अपने वंश की मर्यादा का पतन तथा प्रजा की हीनावस्था के चन्द्रगुप्त देख न सका। उसने शकों के नष्ट कर कुल का मान रक्खा। गुप्त वंश की मर्यादा के अकलंकित तथा सुरक्षित रखने का श्रेय चन्द्रगुप्त द्वितीय के है। उसके उद्योग ने रामगुप्त के हीन कार्य के कार्यान्वित होने का अवसर न दिया तथा सदा के लिए गुप्तवंश के कलंकित होने से बचाया। यही कारण है कि इसके यश के हिमालय पर्वत-श्रेणी में स्थित कार्तिकेयनगर की स्त्रियाँ गीतों द्वारा वर्णन करती थीं[1]। रामगुप्त के निर्बल हृदय का तथा सारहीन चरित्र का इससे बढ़कर उदाहरण क्या हो सकता है!

२ चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य)

सम्राट् समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् कुछ काल के लिए अशान्ति सी छा गई। गुप्त-साम्राज्य कराल काल के गाल में शीघ्रता से प्रवेश करने लगा। राज्य के निर्बल पाकर शत्रुओं की बन आई तथा इन्होंने षड्यन्त्र करना प्रारम्भ कर दिया। चन्द्रगुप्त द्वितीय की अभी बाल्यावस्था थी। कौन जानता था कि यह चन्द्रगुप्त द्वितीय रूपी बालसूर्य कालान्तर में अपने प्रचण्ड तेज के प्राप्त कर अपनी प्रखर किरणों से शत्रुओं के संताप पहुँचायेगा? अस्तु, ऐसी ही विषम स्थिति में इस 'विक्रमादित्य' का उदय हुआ तथा इनकी माता दत्तदेवी ने ऐसे पराक्रमी पुत्र के पैदा कर अपने के कृतार्थ समझा[2]। महाराज चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कायर रामगुप्त के बाद शासन की बागडोर अपने हाथ में ली तथा इसे सुचारु रूप से चलाना प्रारम्भ कर दिया।

भूमिका

गुप्त तथा वाकाटक लेखों से चन्द्रगुप्त द्वितीय का दूसरा नाम देवराज तथा देवगुप्त भी मिलता है[3]। साँची के लेख में 'महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तस्य देवराज इति प्रियं नाम' ऐसा उल्लेख मिलता है[4]। इससे ज्ञात होता है कि इसका दूसरा नाम देवराज भी था। चामुक वाले वाकाटक शिलालेख में इसका तीसरा नाम 'देवगुप्त' भी मिलता है[5]। चन्द्रगुप्त द्वितीय की दो रानियाँ थीं। प्रथम रानी का नाम कुबेरनागा था जो दक्षिण में राज्य करनेवाले नागवंश की लड़की थी[6]। इसकी पुत्री का नाम प्रभावती गुप्ता था तथा इस प्रभावती गुप्ता का विवाह वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय से हुआ था[7]। दूसरी

कौटुम्बिक-वृत्त

१. गीयन्ते तव कार्तिकेयनगरस्त्रीणां गणैः कीर्तयः।—काव्यमीमांसा।

२. का० इ० इ० नं० ४। 'महाराजाधिराज श्रीसमुद्रगुप्तस्य पुत्रेण तत्परिगृहीतेन महादेव्यां दत्तदेव्यामुत्पन्नेन'।

३. इ० ए० १९१३।

४. का० इ० नं० ५।

५. ए० इ० भा० ६ पृ० २६७।

६. नागकुलोत्पन्ना:। ज० ए० सो० व० १९२४ पृ० ३४।

७. पूना प्लेट, ए० इ० भाग. १५ (परिशिष्ट ले० नं० ३)।

रानी का नाम ध्रुवदेवी था जिसके गर्भ से कुमारगुप्त तथा गोविन्दगुप्त का जन्म हुआ था। कुछ विद्वानों का मत है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी भ्रातृजाया ध्रुवदेवी से, अपने भाई की मृत्यु के पश्चात्, विवाह किया था[१]। गुप्तसम्राटों ने तत्कालीन बड़े बड़े राजवंशों में विवाह संबंध स्थापित कर मित्रता की थी। लिच्छवियों के साथ विवाह के समान ही चन्द्रगुप्त द्वितीय का नाग तथा वाकाटक राजाओं से वैवाहिक संबंध स्थापित करना कुछ कम राजनैतिक महत्त्व नहीं रखता। वास्तव में कुमारगुप्त तथा गोविन्दगुप्त जैसे पुत्ररत्न को पाकर चन्द्रगुप्त द्वितीय भी अपने को धन्य समझता होगा। इतना विशाल साम्राज्य, सूर्य सा तपा हुआ प्रताप, इतना राजकीय वैभव, इसके ऊपर घर में अपनी गृहिणी की मीठी वाणी तथा छोटे बच्चों की तोतली बोली अवश्य ही उसके मन को हर लेती होगी तथा आनन्द के सागर में उसे सदा के लिए निमग्न कर देती होगी।

चन्द्रगुप्त द्वितीय का वृत्तान्त जानने तथा काल-निर्धारण से पूर्व उसके उपलब्ध लेखों पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। इन्हीं लेखों के आधार पर इस गुप्त नरेश की मुख्य-मुख्य घटनाओं का वर्णन किया जायगा। अतएव उन लेखों में क्या वर्णित है तथा किसके द्वारा ये लेख उत्कीर्ण किये गये हैं; इन समस्त बातों पर विचार करना ऐतिहासिक महत्त्व से खाली नहीं है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के कुल छः लेख प्राप्त हैं[२] जिनमें से कुछ पर तिथि का उल्लेख है तथा किसी पर तिथि नहीं मिलती। इसलिए तिथि-क्रम के अनुसार उनका वर्णन किया जायगा।

उपलब्ध लेख

(१) मथुरा का स्तम्भ-लेख

चन्द्रगुप्त द्वितीय का सबसे प्रथम लेख मथुरा के समीप एक स्थान से मिला है। यह लेख शिव-प्रतिमा के समीप स्तम्भ के निचले भाग में खुदा है। इस लेख की तिथि गु० स० ६१ (ई० स० ३८०) है[३]। इस लेख की तिथि के कारण चन्द्रगुप्त द्वितीय की शासन-अवधि निर्धारित करने में बहुत सरलता हुई है। इस लेख की खोज से पूर्व इस राजा की सबसे पहली तिथि गु० स० ८२ थी जो उदयगिरि गुहालेख से प्राप्त है। विद्वानों का अनुमान था कि द्वितीय चन्द्रगुप्त का शासन ई० स० ४०१ से प्रारम्भ हुआ। परन्तु इस लेख से उसकी तिथि बीस वर्ष पहले ई० स० ३८० ज्ञात हो गई। अतएव इस परिवर्तन के कारण मथुरा के लेख का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इसके वर्णन से ज्ञात होता है कि उदिताचार्य ने इस स्तम्भ में उल्लिखित कपिलेश्वर तथा उपमितेश्वर की प्रतिमा की स्थापना की थी। इस लेख में चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा उसके पिता समुद्रगुप्त के लिए भट्टारक महाराजा राजाधिराज की पदवियाँ उल्लिखित हैं। गुप्त लेखों में महाराजाधिराज की पदवी से यह भिन्न है। बहुत सम्भव है कि मथुरा में स्थित होने के कारण इस पर पूर्व शासक कुषाणों का प्रभाव हो। महाराजा राजाधिराज की पदवियाँ कुषाण लेखों तथा सिक्कों में मिलती हैं।

---

१. इसका विस्तृत विवेचन 'रामगुप्त' में हो चुका है।

२ का० इ० इं० भा० ३ नं० ३, ४, ५, ६, ७ तथा नं० ३२।

३. ए० इ० भा० २१ नं० १।

(२) उदयगिरि गुहा-लेख

चन्द्रगुप्त द्वितीय का द्वितीय लेख मध्य भारत में भिलसा के समीप उदयगिरि गुहा में उत्कीर्ण है। इसकी तिथि गु० स० ८२ (ई० स० ४११) है। इस गुहा-लेख में चन्द्रगुप्त द्वितीय के अधीनस्थ सनकानीक महाराजा का उल्लेख है।

(३) गढ़वा का शिलालेख

तीसरा लेख प्रयाग ज़िले में गढ़वा नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। इसकी तिथि गु० स० ८८ (ई० स० ४०७) है। इस लेख में चन्द्रगुप्त द्वितीय की धार्मिक पदवी 'परम भागवत' का उल्लेख मिलता है तथा पाटलिपुत्र के किसी गृहस्थ द्वारा अपनी स्त्री के पुण्य-प्राप्ति के निमित्त दस दीनार दान में देने का वर्णन मिलता है।

(४) साँची का लेख

चन्द्रगुप्त द्वितीय का यह चतुर्थ तिथि-युक्त लेख है जिसमें गु० स० ६३ (ई० स० ४१२) का उल्लेख मिलता है। यह लेख मध्यभारत में साँची से प्राप्त हुआ है। इसमें वर्णन मिलता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सेनापति अमुकार्द्दव ने काकनाद-वोट नामक महाविहार में एक गाँव तथा पचीस दीनार दान में दिये थे। इसकी आय से पाँच भिक्षुओं के भोजन तथा रत्नगृह में दीपक जलाने का काम होता था। एक मुख्य बात यह है कि इस लेख में चन्द्रगुप्त के दूसरे नाम 'देवराज' का भी उल्लेख मिलता है।

(५) उदयगिरि का गुहालेख

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के इस लेख में तिथि का उल्लेख नहीं मिलता। यह लेख भी भिलसा के समीपवर्ती उदयगिरि गुहा में उत्कीर्ण है। इस लेख से प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय अपने सांधिविग्रहिक मंत्री वीरसेन के साथ जिस समय समस्त पृथ्वी जीतने के विचार से निकला था, उस समय वह भिलसा में ठहरा होगा। उस मंत्री ने शैव होने के कारण एक शम्भुगृह का निर्माण किया था।

(६) मथुरा का शिलालेख

इस गुप्त लेख में भी तिथि नहीं मिलती। यह लेख मथुरा से प्राप्त हुआ है। यह खण्डित है परन्तु इसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय तक गुप्त-वंशावली उल्लिखित है।

(७) मेहरौली का लोह-स्तम्भ लेख

चन्द्रगुप्त द्वितीय का सब से मुख्य लेख यही है परन्तु इसमें तिथि का उल्लेख नहीं मिलता। इसके वर्णन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि राजा चन्द्र ने सिन्धु नदी को पार कर बलख तक आक्रमण किया था। इसमें गुप्त राजा का दिग्विजय सुंदर शब्दों में वर्णित है। यह दिल्ली के समीप मेहरौली नामक ग्राम से प्राप्त हुआ था परन्तु आजकल कुतुबमीनार के समीप गड़ा है।

सम्राट् समुद्रगुप्त के शिलालेखों में कहीं भी तिथि का उल्लेख नहीं मिलता है परन्तु इसके ठीक विपरीत सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के अनेक शिलालेखों में संवत् का

उल्लेख मिलता है। अतः इसके समय की घटनाओं का इससे पूरा-पूरा पता चल जाता है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सर्वप्रथम शिलालेख मथुरा में मिला है[1]। उस स्तम्भ-लेख में गुप्त संवत् ६१ (ई० सन् ३८०) का उल्लेख मिलता है। इससे पता चलता है कि इस काल से (ई० सन् ३८०) पूर्व ही वह अवश्य सिंहासनारूढ़ हो गया होगा। इसका अन्तिम लेख भोपाल राज्य के साँची नामक स्थान में प्राप्त हुआ है जिसमें गुप्त संवत् ६३ (ई० सन् ४१२) का उल्लेख मिलता है। अतः इसी आधार पर चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासनकाल ई० सन् ३८० से ४१२ ई० तक निश्चित रूप से निर्धारित किया गया है अर्थात् इसने लगभग ३२ वर्ष तक गुप्त-साम्राज्य पर शासन किया।

राज्य-काल

चन्द्रगुप्त की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना पश्चिम तथा उत्तर के प्रदेशों का विजय है। इसमें सन्देह नहीं कि इसके प्रतापी पिता ने समस्त दक्षिणापथ के राजाओं को परास्त कर उन्हें विनीत होने का पाठ पढ़ाया था। उनकी 'श्री' का हरण कर, उन्हें श्रीहत बनाकर अपना सामन्त बनाया था। परन्तु ऐसे पराक्रमी राजा की तलवार की तीक्ष्णता से उत्तरी तथा पश्चिमी भारत के राजा परिचित नहीं हुए थे। उन्हें समुद्रगुप्त के कृपाण की कठोरता का परिचय नहीं मिला था। परन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय की—इस उदीयमान विक्रमादित्य की प्रखर किरणों से वे अछूते न बच सके तथा कुछ ही काल के बाद इसके प्रबल बाहुओं के बल का उन्हें अन्दाज़ा मिल गया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने न केवल उत्तरी तथा पश्चिमी राजाओं को ही परास्त किया बल्कि उसकी विश्वविजयिनी बाहुओं ने बलख़ तक साम्राज्य की सीमा को विस्तृत कर दिया तथा उस सुदूर प्रदेश मे भी इसकी विजय-वैजयन्ती को स्थापित किया। इस प्रकार से चन्द्र-गुप्त विक्रमादित्य ने मानों अपने सुयोग्य पिता के अवशिष्ट कार्य को पूरा किया। प्रयाग-वाली प्रशस्ति में बहुत सी जातियों का नाम उल्लिखित है जिनके राज्य को समुद्रगुप्त ने अपने विस्तृत साम्राज्य में नहीं मिलाया था। हरिषेण ने उस विजय-प्रशस्ति में शक-मुरुण्ड नामक जातियों के नाम का उल्लेख किया है जिन्होंने समुद्रगुप्त के प्रभाव को मान लिया था तथा उसके बढ़ते हुए प्रताप के सामने अपना सिर अवनत कर दिया था। ये शक जातियाँ पश्चिमी भारत में राज्य करती थीं तथा समुद्रगुप्त के समय में भी अपनी भीतरी स्वतन्त्रता बनाये हुए थीं। इन्हीं जातियों को चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने प्रबल पराक्रम से पराजित किया तथा सदा के लिए इस पवित्र धर्मप्रधान भारतभूमि से इन्हें खदेड़ कर बाहर निकाल दिया। शक जाति के ऊपर चन्द्रगुप्त द्वितीय के इस विजय के महत्त्व को समझने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि इस शक जाति का थोड़ा सा इतिहास यहाँ दिया जाय।

दिग्विजय

शक जाति के इतिहास के निर्माण के लिए अनेक शिलालेखों तथा हज़ारों सिक्कों से हमें सहायता मिलती है। तो ये शक कौन थे, इसका थोड़ा सा परिचय यहाँ दिया जाता

---

१. ए० इ० जनवरी १९१२।

है। शक सर्वप्रथम एक विदेशी जाति थी जिसने पश्चिमोत्तर प्रदेश से भारत पर आक्रमण किया था। इस जाति के राजा पश्चिमोत्तर प्रान्त में ईसा की प्रथम शताब्दी तक शासन करते रहे। वहाँ से ये लोग सिन्ध होते हुए भारत के पश्चिमी भाग की ओर बढ़ते गये और वहाँ पर इन्होंने अपना राज्य स्थापित कर लिया। ईसा की पहली शताब्दी में इन्होंने मालवा तथा सौराष्ट्र (काठियावाड़) में नवीन राज्य स्थापित किया। पश्चिमी भारत के इन शक राज-वंश के राजाओं की उपाधि 'क्षत्रप' थी। 'क्षत्रप' का अर्थ है सूबेदार। यह जाति सर्वप्रथम भारत के उत्तर-पश्चिम में राज्य करनेवाले कुषाण राजाओं का सूबेदार बनकर पश्चिमी भारत में आई थी। बहुत काल तक ये 'क्षत्रप' लोग कुषाण राजाओं के अधीन रहे परन्तु कालान्तर में ये स्वाधीन बन गये तथा इन्होंने 'महाक्षत्रप' की उपाधि धारण कर ली। शक राजाओं के दो राजवंशों ने क्रमशः राज्य किया। पहले राजवंश का सर्वप्रथम प्रतापी राजा नहपान था जिसके राज्य का विस्तार शिलालेखों तथा सिक्कों के प्राप्ति-स्थान से ज्ञात होता है। यह अपने को 'च्हरात' वंश का मानता था। नहपान के जामाता उषवदात के लेख नासिक तथा कार्ले की गुफाओं में मिले हैं[1]। इन शिलालेखों से ज्ञात होता है कि नहपान का राज्य नासिक और पूना से लेकर मालवा, गुजरात, सुराष्ट्र तथा राजपुताना के पुष्कर नामक स्थान तक विस्तृत था।

शक जाति का इतिहास

इस काल के पश्चात् शक-राज्य का अधिकार कुछ काल के लिए दक्षिण के आन्ध्र राजाओं के हाथ में चला गया। ईसा की पहली-दूसरी शताब्दियों में पश्चिम में शक तथा दक्षिण के शातकर्णी राजाओं में संघर्ष चलता रहा तथा अन्त में विजय-लक्ष्मी शकों को प्राप्त हुई। दूसरे 'क्षत्रप' राजवंश का संस्थापक चष्टन था, जिसने नहपान के नष्ट राज्य को पुनः स्थापित कर उज्जैनी को अपनी राजधानी बनाया। चष्टन के वंश के सिक्कों पर राजा का नाम तथा उपाधि समेत उसके पिता का नाम भी मिलता है। इन सिक्कों पर शक संवत् में तिथि भी अंकित है जिसके आधार पर इस क्षत्रप वंश का शृङ्खलाबद्ध इतिहास लिखा जा सकता है। चष्टन के पौत्र महाक्षत्रप रुद्रदामन् का एक शिलालेख काठियावाड़ के गिरनार पर्वत पर खुदा पाया जाता है जिसमें उसके राज्य-विस्तार का वर्णन मिलता है। उसने मालवा, सुराष्ट्र, कच्छ, राजस्थान, सिन्ध, कोंकण आदि प्रदेशों पर अधिकार करके एक सुविस्तृत साम्राज्य की स्थापना की[2]।

यह लेख शक संवत् के ७२वें वर्ष में खुदाया गया था। उज्जैन के क्षत्रप-वंश में २२ राजाओं की नामावली मिलती है जिन्होंने शकाब्द से (ई० सन् ७८ से) लेकर ईसा की चौथी शताब्दी तक राज्य किया। समुद्रगुप्त की प्रयागवाली प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि चौथी शताब्दी में इन शकों ने समुद्रगुप्त से मित्रता स्थापित की थी।

---

१. ए० इ० भाग ८ पृ० ६०-७८।

२. स्ववीर्यार्जितानामनुरक्तसर्वप्रकृतीनां पूर्वापराकरावन्त्यनूपनीवृदानर्तसुराष्ट्रश्वभ्र(म)रुकच्छसिन्धु-सौवीरकुकुरापरान्तनिषादादीनां समग्राणां तत्प्रभावाद.... —रुद्रदामन् का गिरनार शिलालेख।

ये शक लोग केवल भारत के बाहर से—मध्य एशिया से—आये थे। पहले ये बड़ी ही साधारण स्थिति के थे। परन्तु धीरे धीरे इन्होंने अपने प्रबल बाहुबल से अपने राज्य का विस्तार कर लिया। भारत के उत्तरी-पश्चिमी भाग तथा काठियावाड़ पर इन्होंने अधिकार कर लिया। ये हिन्दूधर्म, हिन्दू संस्कृति तथा सभ्यता के कट्टर विरोधी थे। इन्होंने अपने राज्य में घोर अत्याचार मचा रक्खा था। अत्याचार के मारे प्रजा का नाकों-दम हो गया था। प्रजा के करुण-क्रन्दन तथा पीड़ितों के आर्तनाद से आकाश फटा जाता था। जहाँ भी ये गये वहीं इन्होंने हिन्दू-धर्म के नाश करने का केवल उद्योग ही नहीं किया बल्कि सब प्रकार से प्रजावर्ग को सताकर बड़ा कुहराम मचा दिया। भागवत तथा विष्णु पुराण में इन म्लेच्छ शकों के अत्याचार का निम्न प्रकार से वर्णन मिलता है,—ये अनियमित टैक्स लेते थे। प्रजा को असंख्य कष्ट देकर ये उन्हें खूब ही सताया करते थे। पुराणों में लिखा है—'प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति म्लेच्छा राजन्यरूपिणः'।

वस्तुतः उपर्युक्त कथन अक्षरशः सत्य है। इन्होंने प्रजा का भक्षण करना ही अपना कर्तव्य समझ लिया था।

कहाँ तक कहा जाय, भारतीय स्त्रियों का सतीत्व भी सुरक्षित न रह सका तथा किसी पतिव्रता के पातिव्रत धर्म को नष्ट करना इनके बायें हाथ का खेल था। भारतीय स्त्रियों के सतीत्व की क़ीमत इन्होंने बहुत ही कम आँकी थी। दुधमुँहे बच्चे भी इनकी कठोर कृपाण के शिकार होने से नहीं बचे। भारतीय इतिहास में अबलाओं तथा बालकों की नृशंस हत्या का कभी भी पता नहीं चलता परन्तु इन दुष्ट, नृशंस, अत्याचारी शकों के राज्य में यह रोज़मर्रा की बात हो गई थी। परम पुनीत गौ माता की हत्या भी एक साधारण बात हो गई थी। राग-द्वेष-रहित, वीतराग ब्राह्मण भी इनके अत्याचार से नहीं बच सके। इन्होंने ब्राह्मणों की स्त्रियों और पराये धन पर भी हाथ साफ किये। पुराणों ने इनके इसी घनघोर अत्याचार को लक्षित करके लिखा है—'स्त्री-बाल-गो-द्विजघ्नाश्च, परदारधनाहृताः।'

यह कथन वस्तुतः ठीक प्रतीत होता है। इनके दीर्घकाय, कृष्ण नेत्र तथा भयङ्कर मुखाकृति को देखकर ही प्रजा के हृदय में आतङ्क छा जाता था। गो ब्राह्मण-हिंसक इस जाति के प्रभाव से प्रजा सन्त्रस्त थी, हिन्दूधर्म धीरे धीरे क्षीण होता हुआ कराल काल के गाल में प्रवेश कर रहा था, हिन्दू सभ्यता तथा संस्कृति विलय के गर्भ में घुसी जाती थी, हिन्दू स्त्रियों के सतीत्व का मूल्य जब कुछ भी नहीं था तथा जब समस्त प्रजा अत्याचार से ठण्डी आहें भर रही थी ऐसे ही अवसर पर प्रबल पराक्रमी सम्राट् विक्रमादित्य का उदय हुआ। इन्होंने अपनी शक्तिशाली भुजाओं के ज़ोर से इन शकों को उसी प्रकार से मार भगाया जैसे प्रचण्ड सूर्य सूचीभेद्य तम की राशि को मार भगाता है। इस वीर ने इन कुटिल शकों की उच्छृङ्खलता का नाश कर उन्हें विनीत होने का पाठ पढ़ाया। इस प्रकार शकों को अपने प्रताप से संतप्त कर, उनके मद को चूर्ण कर, उसे धूल में मिला इसने पीड़ित प्रजा को साँस लेने का अवसर दिया। इसने सर्वत्र शान्ति की स्थापना की तथा कुछ ही

दिनों में शान्तिमय वातावरण उपस्थित कर दिया। इसने हिन्दू सभ्यता तथा संस्कृति को फिर पनपने का अवसर दिया तथा हिन्दूधर्म और हिन्दुस्तान के लिए—गो-ब्राह्मण के कल्याण के लिए—वह पुनीत कार्य किया जिसे उससे चार सौ वर्ष पहले भारतीय कथाओं के नायक, हिन्दूधर्म के रक्षक महाराज विक्रमादित्य ने किया था।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने इन शक जातियों को परास्त कर इन्हें अपने साम्राज्य में मिला लिया। इस विक्रमादित्य के शक-विजय के प्रमाण उसके तत्कालीन उत्कीर्ण शिलालेखों, प्राप्त सिक्कों तथा प्रचलित प्राचीन दन्तकथाओं से मिलते हैं। मालवा के उदयगिरि पर्वत की गुफाओं में एक लेख मिला है जिसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय के युद्ध-सचिव वीरसेन ने कहा है कि 'जब सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय समस्त पृथिवी जीतने के लिए आये थे उस समय मैं भी उनके साथ इस देश में आया था[1]।

शक-विजय के प्रमाण

इससे ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने पश्चिमी भारत जीतकर या इसे जीतने के पहले मालवा में अपना शिविर स्थापित किया होगा। शक राजाओं के समय में पश्चिमी भारत में चाँदी के सिक्के प्रचलित थे। गुप्त सिक्कों में चाँदी का सिक्का सब से पहले चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने ही चलाया। ये सिक्के शक सिक्कों का अनुकरण कर मुद्रित किये गये थे। इन सिक्कों के एक तरफ़ गुप्त वंश के राजचिह्न 'गरुड़' की मूर्ति है तथा दूसरी ओर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का नाम 'परम भागवत महाराजाधिराज' की उपाधि के साथ अंकित है। राजनीति यही सिखलाती है कि जिस देश को जीता जाय उसी देश की प्रथा के ढंग पर वहाँ का शासन किया जाय। इसी नीति के अनुसार चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने पश्चिमी भारत में शकों को जीत कर उस प्रदेश में प्रचलित चाँदी के सिक्कों के ढंग पर अपना सिक्का चलाया। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का एक और प्रकार का सिक्का मिला है जिस पर राजा की मूर्ति सिंह को मारते हुए या शिकार करते हुए दिखलाई गई है। उसी सिक्के पर 'सिंहविक्रमः' की उपाधि राजा के लिए प्रयुक्त की गई है। मुद्रा-शास्त्र के ज्ञाताओं ने इससे यह अर्थ निकाला है कि यह सिक्का काठियावाड़ या गुजरात के जीतने पर मुद्रित किया गया होगा; क्योंकि सिंह गुजरात और राजपूताना के जंगलों में प्रायः बहुतायत से पाये जाते हैं। अतएव चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सिंहवाला सिक्का (Lion Type) तथा 'सिंह-विक्रमः' की उपाधि गुजरात के विजय की सूचना देती है। 'देवीचन्द्रगुप्तम्'[2] नामक नाटक तथा महाकवि बाण के हर्षचरित[3] में भी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के द्वारा शकों के पराजय का उल्लेख मिलता है। इन सब प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने पश्चिमी भारत को विजय कर शकों को परास्त किया। इसके साथ साथ

---

१. कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन राज्ञैवेह सहागतः।—उदयगिरि का गुहालेख का० इ० इ० नं० ६।

२. चन्द्रगुप्तः शत्रोः स्कन्धावारं अलिपुरं शकपति वधाय गमत।

३. अरिपुरे × × × चन्द्रगुप्तः शकपतिं शातयत्।—हर्षचरित, उच्छ्वास ४।

'विक्रमादित्य' के विरुद से भी ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों को अवश्य परास्त किया होगा।

अब यहाँ सिक्कों तथा लेखों के आधार पर यह दिखलाने का प्रयत्न किया जायगा कि अपने राज्यकाल के किस समय में चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों को परास्त किया था। स्वामी रुद्रसिंह शकजातीय क्षत्रप-वंश का अन्तिम राजा था। उसके सबसे पीछे के चाँदी के सिक्कों पर महाक्षत्रप की उपाधि के साथ शक संवत् ३१० (ई० सन् ३८८) अंकित है[1]। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के चाँदी के सिक्के पर शकाब्द ८६ मिलता है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के उदयगिरि के गुहा-लेख में तिथि नहीं मिलती परन्तु केवल वीरसेन के साथ मालवा में पृथ्वी जीतने की इच्छा से आने का वर्णन है। इस लेख में तिथि संवत् न होने से कोई शंका नहीं हो सकती, क्योंकि उसी स्थान पर दूसरे गुहा-लेख में,—जिसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय के सामन्त सनकानिक महाराजा विष्णुदास के पुत्र के दान का उल्लेख है,—गुप्त संवत् ८२ (ई० सन् ४०१) उल्लिखित है। बहुत संभव है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने इसी यात्रा में गुजरात तथा काठियावाड़ पर अपना अधिकार जमा लिया हो तथा वह अपने मंत्री वीरसेन के साथ विजय-यात्रा समाप्त कर लौटा हो। अतएव समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा ई० सन् ३८८ से लेकर ४०१ ई० के मध्य में होनी चाहिए। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सिक्कों से पता चलता है कि ई० सन् ४०६ के पहले ही गुप्तों का शासन स्थिर तथा सुचारु रूप से भारत के पश्चिमीय प्रदेशों पर स्थापित हो गया था।

शकों का पराजय-काल

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शकों को जीतने के पश्चात् शासन की सुव्यवस्था के लिए उज्जयिनी को अपनी दूसरी राजधानी बनाया। पाटलिपुत्र तो गुप्त नरेशों की सर्वदा से राजधानी रही ही परन्तु इसने उज्जयिनी को भी राजधानी बना लिया। यह महत्त्वशालिनी नगरी भी अपना कुछ कम महत्त्व नहीं रखती है। उज्जयिनी के राजधानी होने की प्रामाणिकता महाकवि राजशेखर के वर्णन से सिद्ध होती है। उसने उज्जयिनी-स्थित 'ब्रह्मसभा' का वर्णन किया है जो साहित्य में विद्वानों को पदवियाँ देती थी। उस सभा में बहुत बड़े पण्डितों का सत्कार होता था[2]। उज्जयिनी को राजधानी बनाने का रहस्य यह था कि यह नगरी विक्रमादित्य के राज्य के केन्द्र में स्थित थी। अतः इस केन्द्र-स्थान से शासन करने में पाटलिपुत्र की अपेक्षा अधिक सुविधा थी। यहीं से विजित शक-राज्य पर दृढ़ता से शासन किया जा सकता था। अतः उज्जयिनी को राजधानी बनाकर चन्द्रगुप्त ने चतुरता का काम किया। आजकल की सरकारें भी केन्द्रस्थान में ही अपनी राजधानी बनाती हैं।

शक-राज्य की व्यवस्था

सम्राट् समुद्रगुप्त के समान उसके उत्तराधिकारी पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भी अनेक पदवियाँ धारण की थीं। उसके सिक्कों पर उसकी ये बड़ी-बड़ी पदवियाँ उत्कीर्ण

१. रैपसन—आंध्र सिक्के।

२. काव्यमीमांसा पृ० ५५।
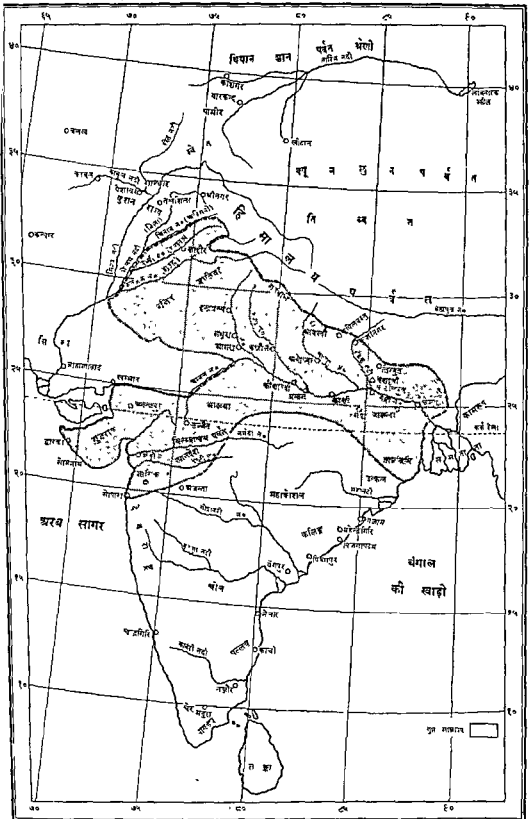
चन्द्रगुप्त द्वितीय का राज्यविस्तार

पाई जाती हैं। इन विभिन्न विरुदों में चन्द्रगुप्त द्वितीय की 'विक्रमादित्य' की उपाधि विशेष महत्त्व रखती है। यह श्रेष्ठ पदवी भारतवर्ष में प्राचीन काल से प्रचलित थी। प्राचीन काल में उज्जयिनी के किसी पराक्रमी राजा ने शकों को परास्त करके 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की थी तथा उसी काल से अर्थात् ईसा पूर्व ५७ ई० से 'विक्रम-संवत्' भी चलाया था। गुप्त-वंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भी पश्चिम के गुजरात, काठियावाड़, मालवा, राजपूताना आदि प्रदेशों में राज्य करनेवाले इन विधर्मी शकों को जीतकर उनके राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लिया। इसने शकों को पराजित कर उनके मद को चूर्ण-चूर्ण कर दिया। अतः यह 'शकारि' भी कहा जाता है। इस चंद्रगुप्त ने भी उसी उज्जयिनी पर अधिकार जमाया जिसे कुछ शताब्दी पूर्व एक अज्ञात राजा ने अपने क़ब्ज़े में किया था। इसने भी शकों को मैदान में पछाड़ा तथा उन्हें खदेड़ कर बाहर किया। अतः इन दोनों गुणों के समान होने पर यदि इसने भी उस प्राचीन नरेश की भाँति 'विक्रमादित्य' विरुद को धारण करने का निश्चय किया तो इसमें आश्चर्य ही क्या था? प्राचीन विक्रमादित्य के समान ही अपने को पराक्रम में तुल्य पाकर यदि इसने भी 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की तो यह सर्वथा समुचित ही था। 'विक्रमादित्य' की उपाधि प्राचीन काल से ही प्रताप तथा प्रभाव का सूचक बन गई थी अतः शकारि चन्द्रगुप्त द्वितीय का इस उपाधि को धारण करना नितान्त स्वाभाविक ही था। सोमदेव-रचित कथा-सरित्सागर में पाटलिपुत्र के राजा विक्रमादित्य का उल्लेख मिलता है। संस्कृत-साहित्य में इसे उज्जैन का राजा बतलाया गया है। इससे ज्ञात होता है कि इस विरुद से तथा शकों के पराजय से घना सम्बन्ध है। जिस प्रकार मालवा के प्राचीन राजा ने शकों को पराजित कर 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की थी उसी प्रकार चंद्रगुप्त द्वितीय ने भी शकों को परास्त कर 'विक्रमादित्य' का विरुद धारण किया।

'विक्रमादित्य' विरुद की उत्पत्ति

दिल्ली के समीप कुतुबमीनार के निकटवर्ती लौह-स्तम्भ पर एक लेख उत्कीर्ण मिला है[1] जिसमें 'चन्द्र' नामक किसी सम्राट् की विजययात्रा का वृत्तान्त मिलता है। यह 'चन्द्र' नामक सम्राट् कौन था, इस विषय में पुरातत्त्व-वेत्ताओं में गहरा मतभेद है[2]। परन्तु बहुत से विद्वानों की अब यह धारणा हो रही है कि यह 'चन्द्र' कोई अन्य नहीं, बल्कि चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) ही है जिसने दक्षिण से लेकर उत्तर के बल्ख (Bactria) प्रदेश तक अपनी विजय का डंका बजाया था। समुद्रगुप्त की प्रयागवाली प्रशस्ति से यह ज्ञात होता है कि भारत के उत्तर-पश्चिम में 'दैवपुत्र शाहि शाहानुशाहि शक-मुरुण्ड' राज्य करते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय के द्वारा मालवा तथा सुराष्ट्र में शकों का पराजित होना हमें ज्ञात है। सम्भवतः इसी दिग्विजय के सिलसिले में उसने उत्तर के विदेशियों को भी परास्त किया था। इस मेहरौली लौहस्तम्भ में 'तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिकाः' ऐसा वर्णन मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने 'सिन्धु

सम्राट् 'चन्द्र' की उत्तर की विजय-यात्रा

१. का० इ० इ० नं० ३२ (मेहरौली का लौहस्तम्भ)।

२. इसका विस्तृत विवेचन परिशिष्ट (लेख नं० २) में किया गया है।

नदी के सातों मुखों के पार करके वाह्लिक (बल्ख) के शासकों को जीता'। बल्ख का मार्ग सिन्धु नदी के मुख को पार कर नहीं जाता। इसलिए जान एलन का कथन है कि 'वाल्हीकाः' शब्द से यवन की भाँति सिन्धु के पार की किसी अन्य जाति का तात्पर्य निकलता है जो कदाचित् बिलोचिस्तान के आस पास निवास करती थी। अतः जान एलन के मतानुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय ने बल्ख की ओर न जाकर बिलोचिस्तान की ओर आक्रमण किया था। भारत के प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता श्री जायसवाल महोदय 'सिन्धोः सप्त-मुखानि' का अर्थ सिन्धु नदी की सहायक सात शाखानदियों से मानते हैं[1]। इसका तात्पर्य सिन्धु नदी के सात मुखों से नहीं है। वैदिक काल में इस प्रदेश को 'सप्तसिन्धु' कहते थे तथा एवेस्ता में इसी प्रदेश का 'हप्त-हिन्दू' नामकरण किया है। इसी 'सप्तसिन्धु' नाम के आधार पर 'सिन्धोः सप्तमुखानि' का तात्पर्य सिन्धु की सात सहायक-नदियों के प्रदेश माना गया है। अत: इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने पंजाब तथा अफ़ग़ानिस्तान को पार कर बल्ख तक अपनी विजयदुन्दुभि बजाई थी तथा शत्रुओं को मैदान में पछाड़कर उन्हें सुरधाम को पठाया था।

दक्षिण के राजाओं से सम्बन्ध

दक्षिण भारत में तीसरी शताब्दी में आंध्र वंश की शक्ति के नष्ट होने पर कई राजाओं का प्रभुत्व धीरे धीरे वहाँ जम गया। महाराज समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ के दक्षिण-पूरब में स्थित समस्त नरेशों को अपने अधीन किया, परन्तु उन पर स्वयं शासन करना गुप्तों को अभीष्ट न था। किन्तु जब चंद्रगुप्त द्वितीय ने शकों को परास्त कर पश्चिमी भारत को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया तब यह अत्यन्त आवश्यक हो गया कि दक्षिण भारत के राजाओं से उसकी मित्रता हो जाय। यदि ऐसा न होता तो सुचारु रूप से पश्चिमीय भारत पर शासन करना गुप्तों के लिए कठिन हो जाता। इसलिए चद्रगुप्त द्वितीय ने दक्षिण-नरेशों से मित्रता ही नहीं स्थापित की बल्कि वैवाहिक सम्बन्ध से उनके साथ अत्यन्त घनिष्ठ संबंध स्थापित कर लिया। इस कारण समस्त नरेश गुप्तो के सहायक बन गये। ऐसे दक्षिण के शासक तीन वंश के थे–नाग, वाकाटक तथा कुन्तल। इन तीनों का प्रभाव प्रायः भारत के दक्षिण-पश्चिम प्रांत पर था और सम्भवत: दक्षिणापथ के दिग्विजय में इनसे समुद्र की मुठभेड़ नहीं हुई थी। अतएव ये गुप्तों के साथ किसी भी सूत्र में नहीं बँधे थे। इन प्रतापी नरेशों को अपने वश में करना चन्द्रगुप्त द्वितीय की राजनीतिज्ञता का बड़ा उज्ज्वल प्रमाण है। नीतिज्ञ विक्रमादित्य ने उत्तरी भारत को तो अपने वश में कर ही लिया था; इन दक्षिण-नरेशों से गुप्त राज्य को किसी प्रकार का खटका न रहने देने के लिए उसने इनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर बड़ी भारी चतुरता का काम किया। अब इन राजाओं के साथ चन्द्रगुप्त द्वितीय का पृथक्-पृथक् सम्बन्ध दिखलाया जायगा।

---

१. जे० बी० ओ० आर० एस० मार्च १९३२।

गुप्त-साम्राज्य स्थापित होने से पहले नागवंशी राजा विन्ध्य से उत्तर विदिशा तक राज्य करते थे। इनकी राजधानी पद्मावती का नाम प्राचीन साहित्य में मिलता है।

नाग

इस कारण नागवंश की गणना प्राचीन प्रतिष्ठित राज्यों में थी। सम्राट् समुद्रगुप्त ने इन नाग राजाओं को जीतकर उनका राज्य अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था; परन्तु वह उनको समूल नष्ट न कर सका। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इस प्राचीन प्रतिष्ठित राजवंश से सम्बन्ध करना उचित समझा। यह सम्बन्ध राजनैतिक दृष्टि से हानिकारक नहीं था। अतएव अपने कुल को गौरवान्वित तथा प्रतिष्ठित करने के उन्नत विचार से प्रेरित होकर ही उसने ऐसा किया तथा इस वंश में अपना विवाह किया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इसी नागकुल में उत्पन्न कुबेरनागा से विवाह किया था[1]। पाठकों को पीछे बतलाया गया है कि कुबेरनागा चन्द्रगुप्त द्वितीय की प्रथम महारानी थी जिसके गर्भ से प्रभावती गुप्ता का जन्म हुआ था।

ईसवी ३००-५०० के मध्य में वाकाटकों का राज्य दक्षिण भारत में फैला हुआ था। बालाघाट के ताम्रपत्र में इनकी वंश परम्परा के राजाओं की नामावली मिलती है[2]।

वाकाटक

सबसे प्रथम राजा विन्ध्यशक्ति का नाम उल्लिखित है। इसका पुत्र प्रवरसेन प्रथम बड़ा प्रतापी राजा था। इसी के प्रपौत्र रुद्रसेन द्वितीय से गुप्तों का वैवाहिक सम्बन्ध था। वाकाटक लोगों के पूना ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय की स्त्री कुबेरनागा से उत्पन्न प्रभावती गुप्ता नामक पुत्री का विवाह रुद्रसेन द्वितीय से हुआ। इस लेख से गुप्तों तथा वाकाटकों में घनिष्ठ राजनैतिक सम्बन्ध प्रकट होता है। यह विवाह भी राजनैतिक महत्त्व से ख़ाली नहीं था। समुद्रगुप्त दक्षिण में स्थित इन वाकाटकों से किसी प्रकार का भी सम्बन्ध स्थापित न कर सका था; परन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इन लोगों से मित्रता स्थापित कर ली। इस विवाह का एक मुख्य कारण यह भी था कि इस गुप्त नरेश ने ई० स० ४०० के लगभग मालवा तथा सौराष्ट्र के शकों को जीतकर उनका राज्य गुप्त साम्राज्य में मिला लिया था[3]; अतएव नवीन विजित पश्चिमी प्रदेशों पर दक्षिणी नरेशों का आक्रमण न होने देना ही इस विवाह का रहस्य था। गुप्त-साम्राज्य को सुरक्षित रखने के लिए यह नीति अत्यन्त लाभकारी थी।

प्राचीन काल में बम्बई प्रांत का दक्षिणी हिस्सा तथा मैसूर के उत्तरी भाग का प्रदेश 'कुंतल' नाम से प्रसिद्ध था। यह भाग भी दूसरी शताब्दी तक शातवाहन राजाओं के अधीन था।

कुंतल

इसके पश्चात् चुटु वंश के राजा मैसूर पर शासन करते थे। इन राजाओं का एक लेख शिकारपुर ज़िले में स्थित मलवल्ली से प्राप्त हुआ था[4]। अनन्तपुर ज़िले में चुटु लोगों के बहुत

---

१. पूना की प्रशस्ति।
२. इ० ए० भा० ६ नं० ३६।
३ उदयगिरि का लेख (गु० लें० नं० ५)
४ एपिग्राफिका करनाटिका भा० ७ पृ० २६३।

से सिक्के भी मिले हैं[१] जो उनके सुचारु शासन की पुष्टि करते हैं। इसी मलवल्ली स्तम्भ पर एक दूसरा लेख मिलता है, जो भाषा (प्राकृत), तिथि, उल्लेख की रीति तथा लिपि के कारण पूर्व लेख के समान है। इस लेख के शासक मयूरशर्मन् का चन्द्रवल्ली से प्राप्त हुआ लेख मलवल्ली के लेख का समकालीन प्रकट होता है[२]। इसी आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि तीसरी शताब्दी में चुटू लोगों के अनन्तर कुंतल प्रदेश पर कदम्ब राजाओं का अधिकार हो गया था।

अतः जिस समय उत्तरी भारत में गुप्त लोगों का साम्राज्य प्रारम्भ हुआ उसी समय कुन्तल प्रदेश पर कदम्ब वंश का शासन शुरू हुआ। कुन्तल के अधिपति होने से यही कदम्ब नरेश कुन्तलेश्वर के नाम से भी संस्कृत-साहित्य में प्रसिद्ध हुए। इस कदम्ब कुल के राजा के साथ चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी राजनीति के फल-स्वरूप घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया। इन दोनों राजवंशों के सम्बन्ध के परिपोषक प्रमाण—साहित्य तथा शिलालेख सम्बन्धी—यहाँ दिये जाते हैं।

राजा भोज के शृंगार-प्रकाश के आठवें प्रकाश में एक संदर्भ मिलता है। उस स्थान पर कालिदास तथा चद्रगुप्त विक्रमादित्य में कुंतल-नरेश के विषय में वार्तालाप का उल्लेख है। कालिदास का कुंतलनरेश के विषय में निम्नलिखित कथन है :—

अमकलहसितत्वात्क्षालितानीव कान्त्या
मुकुलितनयनत्वाद्व्यक्तकर्णोत्पलानि।
पिबति मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां
त्वयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः॥

इस वर्णन से ज्ञात होता है कि कालिदास चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के राजदूत बनकर कुंतल-राजा के दरबार में गये थे। इस कथन की पुष्टि क्षेमेन्द्र-कृत 'औचित्य-विचार-चर्चा' से होती है। इसमें उल्लेख मिलता है कि कालिदास ने किसी 'कुंतलेश्वर-दौत्य' नामक पुस्तक की रचना की थी। इसके नाम से स्पष्ट प्रकट होता है कि कालिदास ने कुंतल राजा के यहाँ दौत्य-कार्य किया था। क्षेमेन्द्र ने कालिदास के निम्नलिखित पद्य को उद्धृत किया है[३]—

---

१ रैपसन—आंध्र सिक्कों की सूची।

२ आर० सर्वे रिपोर्ट–मैसूर १९२९ पृ० ५०।—इसकी भाषा (प्राकृत), तिथि, उल्लेख तथा लिपि मलवल्ली के समान है। इस लेख में मयूरशर्मन् द्वारा पराजित राजाओं की नामावली उल्लिखित है जो तीसरी शताब्दी में वर्तमान थे।

कदम्बानां मयूरशर्मणा विनिम्य तटाकं दूभ त्रैकूट आभीर पल्लव पारियात्रिक सकस्थान सैन्दक पुनाट मोकरिणाम्।

जायसवाल महोदय इसका दूसरा पाठ मानते हैं। –(हिस्ट्री आफ इंडिया १५०–३५०) पृ० २२०–२१।

३. काव्यमाला संवत् १८८६ प० १३९।

इह निवसति मेरुः शेखरः क्ष्माधराणा-
मिह विनिहितभाराः सागराः सप्त चान्ये।
इदमहिपतिभोगस्तम्भविभ्राज्यमानं
धरणितलमिहैव स्थानमस्मद्विधानाम्।

यह कुंतलेश कौन था जो चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन था? कदम्ब-वंश का संस्थापक मयूरशर्मन् तीसरी शताब्दी में शासन करता था जिसके बाद उसके पुत्र तथा पौत्र राज्य करते रहे। मयूरशर्मन् के पुत्र तथा पौत्र गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के समकालीन थे। अतएव कदम्बों का चौथा राजा ककुत्स्थवर्मन् ही गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन कुंतलेश होगा[1]। इसका सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि इसके राज्यकाल के एक शिलालेख में कदम्बों तथा गुप्तों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध का उल्लेख है। कुंतल-नरेश ने अपनी कन्या गुप्त-नरेश को ब्याही थी[2]। इससे यही अनुमान किया जा सकता है कि कुंतलनरेश ने अपनी कन्या का विवाह चन्द्रगुप्त द्वितीय से किया था। कदम्बों तथा गुप्तों का प्रथम सम्बन्ध होना चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के काल में कालिदास के दौत्य कार्य तथा दोनों वंशों में वैवाहिक सम्बन्ध से ज्ञात है।

कुछ विद्वानों का मत है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने पिता सम्राट् समुद्रगुप्त की भाँति अपने दिग्विजय के फल-स्वरूप अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था।

अश्वमेध यज्ञ

काशी के दक्षिण में स्थित नगवा नामक स्थान में एक घोड़े की मूर्ति मिली है जिस पर 'चन्द्रगु' लिखा हुआ है। इसी आधार पर चन्द्रगुप्त द्वितीय के भी अश्वमेध यज्ञ के विधान का अनुमान किया जाता है। प्रतापी समुद्रगुप्त के इस पराक्रमी पुत्र ने भी अपने पिता की भाँति अपने दिग्विजय के उपलक्ष में अश्वमेध यज्ञ किया होगा, यह बात अनुमानतः सिद्ध है।

सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य वैष्णवधर्मानुयायी था। इसके शिलालेखों में इसे 'परम भागवत' कहा गया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैष्णव संप्रदाय में इसे कितनी आस्था थी। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि एक

धार्मिक-सहिष्णुता

सम्प्रदाय का अनुयायी दूसरे सम्प्रदाय तथा धर्म के प्रति बुरा भाव रखता है तथा उस धर्म के अनुयायियों से द्वेष करता है। परन्तु सम्राट् चन्द्रगुप्त बड़ा धर्म-सहिष्णु था। धार्मिक सहिष्णुता ने उसके हृदय में घर कर लिया था। उसके

---

१. डा० कृष्णस्वामी का भी यही मत है कि पाँचवीं शताब्दी का गुप्त शासक (चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य) का समकालीन काकुत्स्थवर्मन् ही था।—कनट्रीब्यूशन आफ़ साउथ इंडिया टु इंडियन कल्चर पृ० ३५३ नोट)।

२. तालगुंड की प्रशस्ति—ए० इ० भा० ८ पृ० २४; भूमिका ४७।
गुप्तादिपार्थिवकुलाम्बुरुहस्थलानि स्नेहादरप्रणयसम्भ्रमकेसराणि।
श्रीमन्त्यनेकनृपषट्पदसेवितानि यो बोधयत् दुहितृदीधितिभिर्नृपार्कः॥

उदार चरित्र तथा विशालहृदयता के कारण उसे किसी भी धर्म से द्वेष नहीं था। उसने कभी अपने विपरीत धर्मानुयायियों को कष्ट नहीं दिया प्रत्युत उनके धर्म के प्रति सहिष्णुता का भाव दिखाकर उस धर्म को प्रोत्साहन दिया। इतना ही नहीं, उसने इन धर्मोपासकों को दान भी दिया। इसका प्रचुर प्रमाण उसके शिलालेखों से मिलता है। उदयगिरि की प्रशस्ति में वर्णित चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के मन्त्री वीरसेन ने भगवान् शिव की पूजा के निमित्त एक गुफा का उत्सर्ग किया था[1]। यह शिव का परम भक्त होते हुए भी उक्त सम्राट् के सन्धि-विग्रह विभाग का मन्त्री था। मथुरा की प्रशस्ति में एक शैव आर्योदिताचार्य का उल्लेख मिलता है जिन्होंने (गुरुप्रतिमायुक्त) उपमितेश्वर तथा कपिलेश्वर की—इन दो शिवलिङ्गों को—स्थापना अपनी पुण्य-वृद्धि के लिए की थी[2]।

साँची के शिलालेख से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के यहाँ एक बौद्ध अम्रकार्दव नामक अफ़सर किसी बड़े सैनिक पद पर नियुक्त था[3], जिसने साँची प्रदेश में स्थित काकनादबोट नामक महाविहार के आर्य-संघ को २५ दीनार तथा एक गाँव प्रतिदिन पाँच भिक्षुओं के भोजन के निमित्त और रत्नगृह में दीपक जलाने के लिए दिया था[4]। इससे स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य परम वैष्णव होते हुए भी शैव तथा बौद्ध मतावलम्बियों का आदर करता था। उसने न केवल उनके लिए सम्मान ही प्रदर्शन किया प्रत्युत दान देकर उनके धर्म का उत्साह-वर्धन भी किया। चीनी यात्री फाहियान ने भी इसकी दानशीलता तथा धर्मसहिष्णुता की प्रशंसा की है। इन सब उल्लेखों से चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की धार्मिक सहिष्णुता का पूर्ण परिचय मिलता है तथा इस प्रकार की धार्मिक सहिष्णुता उसके विशाल हृदय तथा उदार चरित्र की सूचना देती है।

वीरता

सम्राट् समुद्रगुप्त के समान ही उसका सुयोग्य पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य भी वीर तथा प्रतापी राजा सिद्ध हुआ। 'योग्य पिता का योग्य पुत्र' यह कहावत भले ही किसी दूसरे के विषय में ठीक न निकले, परन्तु इसके विषय में तो अक्षरशः सत्य सिद्ध होती है। इसने अनेक पदवियाँ धारण की थीं। इसके शिलालेखों में इसके लिए विक्रमांक, विक्रमादित्य, श्रीविक्रम, अजितविक्रम, सिंहविक्रम, नरेन्द्रचन्द्र आदि अनेक उपाधियों का प्रयोग किया गया है। सिक्कों पर उत्कीर्ण इन पदवियों से इसके पराक्रम का कुछ अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। इसकी वीरता की सूचक सबसे प्रधान वह घटना है जब इसने अपने यौवराज्य-काल में ही एक पराक्रमी तथा दुराचारी शकाधिप को स्त्री का वेष बनाकर मार डाला था। इससे इसके असीम साहस तथा निर्भीकता का आभास मिलता है।

---

१. भक्त्या भगवतः शम्भोः गुहामेतामकारयत्।—का० इ० इ० नं० ६।

२. आर्योदिताचार्येण स्वपुण्याप्यायननिमित्तं गुरूणां च कीर्त्यं उपमितेश्वरकपिलेश्वरौ गुर्वायतने गुरु... .....प्रतिष्ठापितौ।—मथुरा का स्तम्भ-लेख ए० इ० १९३१।

३. अनेकसमरावाप्तविजययशस्पताकः।—साँची शिलालेख फ्लीट—नं० ५।

४. प्रणिपत्य ददाति पञ्चविंशतीः दीनारान्। पञ्चैव भिक्षवो भुञ्जन्तां रत्नगृहे च दीपक इति।—साँची का शिलालेख।

इसके शरीर की बनावट बड़ी ही सुन्दर थी। सारे शरीर की गठन देखते ही बनती है। गठीले शरीर में प्रत्येक अंग का पूर्णतः विकास पाया जाता है। प्रत्येक स्नायु पूर्ण रूप से दृढ़ है। बाहु तथा पुट्ठे की आकृति बड़ी ही सुन्दर है तथा उनके पुष्ट होने का प्रमाण दे रही है। तिसपर शुभ्र वर्ण का शरीर है। चन्द्रगुप्त के सिक्कों पर उसके शरीर का जो चित्र अंकित है उसके देखने से ज्ञात होता है मानों वीर रस ही साक्षात् शरीर धारण किये हुए हो। वस्तुतः इसके शरीर की बनावट को देखकर ही कितने ही शत्रुओं के होश हिरन हो जाते होंगे। जिस प्रकार उसके कृपाण में बल था उसी प्रकार उसके शरीर में भी काफ़ी ताक़त थी। जिस समय समर-भूमि में अपनी सुदृढ़ भुजा में तलवार पकड़कर यह उतरता होगा उस समय शत्रु-वर्ग में प्रलय का दृश्य उपस्थित हो जाता होगा। इसके सिक्कों पर इसकी वीरता का सूचक यह वाक्य खुदा हुआ है—'क्षितिमवजित्य सुचरितैः दिवं जयति विक्रमादित्यः'।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के कुछ सिक्कों पर घायल सिंह तथा कुछ पर भागते हुए सिंह का चित्र अंकित है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य की वीरता के आगे सिंह भी मैदान छोड़कर भाग जाते थे तथा इसके साथ युद्ध करने का साहस नहीं करते थे। इसके दिग्विजय का वर्णन करते समय हमने लिखा है कि इसने बल्ख़ तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया था। दुष्ट शकों को परास्त कर उन्हें इसने खदेड़ दिया। मालवा तथा सुराष्ट्र से उन्हें निकालकर ही यह सन्तुष्ट नहीं हुआ परन्तु इन विदेशी आततायियों के उत्पीडन से सर्वदा के लिए प्रजा के रक्षार्थ इसने सप्तसिन्धु को पार कर बल्ख़ तक इनका पीछा किया तथा अन्ततः उन्हें परास्त किया। शकों के घनघोर अत्याचार से प्रजा पीड़ित थी, अतः उनके नाश से प्रजा को ही सुख हुआ। शक-पराजय की घटना चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के जीवन में एक विशेष महत्त्व रखती है। यदि इसके जीवन की यह सर्वप्रधान घटना कही जाय तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं हो सकती। इसी सर्वोत्कृष्ट तथा प्रजा-रक्षक कार्य से प्रसन्न होकर लोगों ने इसे 'शकारि' की उपाधि दे रक्खी थी। अपने सुयोग्य पिता के विपरीत इसने 'ग्रहीत-प्रतिमुक्त' की नीति का परित्याग कर दिया तथा इसने जितने प्रदेश जीते उन सब को अपने विस्तृत साम्राज्य में मिला लिया। इसने अपनी प्रबल भुजाओं से समस्त देशों को जीतकर बल्ख़ से वङ्ग तक तथा दक्षिण में कावेरी तक एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित कर लिया। इसके समय में गुप्त-साम्राज्य की राज्य-सीमा का विस्तार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ था। गुप्त-साम्राज्य ने प्रत्येक अवस्था में अपनी चरम सीमा को प्राप्त कर लिया था। मेहरौली के लौह-स्तम्भ पर इसके दिग्विजय का बड़ा ही सुन्दर वर्णन निम्नलिखित शब्दों में दिया है—

> यस्योद्वर्त्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून्समेत्यागता-
>   न्वङ्गेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे।
> तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिकाः
>   यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिणः॥

राजनीति के शुष्क वातावरण में रहने के कारण यह बात नहीं थी कि सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को विद्यानुराग न हो। इसने भी काव्यरस की मधुर चाशनी चक्खी थी। संस्कृत भाषा को सम्मान के सिंहासन पर बिठा, संस्कृत-कवियों को आश्रय प्रदान कर इसने गुणग्राहकता तथा विद्या-प्रेम का पूर्ण परिचय दिया है। इसके राजकीय-वैभव-सम्पन्न दरबार में राजकवियों का जमघट सा लगा रहता था। प्रत्येक कवि अपनी सरस तथा मधुर कविता से सम्राट् विक्रमादित्य को प्रसन्न रखने में भी अपना परम सौभाग्य समझता था। जहाँ देखिए वहाँ कविता की धूम सी मची रहती थी। यह तो विदित ही है कि कविकुल-कुमुद-कलाधर महाकवि कालिदास इस सम्राट् के दरबार को अपनी उपस्थिति से अलंकृत किया करते थे तथा अपनी कमनीय कविता से राजा को सदा आनन्द के सागर में डुबोया करते थे। राजा भी महाकवि का कुछ कम सम्मान नहीं करता था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के शिलालेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसने कालिदास को अपने राज्य के एक प्रतिष्ठित पद पर नियुक्त किया था। चन्द्रगुप्त की प्रेरणा से कालिदास ने कुन्तलनरेश ककुत्स्थवर्मन् के यहाँ जाकर सम्राट् का दौत्यकार्य भी किया था। इससे ज्ञात होता है कि कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के यहाँ केवल राजकवि ही का कार्य नहीं करते थे बल्कि अनेक राजकीय कार्यों का भी समुचित सम्पादन किया करते थे। इसी सम्राट् के दरबार में रहकर कालिदास ने अपने ग्रन्थ-रत्नों की रचना की थी। प्राचीन जनश्रुति के आधार पर यह भी कहा जाता है कि इसी सम्राट् के दरबार में 'नवरत्न' रहा करते थे। इन नव कवियों के नाम भी दिये गये हैं। इन कवियों के मूर्धन्य महाकवि कालिदास थे। महाकवि कालिदास के विषय में विस्तृत विवेचन अगले भाग में दिया जायगा। इसी सम्राट् के दरबार में वीरसेन नामक एक मन्त्री रहता था जो व्याकरण, न्याय, मीमांसा और लोक में निपुण तथा कवि भी था[1]। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य कवियों तथा विद्वानों का आश्रयदाता था। इसके सिक्कों पर प्राप्त तथा उत्कीर्ण संस्कृत के श्लोकों से इसके संस्कृतानुराग का पता चलता है। इसके समस्त शिलालेख संस्कृत में ही उत्कीर्ण हुए हैं। इन सब उल्लेखों से विक्रमादित्य के प्रचण्ड विद्या-प्रेम तथा आश्रयदायिता का पूर्ण रूप से परिचय मिलता है। सच है, जिसके राजकवि स्वयं कविकुलमूर्धन्य कालिदास हों उसके विद्या-प्रेम में भला किसी को कैसे सन्देह हो सकता है?

विद्या प्रेम

वस्तुतः चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का व्यक्तित्व अत्यन्त महान् था। पिता के द्वारा विस्तृत राज्य को पाकर भी वह इतर जन की भाँति सन्तुष्ट नहीं बन बैठा; बल्कि इसके ठीक विपरीत अपनी तलवार की तीक्ष्णता को परखने के लिए एक सुवर्ण-अवसर

---

१. अन्वयप्राप्तसाचिव्यो व्यापृतसन्धिविग्रहः।
कौत्सशाब इति ख्यातो वीरसेनः कुलाख्यया॥
शब्दार्थन्यायलोकज्ञः कविः पाटलिपुत्रकः—उदयगिरि का गुहालेख।
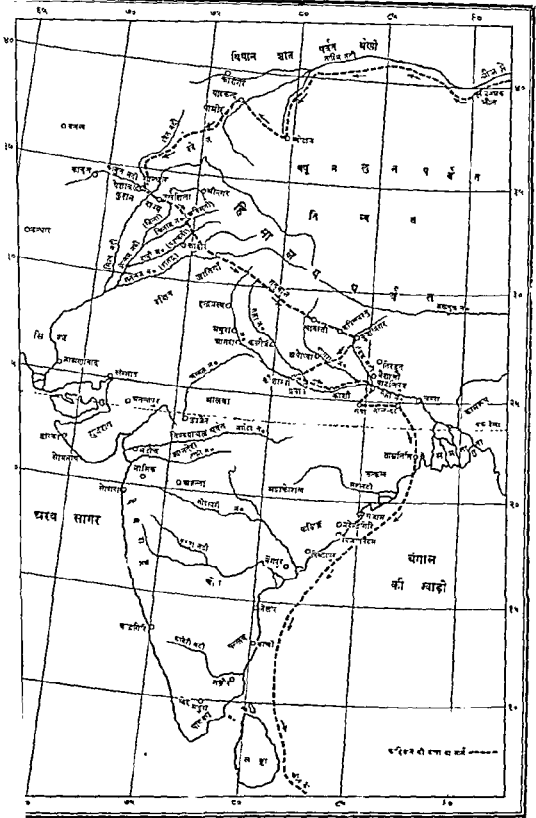
फाहियान का यात्रामार्ग

प्रदान किया। दुष्ट तथा विधर्मी शकों को परास्त कर इसने अपने साम्राज्य का प्रचुर विस्तार किया तथा अपने पिता से भी नहीं जीते गये प्रदेशों को जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया। शकों का सत्यानाश कर इसने हिन्दू सभ्यता तथा संस्कृति का पुनरुद्धार किया। 'धार्मिक सहिष्णुता' की नीति का अवलम्बन कर इसने सब धर्मों के प्रति प्रेमभाव रक्खा तथा किसी भी अन्य धर्मावलम्बी को दुखी होने का अवसर नहीं दिया। एक नहीं, दो-दो इसके सुयोग्य पुत्र-रत्न थे। इतने बड़े विस्तृत साम्राज्य का आधिपत्य, गुणग्राहकता, विद्या-प्रेम, धार्मिक सहिष्णुता आदि गुणों पर मुग्ध होकर कालिदास ने अपने स्वामी के लिए यह, अन्य के मिस से, कहा हो—

उपसंहार

कामं नृपाः सन्ति सहस्रशोऽन्ये, राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्।
नक्षत्रतारागणसंकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः॥

३ कुमारगुप्त प्रथम

द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र कुमारगुप्त प्रथम राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। कुमारगुप्त प्रथम का जन्म द्वितीय चन्द्रगुप्त की दूसरी स्त्री ध्रुवदेवी से हुआ था[1]। कुमारगुप्त प्रथम का एक भाई था जिसका नाम गोविन्दगुप्त था। यह बिहार प्रान्त के मुज़फ़्फ़रपुर ज़िले में स्थित बसाढ़ (वैशाली) में कुमारगुप्त प्रथम के प्रतिनिधि के रूप में शासन करता था। बसाढ़ से बहुत सी मिट्टी की मुहरें मिली हैं[2] जिन पर माता के नाम (ध्रुवदेवी) के साथ साथ गोविन्दगुप्त का नाम भी मिलता है[3]। इन मुहरों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि गोविन्दगुप्त कुमारगुप्त प्रथम का कनिष्ठ सहोदर भाई था और कुमारगुप्त प्रथम जेठे होने कारण सिंहासनारूढ़ हुआ था।

कौटुम्बिक-वृत्त

कुमारगुप्त प्रथम के समस्त लेखों में गुप्त संवत् तथा मालव संवत् में तिथि का उल्लेख मिलता है। इन सातों लेखों से कुमारगुप्त प्रथम की ऐतिहासिक वार्ता, शासन-प्रणाली तथा धार्मिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है। ऐसे उपयोगी लेखों का गम्भीर अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से परमावश्यक है। अतएव कुमारगुप्त प्रथम के उपलब्ध लेखों का संक्षिप्त विवरण यहाँ देने का प्रयत्न किया जायगा।

उपलब्ध लेख

(१) बिलसद का स्तम्भ-लेख[4]

कुमारगुप्त प्रथम का सबसे प्रथम लेख बिलसद नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। यह लेख स्तम्भ पर खुदा है और इसकी तिथि गु० सं० ९६ (ई० स० ४१५) है। इस

---

१ महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तस्य महादेव्यां ध्रुवदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराजकुमारगुप्तस्य।
—बिलसद का लेख, गु० ले० नं० १०।

२. आर० सर्वे रिपोर्ट १९०३-४।

३. महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तपत्नी महाराजश्रीगोविन्दगुप्तमाता महादेवी ध्रुवस्वामिनी।

४. का० इ० इ० भा० ३ नं० १०।

लेख के वर्णन से ज्ञात होता है कि ध्रुव शर्मा ने स्वामि महासेन का मंदिर बनवाया तथा स्वर्ग-सोपान के रूप में एक विशाल स्थान (धर्म-संघ) का निर्माण करवाया। इसके अतिरिक्त इस स्तम्भ-लेख में कुमारगुप्त प्रथम तक गुप्त-वंशावली का उल्लेख मिलता है।

(२ व ३) गढ़वा का लेख[1]

प्रयाग ज़िले के गढ़वा नामक स्थान से कुमारगुप्त प्रथम के दो शिलालेख मिले हैं। दोनों की तिथि एक ही गु० सं० ९८ (ई० स० ४१७) मिलती है। दोनों शिलालेखों में क्रमश: दस तथा बारह दीनार दान में देने का उल्लेख मिलता है।

(४) मन्दसोर की प्रशस्ति[2]

कुमारगुप्त प्रथम का यही एक शिलालेख है जिसमें तिथि का उल्लेख मालव संवत् में मिलता है[२]। इस लेख की तिथि विक्रम संवत् ५२९ (ई० स० ४७३) है। यह लेख मालवा के मंदसोर नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। इसके लेखक वत्सभट्टि की साहित्य-मर्मज्ञता का परिचय इस लेख की काव्यशैली के कारण मिलता है। इस शिलालेख के अध्ययन से ज्ञात होता है कि दशपुर (मालवा में स्थित) में एक सूर्य-मंदिर का निर्माण हुआ था जिसका प्रबन्ध तन्त्रवाय श्रेणी के अधीन था। उस समय मन्दसोर का शासक बन्धुवर्मा था जो कुमारगुप्त प्रथम का प्रतिनिधि था।

(५) करमदण्डा का लेख[3]

यह लेख फ़ैज़ाबाद ज़िले के अन्तर्गत करमदण्डा नामक स्थान से मिला है। यह लेख शिवलिङ्ग के निचले भाग में खुदा है तथा इसकी तिथि गु० स० ११७ (ई० स० ४३६) है। इस शिव-प्रतिमा को कुमारगुप्त प्रथम के अधीनस्थ पृथ्वीषेण ने प्रतिष्ठित करवाया था।

(६) दामोदरपुर के ताम्रपत्र[4]

कुमारगुप्त प्रथम के दो ताम्रपत्र उत्तरी बङ्गाल के दामोदरपुर नामक स्थान से मिले हैं। ये ताम्रपत्र इस गुप्त-नरेश की शासन-प्रणाली पर अधिक प्रकाश डालते हैं। इनकी तिथि गु० स० १२४ व १२९ (ई० स० ४४३ व ४४८) है। इस लेख में ज़मीन विक्रय तथा विषयपति व उसकी सभा का विवरण मिलता है। विषयपति तथा उसके सभासदों के नाम भी इसमें उल्लिखित हैं।

(७) धनैदह का ताम्रपत्र[5]

दामोदरपुर ताम्रपत्र की तरह इसका भी स्थान कुमारगुप्त के लेखों में महत्त्वपूर्ण है। इसकी तिथि गु० स० ११३ है। इसके वर्णन से ज्ञात होता है कि गुप्तों के किसी

---

१. का० इ० इ० भा० ३ नं० ८ व ६।

२. वही नं० १८।

३. ए० इ० भा० १० पृ० ७१।

४. ए० इ० भा० १५ नं० ७।

५. ए० इ० भा० १७ नं० २३ पृ० ३४५।

अधिकारी ने थोड़ी सी भूमि सामवेदिन् ब्राह्मण वाराहस्वामिन् को दान में दी थी। यह लेख उत्तरी बंगाल के राजशाही ज़िले में धनैदह ग्राम से मिला है।

(८) वैग्राम ताम्रपत्र[1]

कुमारगुप्त के शासनकाल का यह ताम्रपत्र उत्तरी बंगाल के बोगरा ज़िले में वैग्राम से प्राप्त हुआ था। इसकी तिथि गु० स० १२८ है। इसके वर्णन से स्पष्ट मालूम होता है कि गोविन्द स्वामिन् के मंदिर में कुछ भूमि दान में दी गई थी। इसकी आय मंदिर के सुगंधि, दीप तथा पुष्प के निमित्त व्यय की जाती थी। यह भूमि कर से मुक्त थी। इस दान में तीन कुल्यवापा भूमि दो द्रोण प्रति कुल्यवापा के मूल्य से क्रय की गई थी।

(९) मनकुवार का लेख

कुमारगुप्त प्रथम के समय का यह बौद्ध लेख प्रयाग ज़िले के अन्तर्गत मनकुवार नामक स्थान में प्राप्त हुआ है[2]। इसकी तिथि गु० स० १२९ (ई० स० ४४८) है। यह लेख बुद्ध-प्रतिमा के अधोभाग में खुदा है। इस मूर्ति को बुधमित्र नामक व्यक्ति ने स्थापित किया था।

(१०) साँची का लेख

यह भी बौद्ध लेख है। परन्तु तिथि के अनुसार कुमारगुप्त प्रथम के शासन-काल का है। इसकी तिथि गु० स० १३१ है[3]। इस लेख के वर्णन से प्रकट होता है कि उपासिका हरिस्वामिनी ने काकनादबोट स्थान में स्थित आर्य संघ को कुछ द्रव्य दान में दिया था। इन रुपयों की आय से एक भिक्षु के भोजन तथा बुद्धदेव के दीपक-निमित्त व्यय का प्रबंध होता था।

(११) कुमारगुप्त के समय के जैन लेख

जैनधर्म-सम्बन्धी बहुत से लेख कुमारगुप्त प्रथम की शासन-अवधि में उत्कीर्ण हुए थे। तिथि के अनुसार सबको इसके शासन-काल का बतलाया जाता है। उदयगिरि गुहा में एक लेख (गु० स० १०६) खुदा है[4]। इसके वर्णन से ज्ञात होता है कि उदयगिरि गुहा में शंकर द्वारा जिनवर पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की गई थी। मथुरा में भी दो जैन धर्म-सम्बन्धी लेख गु० स० ११३ व १३५ के मिलते हैं[5]। इनमें जिन-मूर्ति-स्थापना का वर्णन मिलता है।

---

१. ए० इ० भा० २१ नं० १३ पृ० ७८।
२. का० इ० इ० भा० ३ नं० ११।
३. ,, ,, ,, ,, ६२।
४. ,, ,, ,, ,, ६१।
५. { ,, ,, ,, ,, ६३। / ए० इ० भा० २ पृ० २१०

कुमारगुप्त प्रथम के प्रायः अनेक शिलालेखों[1] में गुप्त-संवत् में तिथि का उल्लेख मिलता है। चाँदी के सिक्कों पर भी इसी प्रकार तिथियाँ अंकित हैं। अतः इसके राज्य-काल की अवधि बड़ी सुगमता से जानी जा सकती है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सबसे अन्तिम साँचीवाले गुप्त संवत् ९३ के लेख से ज्ञात होता है कि ई० सन् ४१३ के पश्चात् राज्य के शासन का प्रबन्ध कुमारगुप्त के हाथों में चला गया होगा। इसकी पुष्टि कुमारगुप्त के भिलसदवाले लेख से होती है जिसकी तिथि गु० स० ९६ (ई० स० ४१५) है। कुमारगुप्त के चाँदी के सिक्कों पर गुप्त संवत् १३६ तिथि मिलती है जो उसकी अन्तिम तिथि ज्ञात होती है[2]; इस काल के पश्चात् उसकी कोई तिथि उपलब्ध नहीं है। अतः इससे ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त ई० सन् ४५५ के लगभग अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर चुका होगा। इन शिलालेखों के उल्लिखित कथन के आधार पर ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त प्रथम ने सन् ४१३ ई० से लेकर सन् ४५५ ई० तक अर्थात् ४२ वर्ष तक राज्य किया।

राज्य-काल

यद्यपि कुमारगुप्त का शासन-काल शान्तिमय वातावरण से परिपूर्ण था परन्तु इसके शासन-काल के अन्तिम समय में पुष्यमित्र नामक किसी जाति ने कुमारगुप्त पर आक्रमण कर इस स्थिर शान्ति का नाश कर दिया। परन्तु कुमारगुप्त कुछ कम शक्तिशाली नहीं था। उसने अपनी वीरता का परिचय शत्रुओं को कराया तथा उन्हें समर में परास्त कर आक्रमण करने की मूर्खता का मज़ा चखाया। स्कन्दगुप्त के भितरीवाले स्तंभ-लेख में कुमारगुप्त की इस विजय का वर्णन बड़ी ही सुन्दर तथा ललित भाषा में दिया गया है[3]।

पुष्यमित्र का आक्रमण

विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन
क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा।
समुदितबलकोशान् पुष्यमित्रांश्च जित्वा
क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः॥

इससे ज्ञात होता है कि स्कन्दगुप्त ने इस महाविपत्ति का दृढ़ता के साथ निवारण कर अपने पितृराज्य में शान्ति की स्थापना की। ये गुप्त राज्य पर आक्रमण करनेवाले पुष्यमित्र कौन थे? इस विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है। फ्लीट इनको दक्षिण में नर्मदा के प्रदेश में स्थित एक जाति मानता है[4]। जान एलन फ्लीट के मत का समर्थन करता है[5] तथा इनको (पुष्यमित्रों को) दक्षिण की एक जाति मानता है जो गुप्त-सत्ता का नाश कर उनके आधिपत्य का परित्याग करना चाहती थी।

---

१. गढ़वा, भिलसद, मनकुआर, मंदसोर, साँची आदि के लेख।
२. जे० ए० एस० बी० १८९४, पृ० १७५।
३. का० इ० इ० नं० १३।
४. इ० ऐंटि० भा० १८ पृ० २२८।
५. गुप्त-सिक्के (भूमिका)

इसी कारण से स्वतन्त्रता के इच्छुक पुष्यमित्रों[१] ने गुप्त-साम्राज्य में अशान्ति मचा दी थी। जो हो, यह निश्चित है कि पुष्यमित्र मध्यभारत की एक शासक-जाति का नाम था जिसका वर्णन वायुपुराण[२] तथा जैन कल्पसूत्र[३] में मिलता है। यह जाति अवन्ति में शासन करती थी[४]।

राज्य-विस्तार

कुमारगुप्त प्रथम का कोई ऐसा शिलालेख उपलब्ध नहीं है जिसमें उसके युद्ध अथवा राज्य-विस्तार का वर्णन किया गया हो। इसने अपने पितामह या पिता की भाँति कोई युद्ध नहीं किया और न किसी देश को जीतने के लिए विजय-यात्रा ही की। परन्तु इसके शिला-लेखों के प्राप्ति-स्थान से पता चलता है कि इसने अपने पिता से प्राप्त राज्य का सुचारु रूप से प्रबन्ध करने के साथ ही साथ उसे सुरक्षित भी रक्खा। यद्यपि इसके राज्यकाल के अन्तिम समय में पुष्यमित्र नामक शत्रुओं ने आक्रमण किया था परन्तु इससे कुमारगुप्त की कुछ हानि नहीं हुई। इसके विपरीत ये शत्रु राजकुमार स्कन्दगुप्त के द्वारा मैदान में मारे गये तथा परास्त किये गये। इसका विस्तृत राज्य सुराष्ट्र से लेकर बङ्गाल तक फैला हुआ था। पुण्ड्रवर्धनभुक्ति (उत्तरी बङ्गाल) इसके द्वारा नियुक्त शासक चिरातदत्त के अधीन था[५] (सन् ४४८ ई०)। सन् ४३५ ई० के समीप घटोत्कच गुप्त एरण (पूर्वमालवा) पर शासन करता था[६]। कुमारगुप्त प्रथम का सामन्त बन्धुवर्मा सन् ४३६ ई० में दशपुर (पश्चिमी मालवा) पर राज्य करता था[७]। फ़ैज़ाबाद ज़िले में स्थित करमदण्डा में पृथ्वीषेण सन् ४३६ ई० में शासन करता था। वह पीछे कुमारगुप्त के सेनापति पद पर नियुक्त किया गया[८]। सुराष्ट्र में इसके चाँदी के सिक्के मिले हैं जो शकों का अनुकरण कर ढलवाये जाते थे। उपर्युक्त उल्लेखों से विदित होता है कि महाराज कुमारगुप्त प्रथम का साम्राज्य सुराष्ट्र से बङ्गाल तक विस्तृत था तथा अरब सागर और बङ्गाल की खाड़ी को स्पर्श कर रहा था।

---

१. दिवेकर महोदय ने फ्लीट महोदय के 'पुष्यमित्रांश्च' इस पाठ का संशोधन किया है। उनका कथन है कि 'पुष्यमित्रांश्च' का शुद्ध पाठ 'युद्धमित्रांश्च' होना चाहिए। दिवेकर के मत से भितरीवाले स्तम्भ-लेख में वर्णित आक्रमणकारी किसी साधारण शत्रु का वर्णन है, इसमें किसी जाति-विशेष का उल्लेख नहीं है।— जरनल ऑफ़ भण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट् सन् १९१९-२०।

२. पुष्यमित्राः भविष्यन्ति पटुमित्राः त्रयोदश:।— वायुपुराण ९९। ३७४

३. से० बु० आफ़ इ०, भाग २२ पृ० २९२।

४. जायसवाल—हिस्ट्री आफ़ इंडिया पृ० १०४।

५. दामोदरपुर का ताम्र-लेख गुप्त संवत् १२९

६. तुमांइ का लेख गु० सं० ११६।

७. मन्दसोर की प्रशस्ति वि० सं० ४९३।

८. करमदण्डा की प्रशस्ति गु० सं० ११७।

प्राचीन भारत में अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान एकाधिपत्य तथा प्रभुता का सूचक था। इसी कारण जिस राजा ने अपने को एकराट् तथा प्रतापी समझा उसने इस यज्ञ को किया। कुमारगुप्त के पहले इसके पितामह सम्राट् समुद्रगुप्त तथा पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इस यज्ञ को किया था।

अश्वमेध-यज्ञ

अतः कुमारगुप्त के लिए इस यज्ञ का अनुष्ठान नितान्त स्वाभाविक ही था। इसने इस यज्ञ को करके अपने अतुलनीय पराक्रम का परिचय दिया। गुप्तों के सुवर्ण के सिक्कों में एक सिक्का[1] मिलता है जिस पर एक ओर घोड़े की मूर्ति है तथा दूसरी ओर चामर लिये एक स्त्री खड़ी है। यह सिक्का सम्राट् समुद्रगुप्त के अश्वमेध यज्ञवाले सिक्के से भिन्न है। इसमें (कुमारगुप्त वाले सिक्के में) घोड़े पर ज़ीन कसा है तथा इसका मुख विपरीत दिशा की ओर है जिस तरफ़ कि समुद्रगुप्त का अश्वमेध का घोड़ा देखता है। इस ओर कोई लेख भी नहीं मिलता। इन कारणों से यह सिक्का सम्राट् समुद्रगुप्त का नहीं माना जाता है। सिक्के के दूसरी ओर 'अश्वमेध महेन्द्रः' लिखा हुआ है। उपर्युक्त दो भिन्नताओं से तथा 'महेन्द्र' पदवी की समता से यह मान लिया गया है कि यह अश्वमेध का सिक्का कुमारगुप्त प्रथम का ही है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि महाराजा कुमारगुप्त ने भी अश्वमेध यज्ञ किया होगा तथा इस प्रकार अपने पूर्वजों के पद का अनुसरण किया होगा।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समान ही कुमारगुप्त प्रथम के भी सिक्कों तथा लेखों पर 'परम भागवत[2]' की उपाधि उत्कीर्ण मिलती है। इससे ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त प्रथम भी वैष्णवधर्म का परम अनुयायी था। स्वयं वैष्णवधर्मावलम्बी होते हुए भी कुमारगुप्त ने दूसरों के धर्मों के प्रति अपनी 'धार्मिक सहिष्णुता' का पूर्ण परिचय दिया। उसके विशाल

धर्म-परायणता तथा सहिष्णुता

हृदय में अन्य धर्मों के प्रति लेशमात्र भी द्वेष नहीं था। इसके शासन-काल में बौद्ध बुद्धमित्र ने भगवान् बुद्ध की प्रतिमा की स्थापना की थी[3]। सातवीं शताब्दी के बौद्ध चीनी यात्री ह्वेन्सांग ने ऐसा वर्णन किया है कि गुप्त राजा शक्रादित्य ने नालन्दा में बौद्ध विहार की स्थापना की। 'शक्रादित्य' को कुछ विद्वान् कुमारगुप्त प्रथम की उपाधि मानते हैं; क्योंकि शक्र तथा महेन्द्र पर्यायवाची शब्द हैं। 'महेन्द्रादित्य' कुमारगुप्त की सर्वप्रधान पदवी थी अतः इसी शब्द का पर्यायवाची 'शक्रादित्य' शब्द यदि इसी कुमारगुप्त की पदवी हो तो इसमें क्या आश्चर्य है। अतः इन दोनों उपाधियों की समानता को देखते हुए ह्वेन्सांग द्वारा वर्णित 'शक्रादित्य' यही कुमारगुप्त जान पड़ता है। अतएव यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि इसने नालन्दा में बौद्ध विहारों का शिलान्यास किया। बौद्ध विहार के निर्माण से इसके विशाल हृदय की सूचना मिलती है। धार्मिक सहिष्णुता तथा अन्य धर्म के प्रोत्साहन का इससे अच्छा उदाहरण नहीं मिल सकता है।

---

१. जान एलन—गुप्त कायन्स प्लेट ७।

२. परमभागवतमहाराजाधिराजश्रीकुमारगुप्तराज्ये।—गढ़वा का लेख।

३. मनकुवार का लेख (का० इ० इ० नं० २)।

पृथ्वीषेण करमदण्डा में कुमारगुप्त प्रथम के द्वारा शासक नियुक्त किया गया था। इस करमदण्डा में प्राप्त एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि वह (पृथ्वीषेण) शिवोपासक था। उसके शैव धर्मावलम्बी होने के कारण यह प्रशस्ति शिवलिङ्ग के नीचे खुदी हुई है[४]। उसके सामन्त बन्धुवर्मा ने दशपुर में भगवान् भास्कर के मन्दिर का निर्माण किया था[५]। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि वैष्णव राजा के समय में भी अथवा राजा के वैष्णवधर्मावलम्बी होने पर भी उसके राज्य में बुद्ध, शिव तथा सूर्य की पूजा पूर्ण रूप से होती थी। उपर्युक्त उल्लेखों से कुमारगुप्त की वैष्णवधर्म-परायणता तथा 'धार्मिक सहिष्णुता' के साथ ही साथ उसकी विशालहृदयता तथा उदार चरित्र का पूर्ण रूप से परिचय मिलता है।

गुण-ग्राहकता

कुमारगुप्त प्रथम में अपने पिता के समान ही गुण-ग्राहकता का अभाव नहीं था। इसने भी अपने पूर्व-पुरुषों के सदृश विद्वानों को आश्रय दिया था। वामन ने अपने काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्ति में चन्द्रगुप्त के 'चन्द्रप्रकाश' नामवाले या उपाधिवाले पुत्र का उल्लेख किया है जो विद्वानों का आश्रयदाता था। वह उल्लेख इस प्रकार है—

> सोयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयः चन्द्रप्रकाशो युवा,
> जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः॥

जान एलन का कथन है कि यह 'चन्द्रप्रकाश' की पदवी चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र कुमारगुप्त के ही लिए प्रयुक्त की गई है या यह विशेषण के रूप में उल्लिखित है। अतः उपर्युक्त कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुमारगुप्त विद्वानों का आश्रयदाता था। कुमारगुप्त के सोने के सिक्कों पर 'गुप्तकुलामलचन्द्रः' तथा 'गुप्तकुलव्योमशशी' आदि उपाधियाँ अंकित हैं। अतः इस चन्द्र की उपाधि तथा चन्द्रप्रकाश नाम में समता पाकर चन्द्रप्रकाश को कुमारगुप्त मानना ही समुचित जान पड़ता है। इससे कुमारगुप्त के चरित्र की महत्ता तथा गुण-ग्राहकता का पूर्ण परिचय मिलता है।

वीरता

महाराज कुमारगुप्त प्रथम अपने वीर पितामह तथा पिता की भाँति प्रतापी और पराक्रमी सम्राट् नहीं था। उनके समान न तो इसके द्वारा किसी शत्रु के पराजित करने का वर्णन ही मिलता है और न दिग्विजय का विवरण। सच तो यह है कि इस काल तक गुप्तों का प्रताप-सूर्य अपने मध्याह्न स्थान पर पहुँच गया था। कुमारगुप्त ने अपने पूर्वजों के द्वारा उपार्जित श्री का उपभोग किया परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यह किसी प्रकार अयोग्य हो। अपने पूर्वजों से प्राप्त विस्तृत साम्राज्य में सुशासन स्थापित करके तथा इसकी पूर्णतः रक्षा करके इसने अपनी अलौकिक राज्य-संचालन-शक्ति का परिचय दिया था। इतने बड़े विस्तृत राज्य की रक्षा करना कोई साधारण कार्य नहीं था। वस्तुतः यह कुमारगुप्त जैसे वीर का ही

---

४. यह लेख इस समय लखनऊ म्यूज़ियम में है।

५. मन्दसोर की प्रशस्ति (का० इ० इ० नं० १८)

काम था। स्कन्दगुप्त के भितरीवाले लेख में इसके प्रचण्ड प्रताप का वर्णन इस प्रकार दिया हुआ है—

प्रथितपृथुमतिस्वभावशक्तेः पृथुयशसः पृथिवीपतेः पृथुश्रीः ।

× × × × ×

इससे इसके महान् यश तथा प्रभुता की सूचना मिलती है। इसकी सर्व-धान उपाधि 'महेन्द्रादित्य' थी जो तत्कालीन साहित्य में भी मिलती है। इसके अतिरिक्त 'श्रीमहेन्द्र', 'अजितमहेंद्र', सिंहमहेन्द्र, महेन्द्रकुमार, गुप्तकुलव्योमशशी आदि पदवियों से इसे विभूषित किया गया है। चन्द्रगुप्त द्वितीय की भाँति कुमारगुप्त के भी सिंह-हनन-श्रेणी (Lion Slayer type) के सिक्के मिलते हैं। उन पर कुमारगुप्त सिंह का शिकार करता हुआ दिखलाया गया है। उसी सिक्के पर 'सिंहमहेन्द्रः' भी लिखा हुआ है। इससे कुमारगुप्त की अद्भुत वीरता का परिचय प्राप्त होता है।

कुमारगुप्त का चित्त सदा सार्वजनिक उपकारिता में संलग्न रहता था। इसका राज्य वृत्ति के प्रदान, मन्दिर-निर्माण तथा अग्रहार के लिए प्रसिद्ध है। गढ़वा[1] की प्रशस्ति में वर्णित 'सदा सत्र सामान्यदत्ता दीनाराः १०, (दश)' इस कथन से दस दीनार के दान देने का वर्णन मिलता है। गढ़वा के दूसरे[2] लेख से बारह दीनार देने का वर्णन मिलता है। दशपुर में भी इसने एक मन्दिर का निर्माण कराया था तथा इसके प्रबन्ध का भार तन्तुवाय संघ के अधीन किया था। इसके शासन-काल में राज्य से अनेक वृत्तियाँ दी गईं तथा अन्य व्यक्तियों ने अग्रहार दान दिया। दशपुर (पश्चिम मालवा) के शासक का सूर्यमन्दिर के निर्माण का वर्णन मन्दसोर की प्रशस्ति में मिलता है[3]।

दान तथा सार्वजनिक कार्य

अनेक व्यक्तियों ने भी इसी प्रकार की वृत्तियाँ दी थीं। कुमारगुप्त के राज्य में (ई० सन् ४१५) भिलसद स्थान में किसी सज्जन ने कार्त्तिकेय का मन्दिर बनवाया था। उसने मुनियों का निवास-स्थान भी तैयार करवाया था।

कृत्वा [—अ]भिरामां मुनिवसतिं...स्वर्गसोपानरूपां,

× × × ×

प्रासादाग्राभिरूपं गुणवरभवनं धर्मसत्रं यथावत्[4] ।

इसी के शासन-काल में बौद्ध भिक्षु बुद्धमित्र ने भगवान् की एक प्रतिमा स्थापित करवाई थी। इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है—

भगवतः सम्यक्सम्बुद्धस्य स्वमताविरुद्धस्य इयं प्रतिमा प्रतिष्ठापिता भिक्षु बुद्धमित्रेण[5]

इन सब उदाहरणों से ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त प्रथम के शासन-काल में

१. का० इ० इ० नं० ८।

२. वही नं० ६। 'आत्मपुण्योपचयार्थम्'।

३. श्रेण्यादेशेन भक्त्या च कारितं भवनं रवेः। फ्लीट नं० २८।

४. कुमारगुप्त का भिलसद का स्तम्भलेख।

५. कुमारगुप्त का मनकुआर शिलालेख।

राजा से प्रजा तक सभी सार्वजनिक उपकारिता में तल्लीन रहते थे। इसका मूल कारण कुमारगुप्त की दयालुता तथा विशालहृदयता है। ऐसे परोपकारयुक्त लौकिक कार्य में निरत राजा तथा प्रजा का मिश्रण अपूर्व है तथा शासनकर्ता के श्लाघनीय एवं अनुकरणीय चरित्र का द्योतक है।

उपसंहार

कुमारगुप्त में यद्यपि अपने पूर्वजों की वीरता का अभाव था तो भी वह वीरत था सुशासक सम्राट् था। इसके समय में गुप्त-साम्राज्य का वैभव अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था। इसे न राज्य-विस्तार की लिप्सा थी और न धन संग्रह का लोभ। अतः इसने निश्चिन्त होकर राज्यलक्ष्मी का खूब ही उपभोग किया। इसका शासन शान्तिपूर्ण था। अत: इसका शासनकाल सुखमय रहा। वस्तुतः यह एक प्रभावशाली शासक, परम वैष्णव, पर-धर्म-सहिष्णु, दान वीर तथा प्रजापालक सम्राट् था।

४ स्कन्दगुप्त

कौटुम्बिक वृत्त

स्कन्दगुप्त राजकुमार-अवस्था से ही राज्य-प्रबंध में सहयोग करने लग गया था। अपने पिता कुमारगुप्त प्रथम के मरते ही यह राजसिंहासन पर बैठ गया। गुप्त-लेखों से ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त प्रथम के दो लड़के—स्कन्दगुप्त और पुरगुप्त थे। भितरी के मुद्रा लेख में पुरगुप्त की माता अनन्तदेवी का नाम उल्लिखित है[1] परन्तु स्कन्दगुप्त के लेख में उसकी माता का नाम नहीं मिलता[2]। इस कारण यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि स्कन्दगुप्त व पुरगुप्त सहोदर थे या सौतेले भाई। राज्य के उत्तराधिकारी होने के कारण यह प्रतीत होता है कि स्कन्दगुप्त कुमारगुप्त प्रथम का जेठा पुत्र हो अथवा सब से योग्य होने के कारण राज्य सिंहासन पर बैठा हो। स्कन्दगुप्त के कोई संतान नहीं थी जो उसके पश्चात् राजगद्दी पर बैठता, अतएव स्कन्द की मृत्यु के पश्चात् शासन की बागडोर उसके भाई पुरगुप्त के वंशजों ने ले ली।

उपलब्ध लेख

गुप्त लेखों में ऐतिहासिक सामग्री भरी पड़ी है अतएव इनका अध्ययन गुप्त इतिहास का एक प्रधान अंग बन जाता है। इसी विचार से प्रेरित होकर स्कन्दगुप्त के लेखों का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जायगा। स्कन्दगुप्त के छः लेख भिन्न भिन्न स्थानों से प्राप्त हुए हैं[3] जिनमें से कुछ पर गु० स० में तिथि का उल्लेख मिलता है।

---

१. महाराजाधिराजकुमारगुप्तस्य तत्पादानुध्यातो महादेव्यां अनन्तदेव्यां उत्पन्नो महाराजाधिराज श्री पुरगुप्तस्य--(भितरी की राजमुद्रा का लेख. जे० ए० एस० बी० १८८९)

२. परमभागवतो महाराजाधिराजश्रीकुमारगुप्तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातः परमभागवतो महाराजाधिराज श्री स्कन्दगुप्त।—(बिहार का लेख का० इ० इंडि० भा० ३ नं० १२)

३. का० इ० इंडि० भा० ३ नं० १२, १३, १४, १५, १६, व ६६।

(१) विहार का स्तम्भलेख

स्कन्दगुप्त का यह लेख एक स्तम्भ पर खुदा है जो विहार प्रांत के पटना जिले के अन्तर्गत विहार नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। इस लेख में तिथि का उल्लेख नहीं मिलता। इसमें स्कन्दगुप्त तक गुप्त-वंशावली दी गई है तथा अनेक पदाधिकारियों—कुमारामात्य (मंत्री), अग्रहारिक, शौल्किक (चुंगी अफसर), गौल्मिक (जंगल के अफसर) आदि—के नाम दिये गये हैं।

(२) भितरी का स्तम्भलेख

यह स्तम्भलेख स्कन्दगुप्त के लेखों में बहुत प्रधान स्थान रखता है। यद्यपि इसमें तिथि नहीं मिलती परन्तु इसमें उल्लिखित विवरण से स्कन्दगुप्त की जीवन-सम्बन्धी प्रधान घटना का ज्ञान होता है। इस लेख के वर्णन से प्रकट होता है कि गुप्त नरेश ने विधर्मी हूणों को परास्त कर अपने साम्राज्य में शांति स्थापित की थी। यह लेख ग़ाज़ीपुर ज़िले में स्थित भितरी स्थान से प्राप्त हुआ था।

(३) जूनागढ़ का शिलालेख

यह लेख गुजरात में स्थित जूनागढ़ पर्वत पर खुदा हुआ है। इसकी तिथि गु० स० १३६ (ई० स० ४५५–६) है। यह भी एक बहुत प्रधान लेख है। यह निम्नलिखित बातों पर प्रकाश डालता है—

(अ) हूणों को परास्त करने के पश्चात् स्कन्दगुप्त ने सौराष्ट्र में अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया।

(ब) सौराष्ट्र में सुदर्शन नामक तालाब का जीर्णोद्धार किया गया, जिसको मौर्यों ने बनवाया था।

(स) इसी तालाब के किनारे विष्णु का मन्दिर बनाया गया था।

(द) सबसे मुख्य बात यह है कि इस लेख में वर्णित 'गुप्तप्रकाले गणना विधाय' से ज्ञात होता था कि गुप्त संवत् में भी गणना होती थी। यही एक लेख है जिसमें शब्दों में गुप्त संवत् का उल्लेख है।

(४) कहौम का स्तम्भ-लेख

स्कन्दगुप्त के समय का यह चौथा लेख है। इसकी तिथि गु० स० १४१ (ई० स० ४६०) है। यह स्तम्भ लेख गोरखपुर ज़िले में कहौम स्थान से प्राप्त हुआ था। इस लेख में जैन तीर्थंकर की प्रतिमा स्थापित करने का वर्णन मिलता है।

(५) इन्दौर का ताम्रपत्र

स्कन्दगुप्त के समय का यह ताम्रपत्र है जिसमें गु० स० १४६ (ई० स० ४६५) की तिथि मिलती है। इसमें भगवान् सूर्य के दीपक दिखलाने के निमित्त दान का वर्णन है जिसका प्रबंध इन्द्रपुर के तैलिक श्रेणी के हाथ में था। इस लेख का प्राप्ति-स्थान बुलन्दशहर ज़िले में है।

(६) गढ़वा का शिलालेख

स्कन्दगुप्त का सबसे अंतिम तिथियुक्त लेख गढ़वा का है जो प्रयाग ज़िले के गढ़वा से प्राप्त हुआ है। इसकी तिथि गु० स० १४८ (ई० स० ४६७) मिलती है।

राज्य-काल

स्कन्दगुप्त के पिता कुमारगुप्त प्रथम की अंतिम तिथि उसके सिक्के पर अंकित मिलती है। यह तिथि गु० स० १३६ है; अतएव यह निश्चित है कि स्कन्दगुप्त ने ई० स० ४५५ में ही राज्यसिंहासन को सुशोभित किया। इस बात की पुष्टि स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ के शिलालेख से भी होती है जिस पर गु० स० १३६ (ई० स० ४५५) उल्लिखित है। ऊपर कहा गया है कि स्कन्दगुप्त के प्रायः सभी लेखों पर तिथि का उल्लेख मिलता है। इस गुप्त-नरेश के गढ़वा के लेख पर गु० स० १४८ की तिथि मिलती है। यह तिथि उसके सिक्कों पर भी मिलती है जो उसकी अंतिम तिथि ज्ञात होती है। अतः इसी आधार पर स्कन्दगुप्त का राज्यकाल गु० स० १३६ से लेकर गु० स० १४८ (ई० स० ४५५—४६७) तक माना जाता है यानी स्कन्दगुप्त कुल बारह वर्ष तक सुचारु रूप से शासन करता रहा।

दायाधिकार के लिए युद्ध

कुछ विद्वानों का मत है कि स्कन्दगुप्त गुप्त-राज्य-सिंहासन का सुयोग्य उत्तराधिकारी नहीं था। उस ने अपने प्रबल पराक्रम के द्वारा राज्य के सुयोग्य उत्तराधिकारी को हटाकर राज्यसिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया। पहले कहा जा चुका है कि स्कन्दगुप्त तथा पुरगुप्त भाई थे। उनके सौतेले या सहोदर भाई होने के पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलते। डा० मजुमदार की यह धारणा है कि पुरगुप्त ही गुप्त-राज्य-सिंहासन का उचित अधिकारी था, क्योंकि इसकी माता अनन्तदेवी को महादेवी कहा गया है। स्कन्दगुप्त की माता का नाम नहीं मिलता। शायद स्कन्दगुप्त की माता महादेवी नहीं थीं अतएव उनके नाम का उल्लेख नहीं है। स्कन्दगुप्त ने पुरगुप्त को परास्त कर राजसिंहासन को अपने अधीन कर लिया। भितरी के स्तम्भ-लेख पर एक श्लोक मिलता है जिससे दायाधिकार-युद्ध के समर्थक विद्वान् अपने प्रमाण की पुष्टि करते हैं—

> पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीं
> भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः।
> जितमिव परितोषान् मातरं साश्रुनेत्रां
> हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः॥

'पिता की मृत्यु के पश्चात् वंशलक्ष्मी चंचल हो गई। इसको अपनी भुजाओं के बल से फिर से प्रतिष्ठित किया। शत्रुओं का नाश कर यह अश्रुयुक्त अपनी माता के पास गया जिस प्रकार शत्रुओं को नाश करनेवाले कृष्ण अपनी माता देवकी के पास गये थे।' विद्वानों की यह धारणा है कि इस प्रकार वंशलक्ष्मी को चंचल करनेवाले गुप्त-वंश के ही स्वजन थे जिन्होंने राजसिंहासन के लिए आपस में युद्ध किया था। इस गृहयुद्ध में स्कन्दगुप्त ही अपने प्रबल पराक्रम के कारण विजयी हुआ। परन्तु डा० मजुमदार के प्रमाण कसौटी पर ठीक नहीं उतरते। स्कन्दगुप्त की माता के नाम के साथ 'महादेवी' शब्द न होने से यह सिद्धान्त नहीं निकाला जा सकता कि उसकी माता

महारानी नहीं थी तथा वह सिंहासन का उचित अधिकारी नहीं था। इतिहास में ऐसे बहुत से प्रमाण मिलते हैं जहाँ एक महारानी का राजमहिषी होते हुए भी उसके नाम का उल्लेख तक उसके पति या पुत्र के लेखों में नहीं मिलता। यह विदित है कि नागकुल में उत्पन्न कुबेरनागा महाराज चन्द्रगुप्त द्वितीय की स्त्री थी। किन्तु इसके नाम के साथ महादेवी शब्द नहीं मिलता। इसका नाम केवल प्रभावती गुप्ता की पूना की प्रशस्ति में उल्लिखित है। छठी शताब्दी में कन्नौज पर राज्य करनेवाले महाराज हर्षवर्धन के बाँसखेड़ा[1] तथा मधुवन[2] के लेखों में उसकी माता यशोमती का नाम उल्लिखित नहीं है। अतः किसी राजा की माता के नाम की अनुपस्थिति में—राजमाता का कहीं नामोल्लेख न मिलने से—यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उस राजा की माता महादेवी नहीं थी अतः वह राज्य सिंहासन का अधिकारी नहीं था।

दूसरा भितरी के शिलालेख में प्राप्त उपर्युक्त श्लोक का प्रमाण भी उनके मत को पुष्टि नहीं करता है। इस श्लोक के पौर्वापर्य पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गुप्तों की वंशलक्ष्मी को नाश करनेवाले बाहरी शत्रु (पुष्यमित्र) थे, कोई राजघराने का पुरुष नहीं था। इन पुष्यमित्रों को स्कन्दगुप्त ने अपने पराक्रम से परास्त किया था तथा इन पराजित राजाओं की पीठ पर अपना बायाँ चरण रक्खा था[3]। इसी लेख में हूणों के आक्रमण का भी वर्णन है। अतः स्कन्दगुप्त से युद्ध करनेवाले तथा राजलक्ष्मी को कुछ काल के लिए चञ्चल बना देनेवाले यही बाहरी शत्रु थे। इसके यहाँ गृहयुद्ध नहीं था। कुमारगुप्त प्रथम के पुत्रों में स्कन्दगुप्त ही सर्व-पराक्रमी तथा योग्य था, जो शासन की बागडोर को लेकर सुचारु रूप से चला सकता था। जूनागढ़वाली प्रशस्ति में वर्णित—

व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्रपुत्रान् लक्ष्मीः स्वयं यं वरयाञ्चकार।

इस कथन से ज्ञात होता है कि महाराज कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के पश्चात् स्वयं राजलक्ष्मी ने ही इसे अपना पति वरण किया, इसके पास जाने का निश्चय किया—सब राजपुत्रों को छोड़कर राजश्री ने इसी को वरण किया। स्कन्दगुप्त का एक सोने का सिक्का भी मिला है जिससे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। उस सिक्के में राजा तथा एक देवी का चित्र अंकित है जिसमें वह देवी राजा को कुछ दे रही है। विद्वानों की यह धारणा है कि यह सिक्का 'लक्ष्मीः स्वयं यं वरयाञ्चकार' के भाव का द्योतक है तथा इस भाव का मूर्तिमान् स्वरूप है। स्कन्दगुप्त अपने प्रपितामह सम्राट् समुद्रगुप्त की भाँति अपने पिता के द्वारा राजसिंहासन के लिए निर्वाचित नहीं किया गया था। स्कन्दगुप्त ने विदेशी शत्रुओं को हराया अतः 'लक्ष्मीः स्वयं यं वरयाञ्चकार' इस कथन में कुछ भी सन्देह नहीं किया जा सकता है। ऐसी अवस्था में इस योग्य तथा वीर पुरुष के अतिरिक्त राजसिंहासन के लिए अन्य कोई उचित उत्तराधिकारी नहीं समझा जा

---

१. ए० इ० भाग ४ पृ० २०८।

२. ए० इ० भा० ६

३. क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः।—भितरी का स्तम्भलेख।

सकता था[१]। फिर भी स्कन्दगुप्त तथा उसके भाई के बीच हुए युद्ध का कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता है। उसी भितरीवाले लेख में स्कन्दगुप्त को 'अमलात्मा' कहा गया है जिससे उसके सरल, दयालु, द्वेषरहित तथा निर्मल चरित्र का परिचय मिलता है। उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर डा० मजुमदार के दायाधिकार-युद्ध के मत को स्वीकार करना युक्तियुक्त तथा न्यायसङ्गत नहीं प्रतीत होता। वस्तुतः जिसे राजलक्ष्मी ही वरण कर ले उस पुरुष के विषय में राजसिंहासन के लिए युद्ध की सम्भावना ही नहीं प्रतीत होती।

स्कन्दगुप्त ने अपने पैतृक राज्य का संरक्षण करते हुए शत्रुओं के बढ़ते हुए बल-प्रवाह को रोका। भितरी के लेख में स्कन्दगुप्त के लिए 'अवनीं विजित्य' का उल्लेख मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि इस गुप्त-नरेश ने अपने पितामह तथा प्रपितामह (चन्द्रगुप्त द्वितीय व समुद्रगुप्त) के सदृश कोई दिग्विजय किया होगा; परन्तु स्कन्दगुप्त की विजय-यात्रा का न तो कहीं वर्णन मिलता है और न इसका कहीं उल्लेख है। इसके भितरी तथा जूनागढ़ के लेख से प्रकट होता है कि इस पराक्रमी राजा ने हिन्दू-संस्कृति के नाशक विधर्मी हूणों को परास्त किया[२]। इस युद्ध से पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हूणों के विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त किया जाय।

हूण-विजय

हूण जाति मध्य-एशिया के मैदान तथा जंगलों में निवास करनेवाली एक जाति थी। इसके स्थान को चीन की एक जाति ने अपने वश में कर लिया अतएव हूण लोग अन्य स्थान की खोज में पश्चिम की तरफ़ बढ़े तथा आक्सस होते हुए इन्होंने फ़ारस पर अधिकार स्थापित कर लिया। वहाँ शासन करने से पूरब का मार्ग इनके लिए सरल हो गया और इन्होंने अपनी दृष्टि भारत पर डाली। इस हूण-जाति ने मार्ग में समस्त नगरों को नष्ट करते हुए भारत पर आक्रमण किया। इन विधर्मी हूणों के अत्याचार से पृथ्वी काँप रही थी। भारत के शासक गुप्तों पर आक्रमण करने का परिणाम हूण लोगों ने अच्छी तरह सहन किया। स्कन्दगुप्त ने अपने बल-पराक्रम का परिचय पिता के जीते जी पुष्यमित्रों को नष्ट करके दिया था। अतएव इस वीर नरेश (स्कन्दगुप्त) ने इन आततायी शत्रुओं को परास्त कर आर्य सभ्यता की रक्षा की। गुप्त-सम्राट् ने हिन्दू संस्कृति के नष्ट होने तथा साम्राज्य को इनके आतंक से बचाया। संभवतः यह युद्ध उत्तर गंगा की घाटी में हुआ था[३]।

---

१. भारतीय नीतिशास्त्र में भी योग्य राजकुमार के लिए राजा होने का विधान है। 'न चैकपुत्रमविनीतं राज्ये स्थापयेत्'— अर्थशास्त्र १। १७। विनीतमौरसं पुत्रं यौवराज्येऽभिषेचयेत्— कामंदक नीतिसार ६।७।

२. हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता।—(भितरी का स्तम्भलेख)

रिपवोऽप्यामूलभग्नदर्पा निर्वचना म्लेच्छदेशेषु।
नरपतिभुजगानां मानदर्पोत्फणानाम्,
प्रतिकृतिगरुडाज्ञां निर्विषी चावकर्त्ता॥—(जूनागढ़ का शिलालेख)

३. श्रोत्रेषु गंगाध्वनि— भितरी का स्तम्भलेख।

भितरी तथा जूनागढ़ के लेखों में स्कन्दगुप्त द्वारा हूणों के पराजय का वर्णन मिलता है। जूनागढ़ के लेख में म्लेच्छों का पराजय तथा गु० स० में तिथि १३६ या १३७ का उल्लेख मिलता है। अतएव इसी के समकालीन भितरी के लेख में वर्णित हूणों के पराजय की तिथि निश्चित की जा सकती है। सबसे प्रथम भारत पर हूणों के आक्रमण का वर्णन भितरी के लेख में मिलता है। इस आधार पर (जूनागढ़ का लेख) हूणों को स्कन्दगुप्त ने गु० स० १३६ यानी ई० स० ४५६ के लगभग परास्त किया।

हूणों का पराजय-काल

इस हूण-विजय की पुष्टि लेखों के अतिरिक्त साहित्य से भी होती है। सोमदेव-कृत कथासरित्सागर में उज्जयिनी के राजा महेन्द्रादित्य के पुत्र विक्रमादित्य के द्वारा म्लेच्छों (हूणों) के पराजय का वर्णन मिलता है। कुमारगुप्त प्रथम के सिक्कों से ज्ञात होता है कि 'महेन्द्रादित्य' उसकी सर्वप्रधान पदवी थी। उसके पुत्र स्कन्दगुप्त ने भी विक्रमादित्य की पदवी धारण की थी जिसका उल्लेख सिक्कों तथा लेखों में मिलता है। अतएव कथा-सरित्सागर में वर्णित 'महेन्द्रादित्य' कुमारगुप्त प्रथम है तथा उसके पुत्र विक्रमादित्य स्कन्दगुप्त के लिए प्रयुक्त है[1]। अतएव लेखों में वर्णित हूणों के पराजय का समर्थन कथासरित्सागर से होता है। स्कन्दगुप्त ने अन्य कितने ही राजाओं को अधीन किया था परन्तु उसके सर्वप्रधान शत्रु हूण ही थे जो उसके हाथों परास्त हुए।

ऊपर कहा गया है कि सर्वप्रथम हूणों ने ई० स० ४५६ के लगभग भारत पर आक्रमण किया। उस समय के गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त ने इनको परास्त कर शान्ति स्थापित की थी। स्कन्दगुप्त से पराजित होकर हूणों ने भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों में शरण ली; जहाँ से वे पुनः भारत पर आक्रमण कर सकें। स्कन्दगुप्त ही गुप्तों के उत्कर्ष-काल का अन्तिम सम्राट् था जिसके पश्चात् गुप्त-साम्राज्य की अवनति होने लगी। इस सम्राट् के पश्चात् कोई भी गुप्त राजा ऐसा बलशाली न हुआ जो शत्रुओं के प्रवाह को रोक सके। इस कारण स्कन्दगुप्त के पश्चात् हूणों ने पुनः अपना बल एकत्रित कर गुप्त-राज्य के पश्चिमी प्रदेशों पर अपना अधिकार कर लिया। ई० स० ५३३ में इन्हीं हूणों को मालवा के राजा यशोवर्मन् ने परास्त किया था[2]। इन सब विवरणों से ज्ञात होता है कि स्कन्दगुप्त की मृत्यु के कुछ काल उपरान्त हूण लोगों ने पंजाब तथा मध्यभारत में अपना राज्य स्थापित कर लिया था तथा बहुत दिन तक वे शासन करते रहे। ई० स० ५१० में मध्यभारत में स्थित हूणों ने गुप्त सेनापति गोपराज को युद्ध में मार डाला[3]।

हूणों का अधिकार-विस्तार

---

१. डा० हार्नले महोदय का मत है कि कथासरित्सागर का विक्रमादित्य मालवा का राजा यशोवर्मन् है। परन्तु जान एलन इसका खण्डन करते हैं और विक्रमादित्य की समता स्कन्दगुप्त से बतलाते हैं।—एलन—गुप्त क्वायन भूमिका पृ० ६६।

२. मंदसोर का स्तम्भ-लेख (का० इ० इ० भा० ३ नं० ३३)।

३. एरण का स्तम्भ-लेख गु० स० १९१ (का० इ० इ० भा० ३ नं० २०)।

पश्चिमी भारत में हूणों के लेख[1] तथा सिक्के[2] मिले हैं जिनसे पंजाब से मध्यभारत तक उनकी स्थिति की पुष्टि होती है।

राज्य विस्तार व प्रतिनिधि

यद्यपि गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त के जीवन-काल में बलवान् शत्रुओं (हूणों) का आक्रमण गुप्त साम्राज्य पर हुआ था परन्तु इसका गुप्त प्रदेशों पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा। शत्रुओं को इसके सम्मुख पीठ दिखानी पड़ी। स्कन्दगुप्त तथा उसके पिता कुमारगुप्त प्रथम के समय से ही युद्ध की वार्ता सुनने से यह संदेह उत्पन्न हो जाता है कि ये गुप्त नरेश समुद्रगुप्त व द्वितीय चन्द्रगुप्त द्वारा निर्मित साम्राज्य पर शासन करते रहे या नहीं। सम्भव था कि शत्रुओं के हाथ में कुछ प्रदेश चले जायें। परन्तु यह संदेह निराधार है। स्कन्दगुप्त अपने पैतृक साम्राज्य पर सुचारु रूप से शासन करता रहा और समस्त प्रदेश —उत्तरी भारत, मध्यप्रदेश, मालवा तथा गुजरात—गुप्त-साम्राज्य में सम्मिलित थे। इस गुप्त नरेश के लेख[3] तथा सिक्के[4] इन प्रांतों में मिलते हैं जिससे स्कन्दगुप्त के राज्य की अखण्डता का परिचय मिलता है।

स्कन्दगुप्त ने अपने साम्राज्य के भिन्न भागों में प्रतिनिधि स्थापित किये जो उसका शासन-प्रबंध करते थे[5]। उन्हीं पर समस्त भार रहता था। सौराष्ट्र में पर्णदत्त तथा अंतरवेदि में सर्वनाग प्रतिनिधि का कार्य करते थे[6]। इस प्रकार स्कन्दगुप्त का विस्तृत राज्य सम्पन्न और सुचारु रूप से सुशासित था।

वीरता तथा पराक्रम

सम्राट् स्कन्दगुप्त अपने पितामह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तथा प्रपितामह समुद्रगुप्त के ही समान वीर तथा पराक्रमी था, इस कथन में कुछ भी अत्युक्ति नहीं है। स्कन्दगुप्त वीररस का मूर्तिमान् उदाहरण था। वीरता इसकी नस-नस में कूट कूटकर भरी हुई थी। इसकी प्रबल भुजाओं ने समराङ्गण में शत्रुओं को पछाड़कर अपनी प्रबलता का अनेक बार परिचय दिया था। इसकी वीररसमयी मूर्ति प्रबल शत्रुओं के हृदय में भी भय-संचार कर देती थी। इसका पराक्रम संसार में व्याप्त था। इसका नाम शत्रुरूपी भुजङ्गों के लिए गरुड़ के नाम का काम करता था। इन्हीं अलौकिक गुणों पर मुग्ध होकर राजलक्ष्मी ने इसे स्वयं वरण किया

---

१. एरण का शिलालेख (तोरमाण का)। ग्वालियर का शिलालेख (मिहिरकुल का १५वें वर्ष का)
—(का० इ० इ० भा० ३ नं० ३६ व ३७)।

२. हूणों के समस्त सिक्के दूसरों के अनुकरण में तैयार किये गये थे। यही इनकी विशेषता है। पंजाब में कुषाणों के समान सिक्के तथा मध्यभारत में गुप्तों के चाँदी के सिक्कों के सदृश हूण सिक्के मिले हैं जिनसे पंजाब से लेकर मध्यभारत तक उनका शासनाधिकार प्रकट होता है।

३. बिहार, भितरी व जूनागढ़ (सौराष्ट्र) का लेख आदि।

४. काठियावाड़ तथा मध्यप्रदेश के सिक्के (देखिए सिक्कों का वर्णन)।

५. सर्वेषु देशेषु विधाय गोप्तॄन्, संचिन्तयामास बहु प्रकारम्। —जूनागढ़ का लेख।

६. सर्वेषु भृत्येष्वपि संहतेषु यो मे प्रशिष्यान्निखिलान् सुराष्ट्रान्।
आम् ज्ञातमेकः खलु पर्णदत्तो भारस्य तस्योद्वहने समर्थः। —जूनागढ़ का लेख।
विषयपति सर्वनागस्य अन्तर्वेद्यां भोगाभिवृद्धये वर्तमाने। —इन्दौर ताम्रपत्र।

था। राजलक्ष्मी का यह वरण उचित ही था। जूनागढ़ की प्रशस्ति में लिखा है कि राजलक्ष्मी ने इसे निपुण समझकर, इसके गुण-दोष का विचार कर इसे वृत किया[१]। वस्तुतः इसकी वीरता अद्भुत थी। अपने यौवराज्यकाल में ही इसने अपनी प्रबल वीरता की सूचना दी थी। इसी काल में गुप्तराजलक्ष्मी को चचल कर देनेवाले दुष्ट पुष्यमित्रों को हराकर इसने उनके सिर पर अपना पैर रक्खा था तथा सारी रात ज़मीन पर सोकर बिताई थी। भितरीवाले लेख में इसका वर्णन बड़ी ही सुन्दर तथा ललित भाषा में निम्न प्रकार से दिया गया है—

विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन
क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा।
समुदितबलकोशान् पुष्यमित्रांश्च जित्वा,
क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः॥

इस प्रकार अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् विप्लुत राजलक्ष्मी की इसने फिर से प्रतिष्ठा की। सचमुच ही यह वीरता स्कन्दगुप्त के लिए अलौकिक थी। इस तरह रण में विजय पाकर, राजलक्ष्मी को अपने वश में कर यह घर लौटा। बाल सूर्य की भाँति इसका प्रताप शनैः शनैः वृद्धिगामी था। यह पुष्यमित्रों को परास्त कर ही सन्तुष्ट नहीं हुआ परन्तु इसकी विश्वविजयिनी भुजाओं ने भयङ्कर तथा प्रचण्ड हूणों को भी अपनी तलवार का शिकार बनाया था। राज्यसिंहासन पर आसीन होने पर इसका प्रताप-सूर्य और भी चमक उठा। प्रबल विजेता हूणों से इसकी ऐसी गहरी मुठभेड़ हुई, इसने समर में उनका इस प्रकार से सामना किया कि इसकी भुजाओं के प्रताप से समस्त पृथिवी काँपने लगी[२]। अन्त में हूणों को समराङ्गण में पछाड़कर इसने अपनी वीरता का पुनः परिचय दिया। इस प्रकार यौवराज्य में पुष्यमित्रों को परास्त कर तथा राज्यकाल में हूणों को गहरी शिकस्त देकर इसने अपनी वीरता की वैजयन्ती फहराई। प्रचण्ड हूणों को—नहीं-नहीं विस्तृत तथा व्यवस्थित रोमन साम्राज्य को निगल जानेवाले हूणों को—समर में शिकस्त देना कोई हँसी-खेल नहीं था। यह विजय-कार्य विजयी स्कन्दगुप्त के ही योग्य था। पिता की दुःखदायिनी मृत्यु के पश्चात् एक नहीं दो-दो प्रचण्ड तथा बलशाली शत्रुओं से राज्य की रक्षा करना तथा विप्लुत राजलक्ष्मी की पुनः प्रतिष्ठा करना सचमुच ही अद्भुत वीरता का कार्य है। स्कन्दगुप्त में वीरता का जो बीज यौवराज्य-काल में अंकुरित हुआ था वह क्रमशः बढ़ता ही गया था। स्कन्दगुप्त की इस लोकोत्तर वीरता से उसका प्रताप सर्वव्याप्त हो गया तथा उसकी तूती सर्वत्र बोलने लगी। यही नहीं, इसका बाल्यावस्था से लेकर समस्त पवित्र तथा शुक्ल चरित्र सन्तुष्ट मनुष्यों के द्वारा समस्त दिशाओं में गाया जाने लगा[३]। सचमुच ही स्कन्दगुप्त की कीर्ति सर्वत्र व्यापिनी थी। स्कन्दगुप्त के इन्हीं

---

१. क्रमेण बुद्ध्या निपुणं प्रधार्य, ध्यात्वा च कृत्स्नान्गुणदोषहेतून्।
व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्रपुत्रान्, लक्ष्मीः स्वयं यं वरयाश्चकार॥

२. हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता।—भितरी का स्तम्भ-लेख।

३ चरितममलकीर्तेर्गीयते यस्य शुभ्रं, दिशि दिशि परितुष्टैराकुमारं मनुष्यैः।—भितरी का लेख।

उपर्युक्त वीरता-पूर्ण कार्यों के कारण उसे 'भुजबल से प्रसिद्ध तथा गुप्त-वंश का एक वीर कहा गया है[1]। स्कन्दगुप्त के इसी कारण 'विक्रमादित्य' तथा 'क्रमादित्य' की उपाधि भी मिली थी[2]।

इसका यश विपुल था[3]। स्कन्दगुप्त में वीरता के अतिरिक्त अन्य भी अलौकिक गुण था। इसको 'अमलात्मा' कहा गया है। यह सज्जनों के चरित्र का रक्षक था[4]। इसके पास विनय, बल तथा सुनीति[5] थी। इसके हृदय में करुणा तथा दया की नदी बहती थी। यह आतुर तथा दुःखी मनुष्यों पर दया करता था[6]। इसके शासन-काल में कोई विधर्मी, आर्त, दरिद्र, व्यसनी तथा कुत्सित पुरुष प्रजाओं में नहीं था[7]। यह भक्त था, प्रजा में अनुराग करता था, विशुद्ध बुद्धिवाला था तथा समस्त लोक के कल्याण में लगा रहता था[8]। इसके व्यक्तित्व का वर्णन जूनागढ़ की प्रशस्ति में इस प्रकार किया गया है—

स्यात्कोऽनुरूपो मतिवान्विनीतः,
मेधास्मृतिभ्यामनपेतभावः।
सत्यार्जवौदार्यनयोपपन्नो,
माधुर्यदाक्षिण्ययशोन्वितश्च॥

इस वर्णन से स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि सम्राट् स्कन्दगुप्त में केवल वीरता तथा पराक्रम का ही निवास नहीं था बल्कि मनुष्य को उन्नति की चोटी पर पहुँचानेवाले दया, धर्म, विनय, आर्जव, औदार्य आदि जितने गुण हैं उन्होंने इसी के शरीर में आश्रय पाया था। सम्राट् स्कन्दगुप्त के इन्हीं सब प्रजापालक तथा अलौकिक गुणों पर मुग्ध होकर म्लेच्छ देश में रहनेवाले तथा 'आमूलभग्नदर्प' इसके शत्रु भी इसकी प्रशंसा करते थे[9]। जूनागढ़ की प्रशस्ति में स्कन्दगुप्त के चरित्र, पराक्रम तथा व्यक्तित्व का बड़ी सुन्दर तथा ललित भाषा में निम्नांकित प्रकार से वर्णन दिया गया है :—

तदनु जयति शश्वत्श्रीपरिक्षिप्तवक्षाः,
स्वभुजजनितवीर्य्यः राजराजाधिराजः।

---

१. जगति भुजबलाड्यो(ढ्यो)गुप्तवंशैकवीरः,प्रथितविपुलधामा नामतः स्कन्दगुप्तः॥—भितरी का लेख
२. विनयबलसुनीतैर्विक्रमेण क्रमेण।—वही।
३. पितृपरिगतपादपद्मवर्ती, प्रथितयशाः पृथिवीपतिः सुतोऽयम्।—वही
४. सुचरितचरितानां येन वृत्तेन वृत्तम्,न विहतममलात्मा तानपीढा (?) विनीतः।—वही।
५. विनयबलसुनीतैः।—वही
६. बाहुभ्यामवनीं विजित्य हि जितेष्वार्तेषु कृत्वा दयाम्।— वही।
७. तस्मिन्नृपे शासति नैव कश्चित्, धर्मादपेतो मनुजः प्रजासु।
आर्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो दंड्यो न वा यो भृशपीडितः स्यात्॥—जूनागढ़ का शिलालेख।
८. भक्तोऽनुरक्तो नृविशेषयुक्तः सर्वोपधाभिश्च विशुद्धबुद्धिः
आनृण्यभावोपगतान्तरात्मा, सर्वस्य लोकस्य हिते प्रवृत्तः।—वही।
९. प्रथयन्ति यशांसि यस्य, रिपवोऽप्यामूलभग्नदर्पा निर्वचना म्लेच्छदेशेषु।— वही।

नरपतिभुजगानां मानदर्पोत्फणानां,
प्रतिकृति गरुडाज्ञां निर्विषीं चावकर्त्ता ॥
नृपतिगुणनिकेतः स्कन्दगुप्तः पृथुश्रीः,
चतुरुदधिजलान्तां स्फीतपर्य्यन्तदेशाम्‌ ।
अवनिमवनतारिर्यश्चकारात्मसंस्थां,
पितरि सुरसखित्वं प्राप्तवत्यात्मशक्त्या ॥
नोत्सिक्तो न च विस्मितः प्रतिदिनं संवर्द्धमानद्युतिः
गीतैश्च स्तुतिभिश्च वन्दकजनो यं प्रापयत्यार्य्यताम्‌ ।

अपने पिता के सदृश स्कन्दगुप्त का चित्त भी सदा लौकिक उपकारिता में लग्न रहता था। इसने प्रजा के हित समृद्धि के लिए बहुत सा कार्य किया जो उसके, प्रजा के लिए, उपकार के प्रमाण हैं। इसने पराक्रमी विदेशी शत्रुओं को परास्त कर प्रजा की रक्षा की तथा प्रदेशों पर शासन करने के लिए अपना प्रतिनिधि स्थापित किया था। इसके प्रान्तों में स्थापित ये प्रतिनिधि भी परोपकारिता के कार्य में सर्वदा लगे रहते थे। ऐसा ही एक प्रान्तीय प्रतिनिधि पर्णदत्त नामक पुरुष था जिसे सम्राट्‌ स्कन्दगुप्त ने सौराष्ट्र में शासन करने के लिए नियुक्त किया था। इस पर्णदत्त ने एक सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक सुदर्शन नामक कासार की मरम्मत कराई। इस प्राचीन कासार का पूर्वेतिहास कुछ कम मनोरञ्जक नहीं है। ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व सम्राट्‌ चन्द्रगुप्त मौर्य के मन्त्री पुष्यगुप्त ने इस सुप्रसिद्ध कासार का निर्माण किया था। तत्पश्चात्‌ सुराष्ट्र में स्थित सम्राट्‌ अशोक के यवन प्रतिनिधि 'तुषास्फ' ने इस जलाशय से जनता के उपकारार्थ नहर निकाली थी। सन्‌ १५० ई० में महाक्षत्रप रुद्रदामन्‌ ने अपनी निजी सम्पत्ति द्वारा इस कासार का जीर्णोद्धार कराया तथा दोनों किनारों पर बाँध बँधवाया था[१]।

सुदर्शन कासार का जीर्णोद्धार

स्कन्दगुप्त के समय में भी इस लोकोपकारक सुदर्शन कासार की दुर्गति हो गई थी[२]। इसके जल से सिंचाई का काम होता था। परन्तु पानी की कमी से अब यह कार्य नहीं हो सकता था। अतः इससे मनुष्यों को पहले जितनी सहायता पहुँचती थी अब उतना ही कष्ट होने लगा। ग्रीष्म ऋतु में यह जलाशय जलरहित हो जाता था जिससे जनता को जल मिलना कठिन हो गया था[३]। लौकिक उपकारिता में संलग्न राजा स्कन्दगुप्त से प्रजा का यह कष्ट नहीं देखा गया। अतः बहुत सा धन व्यय करके इसने पुनः इसका जीर्णोद्धार करवाया। इस कासार के निर्माण का वर्णन स्कन्दगुप्त

---

१. मौर्य्यस्य राज्ञः चन्द्रगुप्तस्य राष्ट्रियेण वैश्येन पुष्यगुप्तेन कारितमशोकमौर्य्यस्य कृते यवनराजेन तुषास्फेनाधिष्ठाय......... स्वस्मात्‌ कोशात्‌ महता धनौघेनातिमहता च कालेन त्रिगुणदृढतरविस्तारायामं सेतुं विधाय सर्वतटे। —रुद्रदामन्‌ की गिरनार की प्रशस्ति।

२. जयीहलोके सकलं सुदर्शनं पुमान्‌ हि दुर्दर्शनतां गतं क्षणात्‌। —जूनागढ़ का लेख।

३. अथ क्रमेणाम्बुदकाल आगते, निदाघकालं प्रविदार्य तोयदैः।
ववर्ष तोयं बहुसंततं चिरं सुदर्शनं येन बिभेद चात्वरात्‌ ॥—वही।

की जूनागढ़वाली प्रशस्ति में बड़ी ही ललित भाषा में दिया गया है। इसी सुप्रसिद्ध सुदर्शन जलाशय के तट पर स्कन्दगुप्त के नियुक्त शासक चक्रपालित ने विष्णु भगवान् के मन्दिर का निर्माण किया था। इस जलाशय के निर्माण से प्रजा के लिए सम्राट् स्कन्दगुप्त की सुख-कामना का पूर्ण परिचय मिलता है।

धार्मिक सहिष्णुता

लोकोपकारिता के गुणों के साथ ही साथ स्कन्दगुप्त में धार्मिक सहिष्णुता का भाव भी पूर्ण मात्रा में विद्यमान था। अपने पूर्वजों की भाँति यह भी वैष्णवधर्मानुयायी था। इसने अपने पिता की स्मृति में भितरी (ज़िला ग़ाज़ीपुर यू० पी०) में भगवान् शार्ङ्गिण (विष्णु) की प्रतिमा स्थापित करवाई[1] थी। इसके शिलालेखों में 'परमभागवतो महाराजाधिराज-श्री स्कन्दगुप्तः' ऐसा उल्लेख मिलता है[2] जो उपर्युक्त कथन की पुष्टि कर रहा है। स्कन्दगुप्त के सुराष्ट्र के प्रतिनिधि चक्रपालित ने सुदर्शनतड़ाग के तट पर विष्णु भगवान् की प्रतिमा की प्रतिष्ठा की थी जिससे उसके स्वामी (स्कन्दगुप्त) के भी वैष्णवधर्मावलम्बी होने का प्रमाण मिलता है। इसके अतिरिक्त अन्तरवेदी के विषयपति सर्वनाग की सीमा में सूर्य भगवान् के दीपक-निमित्त दान का वर्णन मिलता है[3]। इस दीपक के व्यय के लिए राणायनीय शाखा वाले एक ब्राह्मण ने क्षत्रियवीर चलवर्मा तथा भ्रुकुटिसिंह के द्वारा स्थापित मन्दिर में अग्रहार दान में दिया था जिसका प्रबन्ध इन्द्रपुर के तेलकार संघ के अधीन था। इस संघ का यह कर्त्तव्य था कि इस अग्रहार दान के लाभ को सूर्य भगवान् के दीपक के लिए व्यय किया करे[4]।

वैष्णव धर्म के साथ ही साथ स्कन्दगुप्त के राज्य में दूसरे धर्म का भी प्रचार था तथा उसकी प्रजा उस धर्म का स्वतन्त्र रूप से पालन करती थी। स्कन्दगुप्त के शासन-काल में कहौम (ज़िला गोरखपुर) में मद्र नामधारी किसी पुरुष ने आदिकर्तृन् की मूर्ति की स्थापना की थी[5]। भगवान्लाल इन्द्रजी का कथन है कि आदिकर्तृन् से जैनधर्म के पाँच तीर्थंकरों (आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर) का बोध होता है। अतएव आदिकर्तृन् की मूर्ति की स्थापना से स्पष्ट पता चलता है कि मद्र जैनधर्मावलम्बी था। इस पुरुष के जैनधर्मानुयायी होने पर भी इसके हृदय में दूसरे धर्म के प्रति द्वेषभाव नहीं था। क्यों न हो, यह भी तो स्कन्दगुप्त का प्रजा जन ही था। जब राजा के हृदय में ही किसी अन्य के प्रति राग-द्वेष नहीं है तो फिर उसकी प्रजा उसका

---

१. कर्तव्या प्रतिमा काचित् प्रतिमां तस्य शार्ङ्गिणः।

२ बिहार का शिलालेख (१२)।

३. इन्दौर का ताम्रपत्र।—का० इ० इ० नं० १६।

४ राणायनीयो वर्षगणसगोत्रब्रह्मपुरवासिनस्यान् क्षत्रियाचलवर्म्मभृकुण्ठसिंहाभ्यामधिष्ठितस्य प्रत्यां दिशीन्द्रपुराधिष्ठानमाडास्यातस्यानन्तमेव प्रतिष्ठापितकभगवते सवित्रे दीपोपयोज्यमात्मयशोऽभिवृद्धये मूल्यं प्रयच्छति। इन्द्रपुरनिवासिन्यास्तैलिकश्रेण्याः...। —इन्दौर का ताम्रपत्र। का० इ० इ० नं० १६।

५. पुण्यस्कन्धं स चक्रे जगदिदमखिलं संसरद्वीक्ष्य भीतो,
श्रेयोऽर्थं भूतभूत्यै पथि नियमवतामर्हतामादिकर्तॄन्।

अनुकरण क्यों न करे ? मद्र के हृदय में ब्राह्मण, गुरु, संन्यासी (यति) आदि के प्रति श्रद्धा का भाव विद्यमान था तथा वह इनके प्रति आदर प्रकट करता था[१]।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णनों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि स्कन्दगुप्त के शासन-काल में विष्णु, भगवान् सूर्य तथा जैन तीर्थंकरों की भी पूजा होती थी। किसी को किसी अन्य धर्म के प्रति द्वेष नहीं था। इन विभिन्न धर्मों के एकत्र प्रचार तथा वृद्धि से महाराजा स्कन्दगुप्त की धार्मिक सहिष्णुता तथा विशालहृदयता का पूर्ण परिचय मिलता है। वस्तुतः उसके रागद्वेषरहित हृदय में सब धर्मों के लिए समान सम्मान तथा आदर था।

उपसंहार

सम्राट् स्कन्दगुप्त एक वीर योद्धा तथा पराक्रमी विजेता था। इसका प्रताप सूर्य इसकी यौवराज्यावस्था में ही उग्र रूप से चमकने लगा था। प्रतिभा की नाईं प्रताप भी काल की प्रतीक्षा नहीं करता। अपने प्रबल पराक्रम तथा वर्द्धमान प्रताप से यह शीघ्र ही वीराग्रणी बन गया था। सम्राट् स्कन्दगुप्त केवल नाम ही से 'स्कन्द' नहीं था परन्तु इसने अपने अलौकिक कार्यों से भी 'स्कन्द' (स्वामी कार्तिकेय) की समानता प्राप्त की थी। यह 'स्कन्द' की भाँति जन्मना सेनानी था। रणाङ्गण में उतरकर मतवाली शत्रु-सेनाओं का क्षण में नाश करना तथा अपनी असंख्य सेना का संचालन करना इस जन्मतः सेनानी का ही काम था। इसमें समुद्रगुप्त के प्रताप तथा पराक्रम की छाया जान पड़ती है। समरभूमि में घनघोर युद्ध के लिए उतरा यह वीराग्रणी किस कुटिल शत्रु के हृदय में कँपकँपी नहीं पैदा कर देता था !

स्कन्दगुप्त ने पहले पुष्यमित्रों को परास्त किया था। इन्होंने राज्यलक्ष्मी को चंचल कर दिया था परन्तु उनका नाश कर इसने फिर इस राज्य-श्री को स्थापित किया। गुप्त-सम्राटों के प्रबल पराक्रम के आगे हूणों की एक नहीं चली थी। ये बड़े ही दुष्ट थे। कुटिलता तथा कठोरता इनका स्वाभाविक अंग था। इन्होंने न केवल एशिया में ही लूट-पाट मचाई बल्कि अपने कठोर आतंक से यूरोपीय देशों को भी भयभीत बना दिया था। इन्हीं हूणों ने—नहीं, उन हूणों ने जिनका नाम कठोरता, निर्दयता, नृशंसता के लिए प्रसिद्ध था, जिन्होंने प्रबल पराक्रमी तथा अत्यन्त विस्तृत रोमन-साम्राज्य को भी चकनाचूर कर धूल में मिला दिया—इस भारतीय सम्राट् से लड़ाई ठानी तथा आक्रमण कर दिया। परन्तु कुछ ही क्षणों में स्कन्दगुप्त की तलवार की तीक्ष्णता का पता उन्हें लग गया तथा परास्त होकर उन्हें भागना पड़ा। ऐसी घनघोर लड़ाई हुई कि पृथिवी भी काँपने लगी। इस प्रकार से स्कन्दगुप्त ने राज्य की रक्षा की तथा राज्यलक्ष्मी को स्थिर किया। गुप्तवंश के इतिहास में स्कन्दगुप्त का स्थान महत्त्वपूर्ण है। साम्राज्य काल के गुप्तों में (Imperial Guptas) यह अन्तिम नरेश था। यहीं से गुप्त-साम्राज्य की अवनति प्रारम्भ होती है। सम्राट् समुद्रगुप्त ने अपने पराक्रम से जिस गुप्त-साम्राज्य की स्थापना की थी वह अक्षुण्ण रीति से अब तक स्थिर रहा। जिस राजलक्ष्मी को

---

१. मद्रस्तस्याभवेऽभूत् द्विजगुरुयतिषु प्रायशः प्रीतिमान्यः।

—कोहम का शिलालेख। का० इ० इ० नं० १५।

समुद्रगुप्त ने प्रतिष्ठा की थी वह स्कन्दगुप्त तक स्थिर रह सकी। इस काल में जितने राजा हुए वे बड़े ही प्रतापशाली थे। उनके पराक्रम के आगे किसी शत्रु की दाल नहीं गल सकती थी तथा आक्रमण के विचार से ही उनकी हिम्मत टूट जाती थी। किसी शत्रु की इतनी हिम्मत नहीं थी जो उन पर चढ़ाई कर सके। अनेक शक आदि शत्रुओं ने सामना किया परन्तु उन्हें हार खानी पड़ी। स्कन्दगुप्त तक यह परम्परा क़ायम रही। परन्तु इसके बाद के राजाओं में इतना बल नहीं था कि वे शत्रुओं के आक्रमण को रोक सकते। वे निर्बल थे अतः शत्रुओं ने आक्रमण कर गुप्त-साम्राज्य को छीनना प्रारम्भ कर दिया। कहने का तात्पर्य यह कि स्कन्दगुप्त के समय से ही गुप्त-साम्राज्य की अवनति प्रारम्भ होती है। यही अन्तिम सम्राट् था जिसमें गुप्त-साम्राज्य को स्थिर रखने की क्षमता थी। अतः स्कन्दगुप्त का स्थान विशेष महत्त्व का है। अब अगले अध्यायों में गुप्तकाल के अवनति-काल के इतिहास का परिचय दिया जायगा।

उपक्रम

सम्राट् स्कन्दगुप्त ही गुप्त-साम्राज्य का अन्तिम नरेश था जिसने सौराष्ट्र से लेकर बङ्गाल पर्यन्त शासन किया। अतएव गुप्तों के उत्कर्ष-काल की उसी से समाप्ति होती है। ई० स० ४६७ में स्कन्दगुप्त की मृत्यु हुई। उसके पश्चात् गुप्त-साम्राज्य का कोई भी उत्तराधिकारी ऐसा बलशाली नहीं था जो समस्त साम्राज्य पर अपना अधिकार जमाये रखता। कुछ ऐतिहासिक विद्वानों की यह धारणा है कि ई० स० ४६७ के उपरान्त गुप्त-साम्राज्य सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गया; परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह अमान्य है। इस विषय में तो तनिक भी सन्देह नहीं कि स्कन्दगुप्त के पश्चात् गुप्तों की अवनति प्रारम्भ हो गई। परन्तु इस समय में ही गुप्त-साम्राज्य को नितान्त नष्ट-भ्रष्ट बतलाना उचित नहीं है। इस समय गुप्तों के हाथ से केवल सौराष्ट्र तथा पश्चिमी मालवा (जो चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय से अब तक गुप्त-साम्राज्य का एक प्रधान तथा मान्य अङ्ग था) सर्वदा के लिए निकल गये। इनको छोड़कर गुप्तों के समस्त प्रदेश अवनति-काल के गुप्त शासक के हाथ में ज्यों के त्यों बने रहे। लेखों तथा सिक्कों के प्राप्ति-स्थान से हम इस काल के गुप्त प्रदेशों का पता भली भाँति लगा सकते हैं।

छठीं शताब्दी के मध्य तक गुप्तों का साम्राज्य पूर्वी मालवा से उत्तरी बङ्गाल तक विस्तृत रहा। अवनति-काल के चौथे नरेश बुधगुप्त के सारनाथ[1], एरण[2] तथा दामोदरपुर[3] के लेखों से यह पता चलता है कि वह गुप्त नरेश ई० स० ४७७ से ४९५ तक पूर्वी मालवा से उत्तरी बङ्गाल तथा गङ्गा व नर्मदा के मध्य प्रदेशों पर शासन करता था। बुधगुप्त के उत्तराधिकारी वैन्यगुप्त और भानुगुप्त के लेख तथा सिक्कों से भी यही प्रतीत होता है कि इनके राज्यकाल में भी गुप्त-साम्राज्य बुधगुप्त के शासित प्रदेशों पर बना रहा। भानुगुप्त के लेख मध्यप्रदेश के एरण[4] व बङ्गाल के दामोदरपुर[5] से प्राप्त हुए हैं। उसी प्रकार वैन्यगुप्त का एक ताम्रपत्र हाल में गुनैघर नामक स्थान (पूर्वी बङ्गाल) से मिला है[6]। इन सब लेखों के अध्ययन से पूर्वोक्त कथन की पुष्टि होती है।

---

१. आर० सर्वे रि० १९१४-१५ गु० स० १५७।

२. का० इ० इ० भा० ३ नं० १९ गु० स० १६५।

३. ए० इ० भा० १५ गु० स० १६३।

४. का० इ० इ० भा० ३ नं० २० गु० स० १९१।

५. ए० इ० भा० १५।

६. इ० हि० क्वा० १९३०।

इन ऐतिहासिक प्रमाणों के अध्ययन से यह प्रकट होता है कि स्कन्दगुप्त की मृत्यु के बाद गुप्त-साम्राज्य के केवल बुरे दिन आये। पश्चिमी मालवा तथा सौराष्ट्र गुप्तों के हाथ से निकल गये। इसके अतिरिक्त और गुप्त-साम्राज्य के प्रदेशों पर किसी तरह की कमी नहीं होने पाई।

लेखों तथा सिक्कों के आधार पर गुप्तों का अवनति-काल ई० स० ४६७ से ई० स० ५६० तक माना जाता है। इस अवधि में कुल सात गुप्त नरेशों का पता लगता है जिन्होंने थोड़े या अधिक समय तक राज्य किया। इस काल में दो भिन्न-भिन्न परम्परा के गुप्त राजा शासन करते रहे। पहला वंश स्कन्दगुप्त के भ्राता पुरगुप्त का है जिसके वंश-वृक्ष का वर्णन भितरी के राजमुद्रा के लेख में पाया जाता है[1]। इस वंश में पुर, नरसिंह तथा कुमार द्वितीय ये तीन गुप्त राजा हुए। इस वंश का शासन बहुत थोड़े समय—ई० स० ४६७-४७७—तक था। पुरगुप्त के वंश में कुमारगुप्त द्वितीय का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिसके दो लेख भी मिले हैं[2]। इसने अपने वंश में सबसे अधिक काल तक शासन किया।

दूसरा वंश बुधगुप्त का है जिसमें चार गुप्त नरेश हुए। ये राजा एक के बाद एक राज्य करते रहे। इस वंश का पूर्व वंश से कौन सा सम्बन्ध था, यह अभी तक निश्चय रूप से ज्ञात नहीं है। बुधगुप्त बहुत बड़ा शासक तथा प्रतापी राजा था। इसका राज्य एरण (पूर्वी मालवा) से पुण्ड्रवर्धन (उत्तरी बंगाल) तक फैला हुआ था। इस अवनति-काल में सबसे प्रतापी बुधगुप्त ही था। बुधगुप्त के उत्तराधिकारी वैन्यगुप्त तथा भानुगुप्त ने भी पैतृक राज्य का संरक्षण किया। भानुगुप्त का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिसने हूणों को परास्त कर आर्य संस्कृति की रक्षा की। इस वंश के अंतिम नरेश वज्र के विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। इनका वर्णन हुेनसांग ने किया है कि बुधगुप्त के वंशजों ने नालंदा बौद्ध महाविहार में वृद्धि की। बुधगुप्त के वंशजों ने पुरगुप्त के उत्तराधिकारियों की अपेक्षा अधिक काल तक शासन किया। मध्यभारत से अनेक लेख प्राप्त हुए हैं जिनमें गुप्तों के सामन्तों का उल्लेख मिलता है। मझगावाँ (बघेलखण्ड) के ताम्रपत्र से प्रकट होता है कि ई० स० ५११ के लगभग परिव्राजक महाराज हस्तिन् ने गुप्तों की अधीनता स्वीकार कर ली थी। बेतूल (मध्यप्रदेश) ताम्रपत्र ई० स० ५१८ तथा खोह के ताम्रपत्र ई० स० ५२८ से ज्ञात होता है कि हस्तिन् का पुत्र महाराजा संक्षोभ गुप्तों के आश्रित था। इन सब लेखों के अध्ययन से पता लगता है कि गुप्तों का प्रभाव बघेलखण्ड व मध्य-प्रदेश पर अवश्य व्याप्त था।

इस अवनति-काल के शासनकर्त्ता अपने पूर्वजों के सदृश प्रतापी नहीं थे जिससे उनके बोलबाला का सर्वथा अभाव था। इस काल के अंतिम गुप्त नरेश वज्र के मरने पर गुप्त-साम्राज्य की श्री सर्वदा के लिए नष्ट हो गई। यों तो गुप्तों का प्रताप पहले से क्षीण हो रहा था, परन्तु अवनति-काल के पश्चात् गुप्तवंश का सूर्य अस्त हो गया। छठी

---

१. जे० ए० एस० बी० १८८९।

२. सारनाथ तथा भितरी राजमुद्रा का लेख।

शताब्दी के मध्यभाग से गुप्तों का साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया। इस परिच्छेद में अवनति-काल के राजाओं का परिचय देने का प्रयत्न किया जायगा।

१ पुरगुप्त

उत्कर्ष-काल के अंतिम सम्राट् स्कन्दगुप्त की मृत्यु सन् ४६७ में हुई। उसके कोई पुत्र नहीं था, अतएव गुप्त-सिंहासन उसके भाई पुरगुप्त के हाथ में चला आया। भितरी राजमुद्रा में पुरगुप्त की वंशावली मिलती है[1], जिससे पता चलता है कि पुरगुप्त कुमारगुप्त प्रथम का पुत्र था और उसका जन्म महादेवी अनन्तदेवी के गर्भ से हुआ था। इस प्रकार वह स्कंदगुप्त का भाई ठहरता है परन्तु यह सहोदर भ्राता था या सौतेला, इसके विषय में कोई भी निश्चित प्रमाण अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

पुरगुप्त का कोई स्वतंत्र लेख नहीं मिलता है परन्तु इसके पौत्र द्वितीय कुमारगुप्त की भितरी राजमुद्रा में, पूरे वंश-वृत्त में, इसका नाम मिलता है। सम्राट् स्कन्दगुप्त की मृत्यु (ई० स० ४६७) के पश्चात् गुप्त-शासन-प्रबंध पुरगुप्त के हाथ में आया। स्कन्दगुप्त के भाई होने के कारण ई० स० ४६७ तक पुरगुप्त की युवावस्था समाप्त हो गई होगी। अतएव वृद्धावस्था में ही शासन की बागडोर पुरगुप्त के हाथ लगी। इसलिए यह बहुत सम्भव है कि राज्य-प्रबंध बहुत समय तक उसके हाथ में नहीं रह सका। पुरगुप्त के पौत्र द्वितीय कुमारगुप्त का गु० स० १५४ का एक लेख सारनाथ में मिला है[2] जिससे पता चलता है कि कुमारगुप्त द्वितीय ई० स० ४७३ में शासन करता था। इसी आधार पर यह प्रकट होता है कि इसके (कुमारगुप्त द्वितीय) पिता नरसिंहगुप्त तथा पितामह पुरगुप्त का शासन-काल ई० स० ४६७ से लेकर ४७३ पर्यन्त समाप्त हो गया होगा। राज्य-प्रबन्ध लेते समय पुरगुप्त की वृद्धावस्था थी अतएव यह अनुमान किया जाता है कि पुरगुप्त का शासन बहुत ही लघु काल में समाप्त हुआ।

लेख तथा राज्यकाल

भितरी की राजमुद्रा में पुरगुप्त के लिए 'कुमारगुप्तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो' यह पद प्रयुक्त मिलता है। इस लेख में कुमारगुप्त के पश्चात् स्कन्दगुप्त का उल्लेख नहीं मिलता। इस कारण कुछ विद्वान् अनुमान करते हैं कि कुमारगुप्त प्रथम की मृत्यु के पश्चात् पुरगुप्त भी विशाल गुप्त-साम्राज्य के किसी प्रांत पर स्वतंत्र रूप से शासन करता था। परन्तु यह मत मानना युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त के सिक्कों तथा लेखों से ज्ञात होता है कि वह सौराष्ट्र से बंगाल पर्यन्त समस्त गुप्त-साम्राज्य पर स्वयं शासन करता था। अतः इस राज्य के अन्तर्गत किसी प्रतिस्पर्धी का शासन करना

---

१. भितरी का पूरा राजमुद्रा-लेख (जे० ए० एस० बी० १८८६) महाराजाधिराजकुमारगुप्तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो महादेव्यां अनन्तदेव्यां उत्पन्नो महाराजाधिराजश्रीपुरगुप्तस्य पुत्रस्तत्पादानुध्यातो महादेव्यां श्रीवत्सदेव्यां उत्पन्नो महाराजाधिराजश्रीनरसिंहगुप्तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो महादेव्यां श्रीमतीदेव्यां उत्पन्नो परमभागवतो महाराजाधिराजश्रीकुमारगुप्तः।

२. आर० सों० रिपोर्ट १९१४-१५।

नितांत असम्भव प्रतीत होता है। अतः राजमुद्रा के लेख में पुरगुप्त के नाम के साथ 'तत्पादानुध्यातो' विशेषण तथा स्कन्दगुप्त के नाम की अनुपस्थिति में यह सिद्धान्त नहीं निकाला जा सकता कि पुरगुप्त अपने भाई स्कन्दगुप्त का समकालीन प्रतिस्पर्धी शासक था। ऐसे बहुत से ऐतिहासिक स्थल हैं जहाँ पर शासकों के लेखों में अपने पूर्व-शासनकर्ता भाई का नाम नहीं मिलता। दक्षिण भारत में चालुक्य राजा पुलकेशी द्वितीय का नाम उसके भ्राता चालुक्य-नरेश विष्णुवर्धन के लेखों में नहीं मिलता। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि विष्णुवर्धन से पहले पुलकेशी द्वितीय ने राज्य नहीं किया। पुरगुप्त के लिए 'तत्पादानुध्यातो' पद के प्रयोग ने विद्वानों में मतभेद पैदा कर दिया है। परन्तु इससे पुरगुप्त का कुमारगुप्त प्रथम के बाद शासन करना नहीं प्रकट होता। बंगाल के पाल-वंशीय मनहली के लेख में पाल राजा मदनपाल के लिए 'श्रीरामपालदेवपादानुध्यातो' का उल्लेख मिलता है। परन्तु इसके पहले मदनपाल के जेठे भाई कुमारपाल ने शासन किया। इन सब प्रमाणों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भितरी राजमुद्रा के लेख में स्कन्दगुप्त के नाम की अनुपस्थिति और 'तत्पादानुध्यातो' विशेषण से पुरगुप्त का गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम के पश्चात् ही शासक होना सिद्ध नहीं होता। इस विवेचन से यही ज्ञात होता है कि पुरगुप्त ने कुमारगुप्त के अनन्तर नहीं बल्कि अपने भाई स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्त-सिंहासन को सुशोभित किया[1]।

स्कन्दगुप्त के पश्चात् गुप्त-साम्राज्य की अवनति प्रारम्भ हो गई थी। उसी अवस्था में पुरगुप्त ने कुछ समय के लिए शासन किया। परमार्थ-कृत वसुबन्धु के जीवन-वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि पुरगुप्त बौद्धधर्मानुयायी था। उसने वसुबन्धु से बौद्धधर्म की शिक्षा ली थी। इन सब कारणों से पुरगुप्त की प्रवृत्ति बौद्धधर्म की ओर प्रकट होती है। द्वितीय कुमारगुप्त की भितरी राजमुद्रा में इस नरेश के लिए वैष्णवों की पदवी 'परमभागवत' नहीं मिलती जहाँ पर कुमारगुप्त द्वितीय के लिए उल्लिखित है।

२ नरसिंह गुप्त

पुरगुप्त की मृत्यु के पश्चात् नरसिंहगुप्त गुप्त-सिंहासन पर बैठा। भितरी के राज-मुद्रा-लेख से ज्ञात होता है कि वह पुरगुप्त का बेटा था तथा उसकी माता का नाम वत्सदेवी था। परमार्थ कृत वसुबन्धु के जीवन-वृत्तान्त में वर्णन मिलता है कि राजा विक्रमादित्य ने अपने पुत्र बालादित्य को वसुबन्धु के समीप शिक्षा ग्रहण करने के निमित्त भेजा था। ऊपर बतलाया जा चुका है कि विक्रमादित्य पुरगुप्त की उपाधि थी। अतएव प्रकट है कि पुरगुप्त के पुत्र नरसिंहगुप्त ने बालादित्य की पदवी धारण की थी। इसकी पुष्टि नरसिंह-गुप्त के सिक्कों से होती है। उन सिक्कों पर एक तरफ़ राजा की मूर्ति है तथा नर लिखा है। दूसरी ओर 'बालादित्य' लिखा मिलता है।

नरसिंहगुप्त का कोई लेख नहीं मिला है परन्तु इसका नाम द्वितीय कुमारगुप्त की भितरी की राजमुद्रा में मिलता है। गु० स० १५४ के सारनाथ के लेख से ज्ञात होता है

---

१. हिन्दुस्तान रिव्यू १९१८।

कि कुमारगुप्त द्वितीय ई० स० ४७३ में शासन करता था[1]। अतएव नरसिंह गुप्त का शासन इससे (ई० स० ४७३) पहले समाप्त हो गया होगा।

'बालादित्य'

६ठीं शताब्दी में भ्रमण करनेवाले चीनी यात्री ह्वेनसाँग ने वर्णन किया है कि गुप्त राजा बालादित्य की सेना ने विदेशी हूणों को परास्त किया। सबसे प्रथम स्कन्दगुप्त के समय में हूणों ने भारत पर आक्रमण किया था। उसकी मृत्यु के पश्चात् पुनः हूणों ने अपना शासन स्थापित कर लिया। ये मध्यभारत में राज्य करते थे जहाँ से बालादित्य ने इनको परास्त किया। यह गुप्तनरेश (बालादित्य) कौन तथा किस समय का शासक था, इस विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है। जान एलन तथा भट्टशाली महोदय पुरगुप्त के पुत्र नरसिंह गुप्त बालादित्य और ह्वेनसाँग-वर्णित बालादित्य को एक ही व्यक्ति मानते हैं। परन्तु सूक्ष्म विवेचन से यह विचार ग्रहण नहीं किया जा सकता। यदि पुरगुप्त के पुत्र नरसिंह गुप्त तथा ह्वेनसाँग के बालादित्य के वंशवृक्ष पर ध्यान दिया जाय तो एलन का सिद्धान्त प्रमाणित नहीं होता।

भितरी की राजमुद्रा के लेख से ज्ञात होता है कि नरसिंह गुप्त के पिता का नाम पुरगुप्त और पितामह का नाम कुमारगुप्त प्रथम था। द्वितीय कुमारगुप्त नरसिंह गुप्त का पुत्र था[2]। ह्वेनसाँग-वर्णित बालादित्य का वंशवृक्ष इस(नरसिंहगुप्त)से सर्वथा भिन्न है[3]। ह्वेनसाँग के बालादित्य के पिता का नाम तथागतगुप्त था और पितामह बुधगुप्त के नाम से प्रसिद्ध था[4]। ह्वेनसाँग ने वज्र को बालादित्य का पुत्र लिखा है[5]। इन दोनों वंशवृक्षों की तुलना करने से नरसिंह गुप्त तथा ह्वेनसाँग का बालादित्य, दो भिन्न परम्परा के वंशज

---

१. आर० सर्वे० रिपोर्ट १९१४-१५

२. नरसिंह गुप्त का पूरा वंशवृक्ष (जे० ए० एस० बी० १८८९)।

कुमारगुप्त प्रथम
|
पुरगुप्त
|
नरसिंह गुप्त
|
द्वितीय कुमारगुप्त

३. बील—ह्वेनसांग का जीवनचरित पृ० १११, वाटर ह्वेनसांग भा० २ पृ० १६४-६५।

४. वही, भा० २ पृ० १६५।

५. बालादित्य का पूरा वंशवृक्ष।

बुधगुप्त
|
तथागत
|
बालादित्य
|
वज्र

प्रतीत होते हैं। ऐसी अवस्था में पुरगुप्त के पुत्र नरसिंह गुप्त बालादित्य में तथा ह्वेनसाँग के वर्णित बालादित्य में समता नहीं मानी जा सकती। सम्भवतः ह्वेनसाँग का बालादित्य कोई अन्य व्यक्ति होगा[१]। इन कारणों से ह्वेनसाँग के बालादित्य की समता किसी अन्य गुप्त राजा से नहीं दिखाई जा सकती।

नरसिंहगुप्त के जीवनकाल में कोई विशेष उल्लेखनीय घटना नहीं हुई। इतना तो निश्चत है कि इसने अपने पिता पुरगुप्त से कुछ अधिक समय तक शासन किया। इसके लिए वैष्णवों की पदवी 'परमभागवत' का प्रयोग नहीं मिलता है। अतः इसके वैष्णवधर्मानुयायी होने में हमें संदेह है।

३ कुमारगुप्त द्वितीय

द्वितीय कुमारगुप्त पुरगुप्त के वंश का अंतिम राजा था। इसके पिता का नाम नरसिंह गुप्त था। यह 'श्रीमती' देवी के गर्भ से पैदा हुआ था। इसने अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त गुप्त-सिंहासन को सुशोभित किया। कुछ गुप्त सिक्के हैं जिनपर 'कु' लिखा हुआ है। सिक्के के ढंग तथा बनावट से ज्ञात होता है कि यह द्वितीय कुमारगुप्त के समय का है। इस पर उल्लिखित पदवी से पता लगता है कि कुमारगुप्त द्वितीय ने 'विक्रमादित्य' की पदवी धारण की थी।

उपलब्ध लेख पुरगुप्त के वंशजों में कुमारगुप्त द्वितीय ही के दो लेख मिले हैं जिससे उसके विषय में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी ये लेख विशेष उल्लेखनीय हैं।

(१) भितरी राजमुद्रा का लेख

यह लेख एक धातु की मुहर पर खुदा हुआ है तथा ग़ाज़ीपुर ज़िले के अन्तर्गत भितरी नामक स्थान से प्राप्त हुआ था। इसमें तिथि का उल्लेख नहीं मिलता। केवल इसमें पूरा वंशवृक्ष मिलता है। इस मुहर से प्रकट होता है कि कुमारगुप्त द्वितीय वैष्णवधर्मानुयायी था[२]।

(२) सारनाथ का लेख

कुमारगुप्त द्वितीय का दूसरा लेख बनारस के सारनाथ से प्राप्त हुआ है[३]। ऐतिहासिक दृष्टि से यह लेख महत्वपूर्ण है। इसकी तिथि गु० स० १५४ से इसके वंश के शासन-काल का अनुमान किया जाता है। यह लेख बुद्ध-प्रतिमा के अधोभाग में खुदा हुआ है।

---

१. प्रकटादित्य के सारनाथ के लेख से प्रकट होता है कि मध्यदेश में अनेक बालादित्य नामधारी राजा शासन करते थे। प्रकटादित्य के वंश में दो बालादित्यों ने शासन किया। (का० इ० इ० भा० ३ पृ० २८५)।

२. जे० ए० एस० बी० १८८६।

३. वर्षशते गुप्तानां चतुःपञ्चाशत उत्तरे भूमि रक्षति कुमारगुप्त मासे—(आ० स० रि० १९१४—१५)

भट्टशाली तथा बसाक महोदयों ने सारनाथ लेख में उल्लिखित कुमारगुप्त तथा भितरी की राजमुद्रा के लेख वाले कुमारगुप्त को दो भिन्न भिन्न व्यक्ति माना है। भट्टशाली महोदय नरसिंह गुप्त के पुत्र कुमारगुप्त को पाँचवीं शताब्दी के पश्चात् शासनकर्त्ता मानते हैं[1]। परन्तु सारनाथ के लेख वाले कुमारगुप्त का ई० स० ४७३ में शासन करना ज्ञात है। इसी कारण भट्टशाली दोनों की समता नहीं मानते। भट्टशाली का इस परिणाम तक पहुँचने का कारण यह है कि वे नरसिंहगुप्त बालादित्य को और ह्वेनसांग के बालादित्य को एक ही व्यक्ति मानते हैं। इसी आधार पर उनका मत अवलंबित है। नरसिंह गुप्त के चित्रण में यह दिखलाया गया है कि नरसिंह गुप्त बालादित्य और ह्वेनसांग के बालादित्य दो भिन्न पुरुष थे, उनकी समता नहीं मानी जा सकती। अतएव इसी आधार पर अवलंबित भट्टशाली का कुमारगुप्त को एक भिन्न व्यक्ति मानना स्वीकार नहीं किया जा सकता। बसाक महोदय का कथन है कि सारनाथ के लेख में उल्लिखित कुमारगुप्त स्कन्दगुप्त के पश्चात् राज्य का उत्तराधिकारी था तथा इसके बाद बुधगुप्त सिंहासन पर बैठा। उनका मत है कि गुप्त राज्य दो प्रतिस्पर्धी राज्यों में विभक्त हो गया था। पहले वश में स्कन्दगुप्त, सारनाथ के कुमारगुप्त तथा बुधगुप्त को मानते हैं, तथा भितरी के पुरगुप्त, नरसिंह और कुमारगुप्त को इनका प्रतिस्पर्धी मानते हैं। इसी कारण बसाक महोदय ने सारनाथ के कुमारगुप्त तथा भितरी के कुमारगुप्त को दो भिन्न भिन्न व्यक्ति माना है। बसाक महोदय का यह सिद्धान्त मानना उचित नहीं प्रतीत होता। गुप्त लेखों तथा सिक्कों के आधार पर कोई भी ऐसा प्रमाण नहीं मिलता जिससे पता चले कि पाँचवीं शताब्दी के मध्यभाग में गुप्त राज्य दो भागों में विभक्त हो गया था। इसके विपरीत स्कन्दगुप्त तथा बुधगुप्त के लेखों से प्रमाणित होता है कि बंगाल से लेकर सौराष्ट्र तथा मालवा (एरण) तक वे राज्य करते रहे। ऐसी अवस्था में गुप्त राज्य के दो विभाग तथा दो भिन्न भिन्न कुमारगुप्त मानना युक्ति से बाहर की बात है। इस विवेचन से यही ज्ञात होता है कि भितरी राजमुद्रा के लेख में उल्लिखित कुमारगुप्त और सारनाथ के कुमारगुप्त एक ही व्यक्ति थे।

कुमारगुप्त द्वितीय के सारनाथ के लेख में गु० स० १५४ की तिथि मिलती है जिससे ज्ञात होता है कि द्वितीय कुमारगुप्त ई० स० ४७३ में शासन करता था। इसके उत्तराधिकारी बुधगुप्त का सबसे प्रथम लेख गु० स० १५७ का मिला है[2] इसलिए यह अनुमान किया जाता है कि कुमारगुप्त द्वितीय का शासन ई० स० ४७३ तथा ई० स० ४७७ (गु० स० १५७) के मध्य में समाप्त हुआ होगा। स्कन्दगुप्त की मृत्यु ई० स० ४६७ में हुई और बुधगुप्त का शासन ई० स० ४७७ में प्रारम्भ हुआ। इसलिए इस तिथि के मध्यकाल में तीनों—पुरगुप्त, नरसिंह गुप्त तथा कुमारगुप्त द्वितीय—राजाओं ने शासन किया। इन तीन राजाओं के लिए दश वर्ष का राज्य-काल बहुत थोड़ा मालूम पड़ता है। परन्तु यह कोई आश्चर्यमय

राज्य-काल

---

१. ढाका रिव्यू— मई-जून १९२०

२. सारनाथ की प्रशस्ति (आ० सर्वे रिपोर्ट १९१४-१५)।

घटना नहीं है। यह पहले कहा जा चुका है कि पुरगुप्त वृद्धावस्था में गुप्त-शासन का प्रबन्धकर्त्ता हुआ। अतएव उसका शासनकाल बहुत थोड़ा था। नरसिंहगुप्त की भी शासन-अवधि कुमारगुप्त द्वितीय से कम थी। अपने वंश में सबसे अधिक इसी (द्वितीय कुमारगुप्त) ने शासन किया।

कुमारगुप्त द्वितीय अपने पूर्व वंश के गुप्त सम्राटों के सदृश वैष्णवधर्मावलम्बी था। इसकी भितरी राजमुद्रा पर 'गरुड़' की मूर्ति अङ्कित है जो भगवान् विष्णु का प्रतीक तथा वाहन माना जाता है। इतना ही नहीं, उसी लेख में केवल द्वितीय कुमारगुप्त के लिए ही 'परमभागवत' की उपाधि उल्लिखित है[१], जिससे उसके वैष्णवधर्मानुयायी होने की पुष्टि होती है।

४ बुधगुप्त

द्वितीय कुमारगुप्त की मृत्यु लगभग ई० स० ४७५ में हुई। इसके पश्चात् बुधगुप्त राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। बुधगुप्त तथा कुमारगुप्त द्वितीय में कोई सम्बन्ध ज्ञात नहीं है। सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री ह्वेनसाँग के वर्णन से ज्ञात है कि बुधगुप्त शक्रादित्य का पुत्र था। बुधगुप्त से पूर्व गुप्त वंश के किसी भी राजा ने शक्रादित्य की पदवी नहीं धारण की थी। इससे यह कहना कठिन है कि यह शक्रादित्य कौन राजा था। परन्तु ऐतिहासिकों ने शक्रादित्य को समता कुमारगुप्त प्रथम से मानी है। कुमारगुप्त प्रथम की प्रधान पदवी 'महेन्द्रादित्य' थी। इन्द्रवाची महेन्द्र तथा शक्र शब्द पर्यायवाची हैं; अतः महेन्द्रादित्य पदवीधारी व्यक्ति के लिए 'शक्रादित्य' की पदवी का उल्लेख हो सकता है। इस आधार पर ह्वेनसांग का 'शक्रादित्य' कुमारगुप्त प्रथम की पदवी मानी जा सकती है। अतएव बुधगुप्त कुमारगुप्त प्रथम का सबसे छोटा पुत्र प्रतीत होता है। यह सम्भवतः स्कन्दगुप्त और पुरगुप्त का सहोदर या सौतेला भाई होगा।

बुधगुप्त के राज्य-काल में उत्कीर्ण चार लेख अभी तक प्राप्त हुए हैं, जिनमें एक स्तम्भ के ऊपर खुदा हुआ है, दो ताम्रपत्र के ऊपर हैं, और तीसरा भगवान् लेख बुद्ध की मूर्ति के अधोभाग में खुदा है। इन सब लेखों में तिथि मिलती है। इनका तिथि-क्रम से वर्णन किया जायगा,—

(१) सारनाथ का लेख

यह लेख भगवान् बुद्ध की मूर्ति के अधोभाग में खुदा है। इस मूर्ति को अभयमित्र नामक किसी भिक्षु ने स्थापित किया था। यह मूर्ति सारनाथ की खोदाई में मिली थी तथा इस समय सारनाथ संग्रहालय में सुरक्षित है। यह लेख बहुत ही छोटा है[२]। बुधगुप्त के नाम तथा गुप्तसंवत् के उल्लेख के सिवा इसमें अन्य किसी बात का

---

१. परमभागवतो महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्तः।—भितरी की राजमुद्रा

२. पूरा लेख यों है—गुप्तानां समतिक्रान्ते सत पञ्चाशत् उत्तरे शते समानां पृथ्वीं बुधगुप्ते प्रशासति—(आ० स० रि० १९१४–१५)

वर्णन नहीं है। इसकी तिथि गु० स० १५७ मिलती है। बुधगुप्त के राज्यकाल का यही सबसे पहला लेख है।

(२) दामोदरपुर ताम्रपत्र

यह ताम्रपत्र उत्तरी बंगाल के दामोदरपुर नामक प्रसिद्ध स्थान से प्राप्त हुआ है[1]। यह लेख एक बड़े ताम्रपत्र पर खुदा है जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसके द्वारा गुप्तों की शासन-प्रणाली पर बहुत प्रकाश पड़ता है। इस ताम्रपत्र में विषय-पति तथा उसके सभासदों की नामावली मिलती है। यह ताम्रपत्र बुधगुप्त का दूसरा लेख है जिसमें गु० स० १६३ का उल्लेख मिलता है।

(३) पहाड़पुर का ताम्रपत्र

यह ताम्रपत्र उत्तरी बंगाल के राजशाही ज़िले के अन्तर्गत पहाड़पुर नामक स्थान से प्राप्त हुआ है[2]। पहाड़पुर के विशाल मंदिर की खुदाई में यह निकला। यह शासन-प्रणाली के लिए दामोदरपुर ताम्रपत्र के सदृश महत्त्वपूर्ण है। इसमें भी भूमि-विक्रय का विवरण मिलता है। यह ताम्रपत्र पुण्ड्रवर्धन भुक्ति के अधिष्ठान से निकाला गया था। इसकी तिथि गु० स० १५९ है। इसमें राजा का नाम उल्लिखित नहीं है परन्तु उसकी महान् उपाधि 'परमभट्टारक' का उल्लेख है। तिथि के आधार पर (राजा के नाम की अनुपस्थिति में भी) यह ताम्रपत्र बुधगुप्त के शासन का ज्ञात होता है। इस लेख के वर्णन से ज्ञात होता है कि किसी ब्राह्मण-दम्पति ने जैन विहार के लिए कुछ भूमि दान में दी थी।

(४) एरण का स्तम्भलेख

यह स्तम्भ सागर ज़िला (मध्यप्रांत) के एरण नामक प्रसिद्ध स्थान से प्राप्त हुआ था[3]। यह एक छोटा सा लेख है जिससे बुधगुप्त के शासन के विषय में कुछ बातें ज्ञात होती हैं। इस लेख से ज्ञात होता है कि बुधगुप्त का प्रतिनिधि सुरश्मिचन्द्र यमुना तथा नर्मदा के मध्यभाग में राज्य करता था। विष्णु भगवान् के इस ध्वज-स्तम्भ को बुधगुप्त के सामंत मातृविष्णु तथा धन्यविष्णु ने स्थापित किया था। बुधगुप्त के राज्यकाल का यह तीसरा लेख है जिसमें गु० स० १६५ की तिथि का उल्लेख मिलता है।

बुधगुप्त के समय के तीन ही लेख मिले हैं जिनपर गुप्त संवत् का उल्लेख मिलता है। इस कारण बुधगुप्त के राज्यकाल के निर्धारण में बड़ी सहायता मिलती है। सबसे पहला लेख सारनाथ का है जिसकी तिथि गु० स० १५७ है।

राज्य-काल

अतः यह प्रकट होता है कि बुधगुप्त ई० स० ४७७ में शासन करता था। इस गुप्त सम्राट् की अंतिम तिथि उसके चाँदी के सिक्कों से मिलती है[4]।

---

१. ए० इ० भा० १५ न० ४ पृ० ११३।
२. ए० इ० भा० २० नं० ५ पृ० ५९।
३. का० इ० इ० भा० ३ नं० १९।
४. एलन—गुप्त क्वायन पृ० १५३।

इन सिक्कों पर १७५ (ई० स० ४९५) अंकित है[१]। इससे ज्ञात होता है कि बुधगुप्त ई० स० ४९५ तक अवश्य राज्य करता था। इस गणना के अनुसार बुधगुप्त ने लगभग बीस वर्ष (ई० स० ४७७-४९५) तक शासन किया। कुमारगुप्त के पश्चात् स्कन्दगुप्त तथा पुरगुप्त आदि से बुधगुप्त ही ने अधिक काल तक राज्य किया।

बुधगुप्त के लेखों तथा सिक्कों के प्राप्ति-स्थानों से यही पता लगता है कि यह एक प्रतापी नरेश था जिसका राज्य बंगाल से लेकर मध्यप्रांत तक विस्तृत था। गु० स० १६५ के एरणवाले लेख से प्रकट होता है कि बुधगुप्त का प्रतिनिधि महाराजा सुरश्मिचन्द्र यमुना और नर्मदा के मध्यभाग में राज्य करता था[२]। दामोदरपुर के ताम्रपत्र के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि गु० स० १६३ (ई० स० ४८२) में बुधगुप्त का नायक उपरिकर महाराजा ब्रह्मदत्त पुण्ड्रवर्धन भुक्ति पर शासन करता था[३]। गुप्तों के मध्यप्रदेश के ढंग के चाँदी के सिक्के के समान बुधगुप्त के भी चाँदी के सिक्के मिले हैं जिससे उसका मध्यप्रदेश पर शासनाधिकार प्रकट होता है।

राज्य-विस्तार

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि बुधगुप्त का राज्य—एरण (मध्यप्रांत), काशी तथा दामोदरपुर—उसके प्रतिनिधियों से शासित होता था। अतएव बुधगुप्त का *राज्य बंगाल से मध्यप्रदेश तक विस्तृत था। बुधगुप्त के शासनकाल की किसी विशेष* घटना का उल्लेख नहीं मिलता। इस समय कोई बाहरी शत्रु भी नहीं आये। अतएव उस समय गुप्त साम्राज्य में शांति विराजमान थी। जो कुछ प्रदेश गुप्तों के हाथ में थे वे बुधगुप्त के सुशासन का फल चख रहे थे।

बुधगुप्त के धर्म के विषय में कोई निश्चित सिद्धान्त स्थिर नहीं किया जा सकता। इसके लिए 'परम भागवत' की उपाधि नहीं मिलती। ह्वेनसाँग के वर्णन से ज्ञात होता है कि बुधगुप्त ने नालंदा के बौद्ध विहार में वृद्धि की। ह्वेनसाँग के इस वर्णन से तथा इस राजा के नाम से पहले 'परम भागवत' की उपाधि न मिलने से हमारा यह अनुमान है कि बुधगुप्त बौद्ध धर्मानुयायी था तथा उसमें बुद्धधर्म के प्रति स्नेह था।

धर्म

बुधगुप्त एक प्रभावशाली नरेश था। स्कन्दगुप्त के पश्चात् इसी राजा के लेख भिन्न भिन्न स्थानों से प्राप्त हुए हैं। यद्यपि बुधगुप्त ने स्कन्दगुप्त से भी अधिक काल तक शासन किया परन्तु सौराष्ट्र में इसके न कोई लेख मिले न सिक्का ही। इससे प्रकट होता है कि वह प्रदेश बुधगुप्त के अधिकार से पृथक् हो गया था। इसके जितने नियुक्त शासक थे, सबने महाराजा की पदवी धारण की थी[४]। महाराजा की पदवी से

---

१. एलन - गुप्त कायन सिक्का नं० ६१७।

२. कालिन्दीनर्मदयोर्मध्यं पालयति लोकपालगुणैर्जगति। महाराज श्री यमनुभवति सुरश्मिचन्द्रे न। (का० इ० इ० भा० ३ नं० १९)।

३. ए० इ० भा० १५ नं० ४।

४. कालिन्दी-नर्मदा के मध्यभाग के शासक सुरश्मिचन्द्र।—(एरण का लेख)
उपरिकर महाराजा ब्रह्मदत्त और जयदत्त पुण्ड्रवर्धन के शासक।—(दामोदरपुर ताम्रपत्र)।

अनुमान किया जाता है कि सम्भवत: गुप्तों के सभी अधीनस्थ शासक शनैः शनैः स्वतंत्रता की ओर बढ़ रहे थे। जो हो, बुधगुप्त का राज्य दूर तक फैला था तथा उसका प्रभाव बीस वर्षों तक व्याप्त था।

५ वैन्यगुप्त

ई० स० ४६५ के लगभग गुप्त सम्राट् बुधगुप्त का शासनकाल समाप्त हो गया था। इसके पश्चात् वैन्यगुप्त ने गुप्त-सिंहासन को सुशोभित किया। गुप्त राजा बुधगुप्त तथा वैन्यगुप्त से क्या सम्बन्ध था, इसके विषय में अभी तक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है। परन्तु इसके तिथियुक्त लेख के आधार पर यह पता लगता है कि वैन्यगुप्त बुधगुप्त के पश्चात् ही राज्य करने लगा।

वैन्यगुप्त का एक ही तिथियुक्त लेख मिलता है जिसकी सहायता से इस राजा के विषय में अनेक बातें ज्ञात होती हैं।

गुनैघर ताम्रपत्र

यह लेख एक ताम्रपत्र पर खुदा है जो बङ्गाल के कोमिल्ला ज़िले में स्थित गुनैघर नामक स्थान से प्राप्त हुआ है[1]। यह एक बड़ा लेख है जिसमें कुछ ज़मीन दान देने का वर्णन मिलता है। इसके वर्णन से ज्ञात होता है कि महाराजा वैन्यगुप्त ने बौद्ध विहार के लिए कन्तेड़दक ग्राम में कुछ भूमि दान में दी थी। इस लेख में इसके प्रतिनिधि महाराज रुद्रदत्त तथा विषयपति महासामन्त विजयसेन का नाम मिलता है। इस कारण यह लेख गुप्तों की शासन-प्रणाली पर विशेष रूप से प्रकाश डालता है। इस लेख में वैन्यगुप्त का नाम उल्लिखित है तथा इसकी तिथि गु० स० १८८ (ई० स० ५०७) है। यह लेख पूर्वी बङ्गाल के समतट प्रान्त से प्राप्त हुआ है जिसके राजा को समुद्रगुप्त ने परास्त किया था।

लेख

वैन्यगुप्त का एक ही लेख मिला है जिसमें गु० स० १८८ तिथि का उल्लेख मिलता है। इससे प्रकट होता है कि वैन्यगुप्त ई० स० ५०७-८ में शासन करता था। बुधगुप्त के चाँदी के सिक्कों से उसकी अन्तिम तिथि गु० स० १७५ (ई० स० ४६४—५) ज्ञात है। एरण के गोपराज के शिलालेख से पता लगता है कि भानुगुप्त नामक राजा ई० स० ५१० में शासन करता था[2]। अतएव वैन्यगुप्त का राज्य-काल बुधगुप्त तथा भानुगुप्त (५१०) के मध्य-काल में होगा। सम्भवत: इसका शासन-काल ५०० ई० के कुछ पूर्व से आरम्भ होकर ई० स० ५०८ पर्यन्त था। इसने लगभग आठ वर्ष तक राज्य किया।

राज्य काल

गुप्तों के सोने के सिक्कों में तीन ऐसे सिक्के हैं[3] जिनकी बनावट गुप्त सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त तथा कुमारगुप्त प्रथम के सोने के धनुर्धराङ्कित सिक्कों के समान है। अभी तक इन सिक्कों पर चन्द्र पढ़ा जाता था। इस चन्द्र नामक राजा का पूरा नाम

---

१. इ० हि० क्वा० १६३० भा० ६ पृ० ४५।

२. का० इ० इ० भा० ३ नं० २०।

३. एलन—गुप्त क्वायन प्लेट २३ नं० ६, ७ व ८।

चन्द्रगुप्त मानते थे। इस कारण पाँचवीं शताब्दी में शासन करनेवाले इस चन्द्रगुप्त नामधारी राजा को चन्द्रगुप्त तृतीय के नाम से पुकारते थे। सिक्कों में इसकी उपाधि

चन्द्रगुप्त तृतीय ?

'द्वादशादित्य' मिलती है। परन्तु हाल हीमें इस (चन्द्र) का पाठ अशुद्ध समझकर इसे शुद्ध रीति से वैन्य पढ़ा गया है। इसलिए ये सिक्के चन्द्रगुप्त तृतीय के न मानकर वैन्यगुप्त द्वादशादित्य के माने गये हैं[1]। इस पाठ के संशोधन से गुप्त-वंशावली में चन्द्रगुप्त तृतीय नामधारी कोई राजा नहीं माना जा सकता।

वैन्यगुप्त के गुनैघर लेख के अतिरिक्त उसके सिक्के भी ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। ये सोने के सिक्के सुवर्ण तौल के हैं। इनकी बनावट तो उतनी अच्छी

वैन्यगुप्त के सिक्के

नहीं है जैसी कि कुमारगुप्त प्रथम से पूर्व सम्राटों के सिक्कों की थी। एक ओर—प्रभायुक्त राजा की मूर्ति है। आभूषण धारण किये राजा बाये हाथ में धनुष तथा दाहिने में बाण लिये है। राजा के एक ओर गरुड़स्तम्भ है और बायें हाथ के नीचे गुप्त लिपि में वैन्य लिखा है। दूसरी ओर—कमलासन पर बैठी लक्ष्मी की मूर्ति है। दाहिने हाथ में कमल है तथा बायाँ हाथ कमर पर अवलम्बित है। लक्ष्मी के शरीर में भिन्न आभूषण दिखलाई पड़ते हैं। बाईं ओर राजा की पदवी 'द्वादशादित्य' उल्लिखित है।

वैन्यगुप्त के धर्म के विषय में कुछ बातें अवश्य ज्ञात हैं परन्तु गुप्तों की प्रधान पदवी 'परमभागवत' का प्रयोग नहीं मिलता। गुनैघर लेख से ज्ञात होता है कि वैन्यगुप्त

धर्म

शैव था और महादेव का पुजारी था। उसी लेख के वर्णन से ज्ञात होता है कि वैन्यगुप्त ने बौद्ध विहार के लिए कुछ भूमि दान में दी थी। इस सब विवरणों से यह प्रकट नहीं होता कि वैन्यगुप्त अन्य धर्मानुयायी था। ये सब उदाहरण उसकी धार्मिक सहिष्णुता के हैं। उसके सिक्के पर 'गरुड़ध्वज' मिलता है; अतएव सम्भवतः वह वैष्णवधर्मावलम्बी था।

बहुत थोड़े दिन हुए कि गुप्त सम्राटों की नामावली में वैन्यगुप्त का नाम सम्मिलित किया गया है। सबसे प्रथम गुनैघर के लेख में इस राजा का नाम मिला जिससे पता

परिचय

चलता है कि वैन्यगुप्त नामक भी कोई गुप्त नरेश था। इस लेख के पश्चात् विद्वानों ने चन्द्रगुप्त तृतीय के सोने के सिक्कों के पाठ को संशोधन करके इसे वैन्य पढ़ा है। इस पाठ से गुप्त-वंशावली में वैन्यगुप्त की स्थिति निश्चित हो गई। वैन्यगुप्त एक प्रतापी नरेश ज्ञात होता है। पहले के गुप्त सम्राटों के सदृश इस राजा ने भी अपना प्रतिनिधि स्थापित किया जो गुप्तप्रांतों पर शासन करता था। इन सब प्रमाणों के आधार पर वैन्यगुप्त को पूर्वी बंगाल (समतट) का शासक नहीं मान सकते जैसा कि बसाक महोदय का मत है[2]। यह गुप्त राजा लगभग आठ वर्षों तक शासन करता रहा।

---

१. इं० हि० का० भा० ६ पृ० ५८५।

२. बसाक-हिस्ट्री आफ् नार्दन ईस्टर्न इंडिया पृ० १८२।

६ भानुगुप्त (बालादित्य)

गुप्त लेखों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि वैन्यगुप्त के पश्चात् भानुगुप्त गुप्त-राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। इस गुप्त नरेश तथा वैन्यगुप्त से क्या सम्बन्ध था, इस विषय में अभी तक कोई ऐतिहासिक तथ्य का पता नहीं लगता है। बालादित्य भानुगुप्त की उपाधि थी (जैसा आगे बतलाया जायगा)। इसलिए चीनी यात्री ह्वेनसाँग के वर्णित बुधगुप्त के पौत्र बालादित्य तथा भानुगुप्त में समता बतलाई जा सकती है। ह्वेनसाँग का बालादित्य तथागत गुप्त का पुत्र कहा गया है अतएव यह अनुमान किया जाता है कि बुधगुप्त के पश्चात् उसके पुत्र तथागत गुप्त का शासन होगा परन्तु लेखों के आधार पर यह बतलाया गया है कि बुधगुप्त और भानुगुप्त (बालादित्य) के मध्यकाल में वैन्यगुप्त राज्य करता रहा। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि बालादित्य का पिता तथागत गुप्त कौन था ! क्या यह कोई स्वतंत्र व्यक्ति था या गुप्त शासक ? विद्वान् लोग तथागत गुप्त को गुप्त-शासक नहीं मानते। ह्वेनसाँग के वर्णन के अतिरिक्त उसके विषय में कोई ऐतिहासिक बातें उपलब्ध नहीं हैं। उपर्युक्त विवेचनों के उपरान्त यही निष्कर्ष निकलता है कि गुप्त नरेश भानुगुप्त (बालादित्य) ने वैन्यगुप्त के बाद राजसिंहासन को सुशोभित किया। इसके कौटुम्बिक वृत्त के विषय में अधिक कुछ विश्वसनीय बातें नहीं कही जा सकतीं।

लेख

भानुगुप्त के दो लेख मिलते हैं जिनसे इसके शासन की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। ये लेख भानुगुप्त (बालादित्य) की सत्ता के द्योतक हैं। इसके लेखों में गुप्त संवत् में तिथि मिलती है।

(१) एरण का स्तम्भलेख

यह लेख जिला सागर जिला (मध्यप्रांत) के एरण नामक प्रसिद्ध स्थान से मिला है। यह एक छोटा सा लेख स्तम्भ पर खुदा है जिसकी तिथि गु० स० १९१ है[1]। इसके वर्णन से पता चलता है कि भानुगुप्त नामक राजा के साथ उसके सहकारी गोपराज ने एरण प्रांत में घनघोर युद्ध किया। इस लड़ाई में गोपराज मारा गया और उसकी स्त्री सती हो गई। भानुगुप्त व गोपराज के शत्रु सम्भवतः मध्यभारत के शासक हुए थे।

(२) दामोदरपुर ताम्रपत्र

गुप्त नरेशों के दामोदरपुर ताम्रपत्र के सदृश भानुगुप्त का भी एक ताम्रपत्र उसी स्थान से प्राप्त हुआ है। यह ताम्रपत्र उत्तरी बंगाल के दीनाजपुर ज़िले के अन्तर्गत दामोदरपुर ग्राम में मिला था[2]। इस लेख से गुप्तों की शासन-प्रणाली पर प्रकाश पड़ता है। इसके वर्णन से ज्ञात होता है कि भानुगुप्त का, बंगाल का प्रतिनिधि, कोई राजपुत्र था। स्वयभूदेव राजपुत्र के अधीनस्थ कोटिवर्ष का विषयपति था। विषयपति के सभासदों के नाम भी मिलते हैं। इस ताम्रपत्र में अयोध्या-निवासी अमृतदेव के द्वारा कुछ भूमि ख़रीदने का वर्णन मिलता है। इस लेख की तिथि गु० स० २२४ है। सब से

---

१ का० इ० इ० भा० ३ नं० २०

२. ए० इ० भा० १५ पृ० १४२-४।

विचित्र बात यह है कि इस लेख में गुप्तनरेश भानुगुप्त का पूरा नाम नहीं मिलता; परन्तु विद्वानों की यह धारणा है कि यह लेख भानुगुप्त का ही है[1]।

भानुगुप्त के इन लेखों के आधार पर उसकी शासन-अवधि का पता लगता है। गुनैघर लेख से यह ज्ञात होता है कि वैन्यगुप्त गु० स० १८८ (ई० स० ४०७-८) में शासन कर रहा था[2]। एरण के लेख की तिथि से प्रकट होता है कि भानुगुप्त गु० स १६१ (५१० ई०) में राज्य करता था[3]। इसकी अंतिम तिथि दामोदरपुर ताम्रपत्र से मिलती है जिसमें गु० स० २२४ का उल्लेख मिलता है[4]। अतएव यह मालूम पड़ता है कि भानुगुप्त ने गु० स० १६१-२२४ (ई० स० ५१०-५४४) तक राज्य किया। इसका शासन लगभग पैंतीस वर्षों तक चलता रहा।

राज्य-काल

यह तो पहले कहा जा चुका है कि गुप्तों के उत्कर्ष-काल के पश्चात् सौराष्ट्र तथा पश्चिमी मालवा गुप्त-साम्राज्य से हट गये थे। इसके अनन्तर सारे प्रदेशों पर बुधगुप्त शासन करता था। बुधगुप्त एक बलशाली राजा था। उसके बाद भी गुप्तों के सब प्रदेशों पर इसके वंशज शासन करते रहे। गुप्त-नरेश भानुगुप्त के भी लेख एरण (मध्यप्रांत) तथा दामोदरपुर (उत्तरी बङ्गाल) में मिले हैं। अतएव यह ज्ञात होता है कि भानुगुप्त मध्यप्रदेश से बङ्गाल तक शासन करता था। इसका विस्तृत राज्य प्रतिनिधियों द्वारा शासित होता रहा।

राज्य विस्तार

भानुगुप्त के राज्यकाल की सबसे विशेष घटना हूणों से युद्ध है। सबसे प्रथम हूणों ने उत्कर्ष-काल के अन्तिम सम्राट् स्कन्दगुप्त के समय में गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण किया था, परन्तु स्कन्दगुप्त ने उन्हें इतना बल के साथ पराजित किया कि हूणों को कुछ समय तक फिर आक्रमण करने का साहस न हो सका। एरण स्थान से दो लेख प्राप्त हुए हैं[5] जिनके अध्ययन से स्पष्ट प्रकट होता है कि बुधगुप्त के पश्चात् एरण प्रान्त में हूणों का अधिकार हो गया था। बुधगुप्त के आश्रित शासक मातृविष्णु व उसके अनुज धन्यविष्णु ने ई० स० ४८५ के बाद हूणों के सरदार तोरमाण की अधीनता स्वीकार कर ली थी। मध्य भारत में इन हूण सरदारों (तोरमाण व मिहिरकुल) के सिक्के[6] तथा लेख[7] भी मिले हैं जिससे ज्ञात होता है कि छठी शताब्दी के पूर्व भाग में हूणों का अधिकार मध्यभारत पर अवश्य था।

गुप्तों तथा हूणों में संघर्ष

---

१. बैनर्जी — गुप्त लेक्चर पृ० ६१।

२. इ० हि० क्वा० १९३०।

३. का० इ० इ० भा० ३ नं० २०।

४. ए० इ० भा० १५ पृ० १४१।

५. एरण का लेख (का० इ० इ० भा० ३ नं० १९) गु० स० १६५। वही, नं० ३६।

६. रेपसन इंडियन कायन प्लेट ४ नं० १६।

७. का० इ० इ० भा० ३ नं० ३६ व ३७।

इसी स्थान में स्थित होकर हूणों के सरदार गुप्तों की क्षीण अवस्था को देखकर उनसे युद्ध करने पर उद्यत हुए। यद्यपि गुप्तों का प्रताप शनैः शनैः क्षीण हो रहा था तथा उनके प्रदेश हाथ से निकले जा रहे थे, तथापि इन आर्य सभ्यता के शत्रु विदेशी हूणों के सम्मुख गुप्त नरेशों ने सिर नहीं झुकाया। गुप्त नरेश बालादित्य(भानुगुप्त) ने हूणों को परास्त करने का सङ्कल्प किया। इस युद्ध की घटना को दो बातों से प्रमाणित कर सकते हैं। ह्वेनसाँग ने वर्णन किया है कि बालादित्य की सेना ने मिहिरकुल (हूण-सरदार) को क़ैद कर लिया परन्तु राजमाता की आज्ञा से उसे मुक्त करना पड़ा। इस कथन की पुष्टि गोपराज के एरणवाले लेख से होती है[1]। इस लेख में हूणों के युद्ध का उल्लेख मिलता है कि गोपराज ने गुप्तनरेश भानुगुप्त (बालादित्य) के पक्ष में होकर ई० स० ५११ में हूणों से घोर युद्ध किया जिसमें गोपराज मारा गया और विजय-लक्ष्मी भानुगुप्त के हाथ लगी।

'बालादित्य'

'बालादित्य' उपाधिधारी कौन गुप्तनरेश था, इसके विषय में गहरा मतभेद है। कुछ विद्वान् बालादित्य उपाधिधारी गुप्त राजा की समता पुरगुप्त के लड़के नरसिंह गुप्त से करते हैं; क्योंकि उसने (नरसिंह गुप्त) भी बालादित्य की उपाधि धारण की थी। नरसिंह गुप्त के सोने के सिक्कों पर यह उपाधि उल्लिखित है। परन्तु हूणों के विजेता ह्वेनसाँग-वर्णित बालादित्य का समीकरण नरसिंह गुप्त से नहीं किया जा सकता। नरसिंह गुप्त ने अपने जीवन-काल में कभी हूणों का सामना नहीं किया और न कहीं उसका उल्लेख मिलता है। गुप्त-नरेश भानुगुप्त से हूणों के युद्ध का वर्णन ह्वेनसाँग के अतिरिक्त गोपराज के एरणवाले लेख में मिलता है। अतएव ह्वेनसाँग-वर्णित बालादित्य तथा भानुगुप्त को एक ही व्यक्ति मानना युक्तियुक्त है। बहुत सम्भव है कि भानुगुप्त की पदवी बालादित्य हो जिसका उल्लेख ह्वेनसाँग ने किया था।

यशोधर्मा

जिस समय गुप्त-नरेश भानुगुप्त (बालादित्य) शासन कर रहा था उसी समय मालवा में एक प्रतापी राजा यशोधर्मा का उदय हुआ। यशोधर्मा का प्रताप-सूर्य प्रखर तेज से चमकने लगा। मालवा के इसी राजा यशोधर्मा के साथ मिलकर बालादित्य ने हूणों पर गहरा विजय प्राप्त किया; अतएव बालादित्य तथा यशोधर्मा के सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व इस मालवा-नरेश के जीवन-वृत्तांत से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है।

यशोधर्मा मध्यभारत का एक प्रभावशाली राजा था। इसके अतुल वीर्य का वर्णन दो लेखों के सिवा और कहीं नहीं मिलता। इसके ये दोनों लेख मंदसोर से मिले हैं[2] जिनमें इसके विजय का वर्णन सुन्दर शब्दों में वर्णित है। पहले मंदसोर

---

1. श्रीभानुगुप्तो जगति प्रवीरो राजा महान् पार्थसमोऽतिशूरः ।
तेनाथ सार्धं त्विह गोपराजो मित्रानुवृत्त्या(?)र किलानुयातः ॥
(का० इ० इ० भा० ३ नं २०)

२. का० इ० इ० भा० ३ नं० ३३ व ३५।

के लेख में यशोधर्मा द्वारा हूण सरदार मिहिरकुल के पराजय का वर्णन है। इसकी तिथि ज्ञात नहीं है। परन्तु इसी का दूसरा लेख उसी मंदसोर स्थान से मिला है[1], जिसमें तिथि का उल्लेख मालव संवत् में उल्लिखित है। इसकी तिथि विक्रम् ५८६ (ई० स० ५३२) है। इस लेख में भी यशोधर्मा की कीर्ति वर्णित है।

लेख

लेखों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि यशोधर्मा ने सुदूर देशों तक अपनी विजय-पताका फहराई। जो देश गुप्तों के अधिकार में नहीं था उसको भी इसने जीता। लौहित्र (ब्रह्मपुत्र नदी) से लेकर पूर्वी घाट तक तथा हिमालय से लेकर पश्चिमी घाट तक के समस्त राजाओं को परास्त किया। यशोधर्मा का प्रताप इतना बढ़ गया था कि हूणों के राजा मिहिरकुल ने उसके पैरों की पूजा की[2]। इस वर्णन से प्रकट होता है कि मालवा के राजा यशोधर्मा ने समस्त भारत पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। मध्यभारत के शासनकर्त्ता यशोधर्मा के इस विजय का वर्णन और कहीं नहीं मिलता; इसलिए यह प्रकट होता है कि यशोधर्मा का प्रताप थोड़े समय के लिए ही था। जिस द्रुत गति से उसका उदय हुआ था, उसी गति से उसका प्रताप-सूर्य गहरे बादलों में छिप गया। इस विजय-यात्रा में संदेह का मुख्य कारण यह है कि सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री ह्वेनसांग ने ऐसे प्रतापी नरेश का वर्णन नहीं किया है। जो हो, यह तो निश्चित है कि यशोधर्मा ने हूण सरदार मिहिरकुल को परास्त किया था। मंदसोर के दूसरे लेख की तिथि (विक्रम ५८६) के आधार पर यह पता चलता है कि हूणों को ई० स० ५३२ के लगभग परास्त होना पड़ा।

यशोधर्मा का विजय

यह ऊपर कहा जा चुका है कि स्कन्दगुप्त के पश्चात् पुनः हूणों ने मध्यभारत पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। बुधगुप्त के आश्रित सामन्तों ने तोरमाण की अधीनता स्वीकार कर ली थी। इन्हीं मध्यभारत के हूण-शासकों को यशोधर्मा ने पराजित किया। यहाँ पर उन हूण राजाओं के विषय में ज्ञान प्राप्त करना अप्रासङ्गिक न होगा।

मध्य भारत के हूण शासक

---

१. यह लेख यशोधर्मा तथा विष्णुवर्धन के नाम से उल्लिखित है। यशोधर्मा तथा विष्णुवर्धन एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं।

२. ये भुक्ता गुप्तनाथैर्न सकलवसुधा क्रांतिदृष्टप्रतापैः
नाज्ञा हूणाधिपानां क्षितिपतिमुकुटाध्यासिनी यान् प्रविष्टा।
आलौहित्योपकंठा तलवनगहनोपत्यकादामहेन्द्रा-
दागङ्गाश्लिष्टसानोः तुहिनशिखरिणः पश्चिमादापयोधेः
सामंतैः यस्य बाहुद्रविणहृतमदैः पादयोरानमद्भि-
श्चूडारत्नांशुराजिव्यतिकरशबला भूमिभागाः क्रियन्ते।
चूडापुष्पोपहारैः मिहिरकुलनृपेणार्चितं पादयुग्मम्।
— का० इ० इ० भा० ३ नं० ३३।

भारत में शासन करनेवाले सबसे पहले हूण सरदार तोरमाण का नाम मिलता है जिसके लेख तथा अनेक सिक्के मिलते हैं। हूण सिक्कों पर कोई नवीनता नहीं पाई जाती। ये हूण जिस देश के शासक हुए वहीं के ढङ्ग पर इन्होंने अपनी मुद्रा का निर्माण किया। अतएव विशिष्ट ढङ्ग के सिक्कों को देखने से स्पष्ट प्रकट होता है कि हूण उस विशेष प्रदेश पर शासन करते थे।

तोरमाण

हूण राजा तोरमाण के राज्य-काल से परिचित होने के लिए उसके लेख तथा सिक्कों का अध्ययन करना परमावश्यक है। तोरमाण के दो प्रकार के सिक्के मिलते हैं—

तोरमाण के लेख तथा सिक्के

(१) ससैनियन ढङ्ग के सिक्के

तोरमाण ने ससैनियन ढङ्ग के सिक्के फ़ारस के शासकों के अनुकरण पर तैयार किये। ये सिक्के पतले पतले पत्तर के बने होते थे। इन पर एक ओर रक्षक युक्त अग्निकुण्ड का चित्र रहता है तथा दूसरी ओर ससैनियन ढङ्ग के ताज पहने राजा की मूर्त्ति अंकित रहती है। इसी ओर गुप्त लिपि में शाही जबुल[1] लिखा मिलता है।

(२) गुप्त मध्यभारतीय ढङ्ग के सिक्के

तोरमाण का दूसरा सिक्का चाँदी का मिलता है जो गुप्त राजाओं के मध्यभारत में प्रचलित चाँदी के सिक्कों के अनुकरण पर तैयार हुए थे। इन सिक्कों पर एक ओर पङ्ख फैलाये मोर की मूर्त्ति है, दूसरी ओर राजा के सिर का चित्र है तथा उसके चारों ओर 'विजितावनिरवनिपति श्री तोरमाण' लिखा रहता है[2]।

इन सिक्कों के प्रचलित प्रदेश में ही (एरण) तोरमाण का एक लेख मिला है[3]। इसकी तिथि का उल्लेख नहीं मिलता। इसके वर्णन से ज्ञात होता है कि बुधगुप्त के आश्रित एरण प्रान्त के महाराजा मातृविष्णु व उसके अनुज धन्यविष्णु ने ई० स० ४८५ के पश्चात् तोरमाण की अधीनता स्वीकार कर ली थी। अतएव इन सिक्कों तथा लेख के आधार पर यह पता चलता है कि हूण सरदार तोरमाण का राज्य फ़ारस से लेकर मध्यभारत तक विस्तृत था; परन्तु हूणों ने अपना केन्द्रस्थान मध्यभारत को ही बनाया था।

तोरमाण के पश्चात् उसके पुत्र[4] मिहिरकुल ने हूण राज्य पर शासन किया। यह भी अपने पिता के सदृश प्रतापी राजा था तथा भारत में हूणों का द्वितीय शासक समझा जाता है। ह्वेनसाँग के वर्णन से ज्ञात होता है कि इसकी राजधानी पंजाब में स्थित साकल (सियालकोट) नामक नगर था। मिहिरकुल के सिक्कों तथा लेख के प्राप्ति-स्थान से ज्ञात होता है कि इसका राज्य भी विस्तृत था।

मिहिरकुल

---

१. साल्ट रेंज के लेख से पता लगता है कि जबुल तोरमाण की पदवी है। इसलिए ये सिक्के राजा तोरमाण के माने जाते हैं।

२. रैपसन—इंडियन क्वायन प्लेट ४ नं० १६।

३. का० इ० इ० भा० ३ नं० ३६।

४. श्रीतोरमाण इति यः प्रथितो भूचक्रपः प्रभूतगुणः × × तस्योदितकुलकीर्त्तेः पुत्रोतुलविक्रमः पतिः पृथिव्या मिहिरकुलेति ख्यातो भङ्गोयः पशुपतिं।—ग्वालियर का शिलालेख।

मिहिरकुल के कुषाण ढग के अनेक सिक्के मिलते हैं जो पजाब में विशेष रूप से पाये जाते हैं। ये सिक्के आकार की वजह से तीन भिन्न श्रेणियो मे विभाजित किये गये हैं। इन सिक्को को बडे, मध्यम तथा छोटे आकार के कहते हैं। इन सिक्को पर एक ओर नन्दि की मूर्ति मिलती है तथा उसके अधोभाग में 'जयतु वृष' लिखा मिलता है[1]। दूसरी ओर घोड़े पर सवार राजा की मूर्ति है तथा 'मिहिरकुल' या 'मिहिरगुल' लिखा रहता है[2]।

मिहिरकुल के सिक्के तथा लेख

इसी हूण राजा मिहिरकुल का एक शिलालेख ग्वालियर मे मिला है[3] जिससे प्रकट होता है कि मिहिरकुल भी पजाब से लेकर मध्यभारत तक शासन करता था। इस लेख की तिथि मिहिरकुल के राज्यकाल की १५वें वर्ष की है[4]। इन सिक्को तथा लेख से मिहिरकुल के राज्य विस्तार (पजाब से मध्यभारत तक) तथा शासनकाल (पद्रह वर्ष) का ज्ञान होता है।

हूण सिक्को तथा लेखों के अध्ययन से पता लगता है कि भारत म शासन करनेवाले दो हूण राजा हुए—तोरमाण और उसका पुत्र मिहिरकुल। इन दोनों राजाओं ने कितने वर्षों तक राज्य किया, इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। एरण से प्राप्त दो लेखों (बुधगुप्त तथा तोरमाण) के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि ई० स० ४८५ के बाद मध्यभारत पर हूण राजा तोरमाण अवश्य शासन करता होगा। मिहिरकुल के ग्वालियर के शिलालेख से पता चलता है कि कम से कम उसने पद्रह वर्ष तो निश्चय ही शासन किया। मध्यभारत मे हूणों के शासन की अतिम तिथि ई० स० ५११ ज्ञात होती है। इसी समय भानुगुप्त ने गोपराज के साथ एरण प्रदेश में हूणों से युद्ध किया था[5]। अतएव हूणों की मध्यभारत में शासन अवधि ई० स० ४८७ से लेकर ई० स० ५१० तक प्रकट होती है। इन दोनों राजाओं ने मिलकर २३ वर्ष तक राज्य किया।

हूणों की शासन अवधि

गुप्तनरेश भानुगुप्त (बालादित्य) के एरण के लेख से प्रकट होता है कि मध्य भारत में हूणों को ई० स० ५१० में भानुगुप्त ने गोपराज के साथ पराजित किया। इस तिथि के पश्चात् मध्यभारत से हूण अधिकार सर्वदा के लिए चला गया। एरण प्रात में परास्त होकर हूण नरेश ने अपनी राजधानी सियालकोट में निवासस्थान स्थिर किया। उस प्रात (पजाब) मे हूणों का शासन कुछ और वर्षों (ई० स० ५१२-५३२) तक रहा। सम्भवत इसी प्रात मे इनका अतिम पराजय हुआ। इसका वर्णन यशोधर्मा ने मदसोर

हूणों का भारत मे अतिम पराजय

१ इडियन म्यूजियम कैटलाग प्लेट २८।

२ कनिंघम—लेटर इडो सिथियन प्लेट ८, ९, १०।

३ का० इ० इ० भा० ३ न० ३७।

४ तस्मिन् राजनि शासति पृथिवीं पृथुविमललोचने तदरे अभिवर्धमानराज्ये पचदशाब्दे नृप वृषध्या।—ग्वालियर का लेख।

५ का० इ० इ० भा० ३ न० २०।

के लेख में मिलता है। मंदसोर के दूसरे लेख की तिथि (विक्रम ५८९) से अनुमान किया जाता है कि ई० स० ५३२ के लगभग यशोधर्मा ने मिहिरकुल को परास्त किया। भारत में हूणों का यही अंतिम पराजय कहा जाता है।

यशोधर्मा ने अकेले या गुप्त नरेश भानुगुप्त (बालादित्य) के साथ मिहिरकुल को परास्त किया; इस विषय में ऐतिहासिकों में मतभेद है। स्मिथ का कथन है कि यशोधर्मा और बालादित्य ने सम्मिलित होकर हूणों को पराजित किया। फ्लीट अनुमान करते हैं कि दोनों ने भिन्न-भिन्न स्थानों पर मिहिरकुल को परास्त किया—यशोधर्मा ने पश्चिम की ओर तथा बालादित्य ने मगध में। इन राजाओं की एकता के विषय में ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। बहुत सम्भव है कि बालादित्य ने ई० स० ५११ में हूणों पर विजय प्राप्त किया और यशोवर्मा ने ई० स० ५३२ में मिहिरकुल को पश्चात् में परास्त किया। यह अनुमान करना युक्तिसंगत है कि हूणों के अन्तिम पराजय में भी गुप्तों ने यशोधर्मा से सहयोग किया हो।

भानुगुप्त (बालादित्य) के सैन्य-कौशल की विवेचना के उपरान्त उस राजा की उदारचरित्रता पर भी ध्यान देना अति आवश्यक है। भानुगुप्त की उदारता का परिचय एक लेख के वर्णन से मिलता है। यह लेख शाहाबाद ज़िले में स्थित देव-बरनार्क स्थान से मिला है[1]। उसके वर्णन से ज्ञात होता है कि कुशली भुक्ति व वालवी विषय में स्थित किशोरवाटक नामक ग्राम को बालादित्य ने अग्रहार दान-स्वरूप ब्राह्मणों को दिया था[2]। यह दान-पत्र छठी शताब्दी के अन्तिम समय तक इसी अवस्था में था जब कि मागध गुप्तों के पाँचवें राजा दामोदर गुप्त को परास्त कर कन्नौज के शासक मौखरि राजा सर्ववर्मन् ने अपनी राजाज्ञा से पुनः प्रमाणित किया। कुछ काल यह स्थान उन मौखरियों के अधिकार में रहा फिर गुप्त नरेशों ने अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। अतएव देव-बरनार्क लेख के आधार पर यह ज्ञात होता है कि बालादित्य ने भी अग्रहार दान दिया था।

भानुगुप्त की उदारता

यह कहा जा चुका है कि गुप्त नरेश भानुगुप्त ने ई० स० ५११ में हूणों पर विजय प्राप्त किया और इस स्थान (मध्य भारत) पर पुनः उनका अधिकार स्थापित न हो सका। इस समय से लेकर बहुत काल तक यह प्रान्त गुप्तों के अधिकार में था तथा उनके सामंत उन देशों पर शासन करते रहे। इन सामंतों के अनेक लेख मिलते हैं जिनसे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। ये लेख उच्चकल्प तथा परिव्राजक महाराजाओं के हैं जिनमें तिथि का उल्लेख गुप्त संवत् में सर्वत्र मिलता है। इन लेखों में 'गुप्तनृपराज्यभुक्तौ श्रीमति प्रवर्धमान' वाक्य का सर्वत्र उल्लेख मिलता है जिससे प्रकट होता है कि ये सब परिव्राजक महाराजा गुप्तों के सामंत थे। इन लेखों को तिथिक्रम के अनुसार यहाँ दिया जाता है।

गुप्तों के सामंत

---

१. कॉ० इ० इ० भा० ३ नं० ४६।

२. श्री वरुणवासिभट्टारकपादप्रतिबद्धभोजकसूर्यमित्रेण उपलिखित —ग्रामधिर्मुक्तपरमेश्वरश्रीबालादित्य-देवेन स्वशासनेन— देव-बरनार्क की प्रशस्ति।

(१) खोह ताम्रपत्र

यह ताम्रपत्र परिव्राजक महाराजा हस्तिन् का पहला लेख है जिसकी तिथि गु० स० १५६ मिलती है।

(२) खोह ताम्रपत्र गु० स० १६३

(३) मझगवाँ ताम्रपत्र गु० स० १६१

ये सब लेख महाराजा हस्तिन् के हैं[१] जिनमें सब प्रकार के कर से मुक्त करके परिव्राजक सामंत के द्वारा भूमिदान का वर्णन मिलता है।

(४) बेतूल ताम्रपत्र[२]

यह ताम्रपत्र परिव्राजक महाराजा हस्तिन् के पुत्र सङ्क्षोभ का प्रथम लेख है जिसकी तिथि गु० स० १९९ है। इससे प्रकट होता है कि गुप्तों का प्रभाव मध्यप्रदेश के दभाल त्रिपुरी विषय (जबलपुर[३]) तक फैला हुआ था।

(५) खोह ताम्रपत्र

सामंत महाराजा सङ्क्षोभ का यह दूसरा लेख है[४] जिसकी तिथि गु० स० २०९ है।

इसी खोह स्थान से और कई लेख उच्चकल्प महाराजाओं के मिलते हैं जिनकी तिथि गुप्त संवत् में मिलती है। ये सामन्त उच्चकल्प महाराजा परिव्राजक महाराजाओं के समकालीन थे।

(६) खोह ताम्रपत्र गु० स० १७७

यह ताम्रपत्र उच्चकल्प महाराजा जयन्त का है[५]।

(७) खोह ताम्रपत्र गु० स० १९३

(८) ,, ,, ,, ,, १९७

(९) ,, ,, ,, ,, २१४

ये लेख उच्चकल्प महाराज सर्वनाथ के हैं[६]। इन सब महाराजाओं के ताम्रपत्रों में भूमिदान का वर्णन मिलता है। यह सब दान सब प्रकार के कर से मुक्त रहता है। इन सब लेखों के अध्ययन से स्पष्ट प्रकट होता है कि मध्य प्रदेश में गुप्तों के अधीनस्थ परिव्राजक व उच्चकल्प महाराजा ई० स० ५३४ तक शासन करते रहे। इन्होंने गुप्त संवत् का प्रयोग अपने राज्य काल में किया जिससे उपर्युक्त कथन की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

---

१. का० इ० इ० भा० ३ नं० २१, २२ व २३।

२. ए० इ० भा० ८ पृ० २८४।

३. डा० हीरालाल—इन्सक्रिपशन फ्राम सी० पी० एंड बरार पृ० ७५।

४. का० इ० इ० भा० ३ नं० २५।

५. वही २७।

६. वही २८, ३० व ३१।

७ वज्र

गुप्त साम्राज्य के अवनतिकाल में शासन करनेवालों में वज्र का नाम सबसे अंतिम स्थान ग्रहण करता है। यह बुधगुप्त का प्रपौत्र था जिसने सम्भवतः भानुगुप्त (बालादित्य) के बाद शासन किया। ह्वेनसांग के वर्णन से पता चलता है कि वज्र बालादित्य का पुत्र था। इसी से बुधगुप्त के वंश की समाप्ति होती है। वज्र ने किसके पश्चात् शासन का प्रबंध अपने हाथ में लिया तथा वह कब तक राज्य करता रहा, इस विषय में अभी तक कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। ह्वेनसांग के वर्णन से ही कुछ बातें ज्ञात होती हैं। डा० रायचौधरी का अनुमान है कि मालवा के राजा यशोधर्मा ने अपनी लौहित्य की विजययात्रा में वज्र को मार डाला जिससे गुप्त नरेश बुधगुप्त के वंश का नाश हो गया[1]।

इस प्रकार छठी शताब्दी के मध्यभाग से गुप्त वंश का सूर्य शनैः शनैः अस्ताचल की ओर द्रुतगति से बढ़ने लगा। इनका राज्य संकुचित होने लगा तथा सामंत धीरे धीरे स्वतन्त्र होने लगे। इस अवनति-काल में पुरगुप्त के वंशजों ने बहुत थोड़े समय तक शासन किया। बुधगुप्त के वंश में प्रायः तीन नरेशों—बुधगुप्त, वैन्यगुप्त व बालादित्य—के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। अंतिम राजा वज्र के विषय में इसके नाम के अतिरिक्त अधिक कुछ ज्ञात नहीं है। ह्वेनसांग के वर्णन से पता चलता है कि बुधगुप्त से लेकर वज्र तक सभी गुप्त राजाओं ने नालन्दा के बौद्ध महाविहार की वृद्धि की। अतएव इन सब की प्रवृत्ति बौद्ध धर्म की तरफ़ थी। वज्र के पश्चात् गुप्तों के बचे खुचे साम्राज्य का नामोनिशान तक न रहा। यों तो छोटे छोटे गुप्त राजा जहाँ तहाँ शताब्दियों तक शासन करते रहे।

---

१. रायचौधरी—पोलिटिक्ल हिस्ट्री आफ़ एंशेंट इंडिया पृ० ४०३।

गुप्त-साम्राज्य की अवनति का कारण

चौथी तथा पाँचवीं शताब्दियों मे गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त और द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सतत परिश्रम तथा कार्यकुशलता के कारण गुप्त-साम्राज्य उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया था। इस उत्कर्ष के युग में गुप्तों की समता करनेवाला भारत में अन्य कोई सम्राट् न था। स्कन्दगुप्त इस स्वर्णयुग का अंतिम नरेश था, जिसका प्रखर प्रताप का सूर्य समस्त उत्तरी भारत पर चमक रहा था। विदेशी आततायी हूणों ने इसको निर्बल समझ कर गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण किया, परन्तु उनको स्कन्दगुप्त ने पूर्ण रीति से परास्त किया। स्कन्दगुप्त अपनी शक्ति के कारण हूण-प्रवाह को रोक सका तथा उसने हिन्दू-संस्कृति की रक्षा की। ई० स० ४६७ (स्कन्दगुप्त की मृत्यु-तिथि) के उपरान्त गुप्त साम्राज्य की अवनति प्रारम्भ हो गई। इस अवनति-काल में भी बुधगुप्त व भानुगुप्त के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। परन्तु उनके समय में भी गुप्तों को वह गौरव नहीं प्राप्त था जो उत्कर्ष-काल में सुलभ था।

पाँचवीं सदी के मध्य (ई० स० ४६७) में गुप्तों के सुविस्तृत साम्राज्य की प्रभा क्षीण होने लगी। यहाँ तक कि गुप्त सम्राटों के वंशज अपने साम्राज्य को खो बैठे। अंतिम समय में उनका राज्य मगध में सीमित रह गया। ऐसे बलहीन तथा अकर्मण्य राजाओं का नाश स्वाभाविक ही है। गुप्त नरेशों का यही परिणाम हुआ। गुप्त साम्राज्य की अवनति ही नहीं हुई परन्तु एक समय उसका अंत हो गया। प्रत्येक व्यक्ति को जानने की यह उत्कंठा होती है कि ऐसे विशाल साम्राज्य का अंत किन कारणों से हुआ। अतएव इन कारणों पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। गुप्त-साम्राज्य के अंत के प्रायः मुख्य पाँच कारण बतलाये जाते हैं—

अवनति के कारण

(१) बाह्य-आक्रमण, (२) आंतरिक-दौर्बल्य, (३) पर-राष्ट्र नीति का त्याग, (४) प्राचीन संस्कृति का असंरक्षण तथा (५) सामंत और प्रतिनिधियों की स्वतंत्रता। इन कारणों का पृथक् पृथक् विस्तारपूर्वक विचार करने का प्रयत्न किया जायगा। इनके अध्ययन से आगे का इतिहास समझने में सरलता होगी।

राजनीति का यह साधारण सिद्धान्त है कि शत्रु किसी शासक पर उसी समय आक्रमण करता है जब उसे बलहीन देखता है। शक्तिशाली राज्य पर चढाई कर अपना ही पराजय कौन मोल लेगा? इस नीति के अनुसार बाहरी शत्रुओं का आक्रमण उस राज्य की निर्बलता का सूचक है। ऊपर बतलाया गया है कि सर्व प्रथम ई० स० ४५५ के लगभग गुप्त-साम्राज्य के शत्रु हूणों

बाह्य आक्रमण

निर्बलता का परिणाम वही हुआ जो साधारणतया देखने में आता है। गुप्त नरेशों की शक्तिहीणता शत्रुओं पर अभिव्यक्त हो गई थी अतः उन लोगों ने बारम्बार आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। गुप्त नरेशों की अवस्था ऐसी क्षीण होती गई कि वे पुनः उसका लाभ न कर सके। इस बढ़ती हुई दुर्बलता से शत्रुओं ने लाभ उठाया। राजाओं *की आंतरिक निःसारता ने शत्रुओं के बाह्य आक्रमण का अवसर दिया जिसके कारण गुप्तों* का अंत निकट पहुँच गया।

राजनैतिक क्षेत्र में शासक का नीति में निपुण होना अनिवार्य समझा जाता है। नीति के आचार्य चाणक्य ने बालकपन में राजकुमारों को राजनीति-शिक्षा का एक परम आवश्यक अंग बतलाया है। प्राचीन भारत में राजाओं को गृह तथा पर-राष्ट्र नीति में परिपक्व होना राज्य-संचालन के लिए अत्यन्त आवश्यक था। नीति-निपुण राजा के लिए बाहरी नीति का महत्त्व गृहनीति से अधिक रहता था। गुप्त सम्राटों ने इस नीति का समुचित रूप से पालन किया। सम्राट् समुद्रगुप्त ने अपने शासन-काल में पर-राष्ट्रनीति का प्रयोग भिन्न-भिन्न प्रकार से किया था। दक्षिणापथ के राजाओं को विजय कर समुद्र ने उनको अपने साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किया परन्तु उन समस्त नरेशों को मुक्त कर दिया तथा उनके राज्य उन्हीं को सौंप दिये। कितने नष्ट राज्यों को उसने पुनः स्थापित किया। इस नीति के कारण समुद्रगुप्त का प्रभाव सुदूर देशों तक विस्तृत था। सिंहल आदि द्वीपों तथा पश्चिम की विदेशी जातियों ने उससे मित्रता स्थापित की। इन सब कारणों से समस्त भारत के राजा उसके सहायक बन गये तथा उसकी छत्रछाया में रहकर शासन करते रहे। द्वितीय चन्द्रगुप्त ने भी पर-राष्ट्रनीति का पालन सुचारु रूप से किया। मालवा व सौराष्ट्र के शकों को जीतकर उसने दक्षिण के राजाओं से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। नाग, वाकाटक तथा कुंतल नरेशों से सम्बन्ध स्थापित कर गुप्त-साम्राज्य को उसने सुरक्षित किया। इन सबका परिणाम यही हुआ कि गुप्तसाम्राज्य उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। इनके *उत्तराधिकारी कुमार तथा स्कन्दगुप्त ने अपने पूर्वपुरुषों की* नीति का अवलम्बन किया। उस नीति पर चलते हुए इन लोगों ने पैतृक साम्राज्य की रक्षा की। परन्तु स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों में इन सब गुणों का अभाव था। वे न तो पर्याप्त शक्तिशाली थे और न नीति में कुशल। यदि बलहीन अवस्था में भी नीति का सदुपयोग किया जाय तो राज्य सञ्चालन में कुछ सरलता होती है परन्तु शक्ति तथा नीति दोनों के अभाव में गुप्तों की शासन-प्रणाली बिलकुल सारहीन हो गई थी। यही कारण है कि बाहरी शत्रुओं के आक्रमण होने लगे, जिससे पैतृक राज्य की रक्षा करना कठिन हो गया। अपने पूर्वजों के संबंध को स्थायी रखना तो पृथक् रहा—पीछे के गुप्त राजाओं ने उनसे शत्रुता मोल ले ली। नरेन्द्रसेन वाकाटक द्वितीय चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावती गुप्ता का पौत्र था। इसके तथा मालव-नरेश के साथ शत्रुता का व्यवहार हो गया था। अन्य वाकाटक राजाओं ने मालवा पर विजय प्राप्त किया था जिसका शासक सम्भवतः गुप्त-वंशज था। इस वर्णन से स्पष्टतया प्रकट होता है कि पीछे के गुप्तों ने अपने प्राचीन सम्बन्धियों तथा मित्रों से शत्रुता कर ली थी। इस विवरण से यही

पर-राष्ट्रनीति का त्याग

मालूम होता है कि गुप्त-साम्राज्य के अंतिम समय को निकट बुलाने में इन राजाओं की अकर्मण्यता तथा नीति की अनभिज्ञता ने अधिक सहायता की।

भारतीय इतिहास में गुप्त-साम्राज्य एक विशेष महत्त्व रखता है। इस साम्राज्य में हिन्दू संस्कृति की उन्नति चरम सीमा को पहुँच गई थी। गुप्त सम्राटों ने प्राचीन वैदिक धर्म को पुनः जाग्रत किया था। आर्य सभ्यता के नष्ट करनेवाले विदेशी आततायी हूणों को पराजित कर द्वितीय चन्द्रगुप्त ने 'विक्रमादित्य' के प्राचीन विरुद को ग्रहण किया था। वैदिक मार्ग पर अश्वमेध यज्ञ करना प्रारम्भ किया। सम्राट् समुद्रगुप्त तथा कुमारगुप्त प्रथम के अश्वमेध नामक सिक्के उस यश के जीते-जागते उदाहरण हैं। इन्हीं सब कारणों से गुप्त काल भारत-इतिहास में 'स्वर्णयुग' के नाम से प्रसिद्ध है। गुप्त सम्राटों की महान् विशेषता यह थी कि वे शुद्ध वैष्णवधर्मानुयायी थे। गुप्त-लेखों में उनके लिए 'परम भागवत' की उपाधि मिलती है। वैष्णवधर्मावलम्बी होते हुए भी अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता का बर्ताव गुप्तों ने किया जिससे इन नरेशों की उदारचरित्रता का ज्ञान होता है।

हिंदू संस्कृति का असंरक्षण

स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् भागवतधर्म राजधर्म न रह गया। भितरी-राजमुद्रा में उल्लिखित वैष्णव उपाधि 'परम भागवत' के अनन्तर किसी भी लेख में इस पदवी का प्रयोग नहीं मिलता। कुमारगुप्त द्वितीय के शासन के उपरान्त गुप्त नरेशों ने बौद्ध धर्म को अपनाया। यदि ह्नेनसाँग के वर्णन पर विचार किया जाय तो स्पष्ट प्रकट होता है कि शक्रादित्य से लेकर वज्र पर्य्यन्त समस्त नरेशों ने नालंदा महाविहार की वृद्धि की। जिस गुप्त वंश के सम्राट् परमभागवत की पदवी से विभूषित थे, उसी कुल में उत्पन्न राजा छठी शताब्दी में बुद्धधर्म के अनुयायी हुए। नालंदा ऐसे विशाल बौद्ध महाविहार के संस्थापन का श्रेय इन्हीं को है। भारत ऐसे धर्म-प्रधान देश में धर्म प्रवाह को रोकना एक महाकठिन कार्य है। जिस समय स्वयं शासक धर्म पर कुठाराघात करने लगता है तो प्रजा की भक्ति को खो बैठता है। राजभक्ति के नष्ट होने पर शासन की दुरवस्था में प्रजा राजा का साथ प्रेम के साथ नहीं देती। ऐसी ही दशा पीछे के गुप्त राजाओं की हुई। बुधगुप्त के समय से बौद्धधर्म राजधर्म हो गया। इनकी निर्बलता के कारण विदेशी जातियों ने भारत पर आक्रमण किया जिससे हिन्दू संस्कृति की हानि हुई। गुप्तों का ऐसा कोई राजा न था जो आर्य सभ्यता को पुनर्जीवित करता। साम्राज्य के नष्ट हो जाने से प्रजा का संघ के प्रति प्रेम विलुप्त हो गया। राजभक्ति का नाम तक न रह गया। इन्हीं सब कारणों से हिन्दू संस्कृति के नाश के साथ-साथ गुप्तों का भी अंत हो गया।

गुप्तों की शासन-प्रणाली एक आदर्श मार्ग की थी। सारा साम्राज्य प्रांतों (भुक्ति) तथा प्रांत छोटे छोटे प्रदेश (विषय) में बँटा हुआ था। गुप्त सम्राटों ने अपने समस्त विजित प्रदेशों पर प्रतिनिधि स्थापित किये थे। उन नियुक्त प्रतिनिधियों को उस प्रांत के शासन में पर्याप्त मात्रा में अधिकार भी दिया था। जूनागढ़ के लेख से प्रकट होता है कि स्कन्दगुप्त ने अपने प्रांत सौराष्ट्र के शासक पर्णदत्त को राजधानी से दूर होने के

सामंत तथा प्रतिनिधियों की स्वतंत्रता

कारण कुछ अधिक अधिकार दे दिया था। ऊपर बतलाया गया है कि गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्त शासकों की निर्बलता का ज्ञान समस्त सामंतों तथा प्रतिनिधियों पर व्यक्त हो गया था। इन राजाओं को बाहरी शत्रुओं से अपने राज्य की रक्षा करना कठिन हो गया था। सुदूर प्रांतों के शासकों का नियन्त्रण करना असम्भव ही था। ऐसी परिस्थिति में गुप्त सामंतों ने इस अवसर से लाभ उठाया। वे शनैः शनैः स्वतंत्रता की ओर अग्रसर होने लगे। मध्यप्रांत के परिव्राजक व उच्चकल्प राजाओं के लेखों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे गुप्त सत्ता को परित्याग करने लगे। उन्होंने सामंत की अवस्था में होते हुए 'महाराजा' की पदवियाँ धारण की थीं[1]। वैन्यगुप्त का सामंत विजयसेन भी गुनैघर के ताम्रपत्र में 'महाराज महासामन्त विजयसेन' कहा गया है[2]। इन कथनों से उपर्युक्त बात की पुष्टि होती है।

इस प्रकार जितने सामंत तथा प्रतिनिधि थे सभी ने स्वतंत्रता की घोषणा कर दी तथा समयान्तर में राजा बन बैठे। उन्होंने गुप्त साम्राज्य को दुर्बल बनाने तथा उसके अंत करने का पूर्ण रीति से प्रयत्न करना प्रारम्भ कर दिया। ऐसी विकट स्थिति तथा गुप्तों के दुर्भाग्य के समय उत्तरी भारत में अनेक स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गये। पश्चिम में वलभी, मालवा; उत्तर में थानेश्वर व कन्नौज तथा पूर्वी भारत में गौड़ के शासक पूर्ण स्वतंत्र बन बैठे। इन्हीं शासकों ने अपने राज्य-विस्तार की अभिलाषा से गुप्त राज्य पर गहरी चोट पहुँचाई, जिससे सर्वदा के लिए गुप्त साम्राज्य का अंत हो गया।

जिस गुप्त साम्राज्य का प्रभाव समस्त भारत पर फैला था उसकी अवनति छठी शताब्दी के मध्य भाग में पूर्ण रूप से हो गई। इसके मुख्य कारणों का वर्णन ऊपर हो चुका है, परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य भी छोटे-छोटे कारण हैं जिन्होंने इस कार्य में सहयोग दिया। गुप्तों में गृह-कलह तथा राजद्रोह के कारण भी भेद पैदा होने लगा। जो हो, परन्तु इन छोटे छोटे कारणों के पर्याप्त उदाहरण गुप्तों के समय में नहीं मिलते। अतएव ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में उपर्युक्त पाँच कारण ही मुख्य थे जिससे भारतभूमि से उस 'स्वर्णयुग' का नाम ही शेष रह गया। सदा के लिए गुप्त साम्राज्य का अंत हो गया।

---

१. का० इ० इ० भा० ३ नं० २२, २३, २५ आदि।

२. इ० हि० क्वा० १९३० पृ० ४५—६०।

गुप्त-साम्राज्य के पश्चात् उत्तरी भारत की राजनैतिक अवस्था

छठीं शताब्दी के मध्य भाग में गुप्त साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया। ऐसा कोई भी गुप्त शासक शक्तिशाली नहीं था जो समस्त प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थिर रखता। उनकी निर्बलता के कारण गुप्त सामन्तों ने स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर होना प्रारम्भ किया। इस प्रकार अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित होने लगे जिन्होंने कालान्तर में विस्तृत रूप धारण कर लिया। गुप्त-साम्राज्य के उपरान्त स्वतन्त्र शासकों के विषय में ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है, अतएव उन राज्यों का संक्षेप में वर्णन करने का प्रयत्न किया जायगा।

सबसे प्रथम गुप्त साम्राज्य से सौराष्ट्र तथा मालवा पृथक् हो गये। यही गुप्तों का पश्चिमी प्रान्त था जहाँ उनके नियुक्त प्रतिनिधि शासन करते थे। सम्राट् स्कन्दगुप्त

वलभी

के समय में ई० स० ४५७ के लगभग पर्णदत्त सौराष्ट्र का शासक था। इस गुप्त नरेश की मृत्यु के पश्चात् गुप्तों का एक भी लेख या सिक्का पश्चिमी भारत में नहीं मिलता जिससे प्रकट होता है कि वहाँ (काठियावाड़ और मालवा) से गुप्तों का अधिकार पृथक् हो गया था। इस कारण यह स्पष्ट प्रकट होता है कि सौराष्ट्र पर किसी अन्य व्यक्ति का अधिकार था। ई० स० ४७५ के लगभग भट्टारक नामक व्यक्ति सेनापति के पद पर नियुक्त था[1]। भट्टारक मैत्रकों का सरदार था। वह केवल नाम के लिए सेनापति के पद पर था, परन्तु वह राजा के समान शासन करता था। वलभी उसका प्रधान नगर था। उसके पुत्र की भी उपाधि सेनापति की थी जिससे अनुमान किया जाता है कि वे गुप्त-छत्रछाया में शासन करते थे। सर्वप्रथम मैत्रकों के तीसरे राजा द्रोणसिंह ने 'महाराजा' की पदवी धारण की जो पूर्ण स्वतन्त्रता की सूचना देता है। इसके उत्तराधिकारी तथा सेनापति भट्टारक के तीसरे पुत्र ध्रुवसेन प्रथम का एक लेख गु० स० २०६ (ई० स० ५२६) का मिला है जिसमें महाराजा पदवी का उल्लेख मिलता है[2]। ध्रुवसेन प्रथम का यह लेख बहुत महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि मैत्रकों का यह पहला तिथियुक्त लेख है। इससे महाराज पदवी की ऐतिहासिकता ज्ञात होती है। तिथि के आधार पर यह मालूम होता है कि ई० स० ५२६ के लगभग वलभी में मैत्रकों ने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था। महाराजा ध्रुवसेन प्रथम की चौथी पीढ़ी में ध्रुवसेन द्वितीय ने राज्य किया। यह कन्नौज के राजा

---

१. इ० हि० क्वा० भा० ४ पृ० ४६०।

२. का० इ० इ० भा० ३ पृ० ७१; इ० ए० भा० ३।

हर्षवर्धन का समकालीन था। भड़ौच के ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि वहाँ के राजा दिद्दा द्वितीय ने (ई० स० ६२६-६४१) वलभी के राजा की रक्षा की जिसे कन्नौज के परमेश्वर हर्षदेव ने पराजित किया था[१]। सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री ह्वेनसाँग ने इस घटना का वर्णन किया है। उसके कथनानुसार वलभी के राजा ध्रुवभट्ट (ध्रुवसेन द्वितीय) ने हर्ष से सन्धि की प्रार्थना की। सन्धि समाप्त होने पर हर्षवर्धन ने सम्बन्ध को स्थायी करने के लिए अपनी पुत्री का विवाह उस राजा के साथ कर दिया। ध्रुवसेन द्वितीय हर्षवर्धन के अधीन होकर शासन करता था। परन्तु उसका उत्तराधिकारी धरसेन चतुर्थ पूर्ण स्वतन्त्र था। उसने महान् उपाधि 'परम भट्टारक महाराजाधिराज चक्रवर्ती' धारण की थी। इसी के समान शिलादित्य तृतीय ने (ई० स० ६७०) 'परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर' की पदवी धारण की थी। इस महान् पदवी से प्रकट होता है कि वलभी के नरेशों का प्रभाव सुचारु रूप से विस्तृत था। मैत्रकों का राज्य बड़ौदा, सूरत तथा पश्चिमी मालवा तक विस्तृत था। मैत्रकों का अन्तिम राजा शिलादित्य सप्तम था जिसका शासन ई० स० ७६६ के लगभग समाप्त हुआ[२]। इस विवरण से यही पता चलता है कि वलभी के मैत्रकों का शासन छठीं सदी के मध्यभाग से लेकर आठवीं शताब्दी के अन्तिम भाग पर्यन्त था। इस तरह वे ढाई सौ वर्षों तक राज्य करते रहे।

मालवा से यहाँ पश्चिमी मालवा से तात्पर्य है जिसका प्रधान नगर मंदसोर (प्राचीन दशपुर) था। *मालवा प्रायः सौराष्ट्र के साथ ही गुप्तों के अधिकार से निकल* गया। मालवा की राजधानी मंदसोर में गुप्तों का प्रतिनिधि रहता था। ई० स० ४३६ में कुमारगुप्त प्रथम का प्रतिनिधि बन्धुवर्मा मंदसोर में शासन करता था[३]। पूर्वी मालवा को छोड़कर पश्चिमी मालवा में अवनति-काल के गुप्त-नरेशों का एक भी लेख या सिक्का नहीं मिलता जिससे वहाँ गुप्तों का अधिकार ज्ञात हो। छठीं सदी के प्रारम्भ में समस्त मालवा पर हूणों का अधिकार था। ई० स० ५१० में एरण (पूर्वी मालवा) के समीप गुप्तों व हूणों में युद्ध हुआ[४]। परन्तु इस युद्ध में पराजित होने पर भी हूणों की सत्ता नष्ट न हो गई थी। इसी शताब्दी के मध्यभाग में एक प्रतापी राजा का उदय हुआ। इस नरेश ने मालवा पर *अधिकार कर लिया तथा अन्य देशों को भी विजय किया।* मंदसोर की प्रशस्ति में प्रतापी मालव नरेश यशोधर्मा के विजय का वृत्तांत वर्णित है[५]। हिमालय से पश्चिमी घाट तथा पूर्वी घाट से लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) तक समस्त प्रदेशों पर यशोधर्मा ने विजय प्राप्त किया। यद्यपि यह वर्णन कुछ अत्युक्तिपूर्ण ज्ञात होता है परन्तु यह सत्य है कि ई० स० ५३३

मालवा

---

१. इ० ए० भा० १३।
२. इ० हि० क्वा० भा० ४ पृ० ४६६।
३. का० इ० इ० भा० ३ नं० १८।
४. वही २०।
५. वही ३३।

के लगभग यशोधर्मा ने हूणों के सरदार मिहिरकुल को परास्त किया। इसका प्रभाव अधिक समय तक स्थायी न रह सका परन्तु कुछ काल के बाद छिन्न-भिन्न हो गया। नगवा के ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि ई० स० ५४० में मालवा पर वलभी-राजा ध्रुवसेन द्वितीय का अधिकार था[1]। जो हो, परन्तु यह निश्चय है कि छठीं शताब्दी के मध्यभाग में गुप्तों की अवनति के समय सर्वप्रथम मालवा गुप्त साम्राज्य से पृथक् हो गया था। यहाँ एक स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गया था।

कन्नौज

बहुत प्राचीन काल से उत्तरी भारत में पाटलिपुत्र ही समस्त नगरों में उच्च स्थान रखता था जिससे इसकी विशेष प्रधानता थी। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी से लेकर गुप्त साम्राज्य के अंत (ईसा की छठीं सदी) तक समस्त सम्राटों की राजधानी पाटलिपुत्र ही थी। व्यापारिक दृष्टि से भी पाटलिपुत्र का स्थान महत्त्वपूर्ण था। परन्तु छठीं शताब्दी में पाटलिपुत्र का स्थान कन्नौज ने ग्रहण कर लिया। इसकी गणना प्रधान नगरों में होने लगी। यही कारण है कि गुप्त साम्राज्य के नष्ट होने पर कन्नौज में एक नये राज्य की स्थापना हुई जिसके शासक मौखरि नाम से पुकारे जाते हैं।

इस वंश का नाम मौखरि क्यों पड़ा, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। इस वंश के लेखों के आधार से ज्ञात होता है कि आदिपुरुष का नाम मुखर था जिससे इस वंश का नाम मौखरि हुआ। मौखरियों का आदि-स्थान गया ज़िला (बिहार प्रांत) में था। उस स्थान पर इनके लेख तथा मुद्रा भी मिलती हैं[2]। बराबर तथा नागार्जुनी गुहालेखों में इन राजाओं के लिए सामंत शब्द का प्रयोग मिलता है। इस आधार से प्रकट होता है कि सामंत शार्दूलवर्मन् तथा अनन्तवर्मन् गुप्त नरेशों के आश्रित थे। गया से प्रस्थान कर किस समय मौखरियों ने कन्नौज में राज्य स्थापित किया, यह नहीं कहा जा सकता। गया के मौखरि तथा कन्नौज के मौखरि वंश में किसी प्रकार का सम्बन्ध ज्ञात नहीं है परन्तु छठीं शताब्दी के मध्यभाग में कन्नौज में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना पाते हैं।

मौखरि वंश के सबसे पहले राजा का नाम हरिवर्मन् है जिसका उल्लेख मौखरि-लेखों में मिलता है। यह वंश मगध में शासन करनेवाले पिछले गुप्त नरेशों का समकालीन था। इस समकालीनता का ज्ञान हो जाने पर ऐतिहासिक बातें सरल हो जाती हैं। अतएव उससे परिचित होने के लिए उनकी समकालीनता यहाँ दिखलाई जाती है।

मागध गुप्त	मौखरि वंश
कृष्णगुप्त	हरिवर्मन्
हर्षगुप्त	आदित्यवर्मन्
जीवितगुप्त	ईश्वरवर्मन्
कुमारगुप्त	ईशानवर्मन्

१. ए० इ० भा० ८ पृ० १८८।

२ का० इ० इ० भा० ३ नं० ४८, ४६।

दामोदरगुप्त	सर्ववर्मन्
महासेनगुप्त	अवन्तिवर्मन्
माधवगुप्त	ग्रहवर्मन्

मौखरि वंश में प्रथम तीन राजाओं की पदवी महाराजा थी जिस के कारण किसी न किसी रूप में वे आश्रित ज्ञात होते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि वे गुप्तो के अधीन थे। दूसरे मागध गुप्त नरेश ने अपनी बहन हर्षागुप्ता का विवाह आदित्यवर्मन् के साथ किया था। जो हो, परन्तु मौखरि शासक ईशानवर्मन् के समय से मौखरि वंश की उन्नति हुई। इसने आंध्र, शूलिकान् तथा गौड़ राजाओं को परास्त किया था। इसकी विजय-वार्ता हरहा की प्रशस्ति मे उल्लिखित है। इस लेख की तिथि (वि० स० ६११) से प्रकट होता है कि ई० स० ५५४ के लगभग ईशानवर्मन् का प्रताप विस्तृत हो गया था। सबसे प्रथम इसी ने 'महाराजाधिराज' की पदवी धारण की जिससे मौखरियो की पूर्ण स्वतंत्रता का परिचय मिलता है[1]। इसके पश्चात् सर्ववर्मन् मौखरि राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। इन दोनो राजाओं के साथ मागधगुप्तो ने घनघोर युद्ध किया था। कुमारगुप्त ने ईशानवर्मन् को परास्त किया था परन्तु सर्ववर्मन् मौखरि ने कुमारगुप्त के पुत्र दामोदरगुप्त को मार डाला। इस परम्परागत शत्रुता के कारण गुप्तो तथा मौखरियो में युद्ध होते रहे। उसी समय थानेश्वर में भी वर्धन नामक राजा शासन करते थे। प्रभाकरवर्धन की पुत्री राज्यश्री का विवाह मौखरियों के अंतिम राजा ग्रहवर्मन् के साथ हुआ था। गुप्तों से यह मित्रता का बर्ताव देखा न गया अतएव गुप्त नामधारी देवगुप्त राजकुमार ने गौड़ राजा शशाक की सहायता से ग्रहवर्मन् को हत्या कर दी। इस तरह मौखरि वंश का नाश हो गया।

छठीं शताब्दी में गंगा की घाटी में मौखरियों के समान कोई शक्तिशाली नरेश न था। गया[2], आसीरगढ़[3] (मध्यप्रदेश), जौनपुर[4], हरहा[5] (बाराबंकी, संयुक्त प्रांत) के लेखों तथा सिक्कों[6] से ज्ञात होता है कि मौखरियों का राज्य बिहार, संयुक्त-प्रांत तथा मध्यप्रदेश तक विस्तृत था। *कन्नौज का अंतिम मौखरि शासक ग्रहवर्मा ही था।* इस प्रकार हरिवर्मन् से लेकर ग्रहवर्मन् तक सात राजाओं ने कन्नौज में शासन किया। मौखरियों के संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि छठीं शताब्दी में गुप्त साम्राज्य का अंत होने पर उत्तरी भारत मे इनकी कीर्ति फैली। गुप्तों के आश्रित सामंत उनकी दुर्बलता के कारण स्वतंत्र शासक बन बैठे तथा उन्होंने महाराजाधिराज की पदवी धारण की। गुप्त शासन से पृथक् होनेवाला यह तीसरा राज्य था।

---

१. हरहा की प्रशस्ति – ए० इ० भा० १४ पृ० ११५।
२. का० इ० इ० भा० ३ नं० ४८, ४६।
३. वही ४७।
४. ,, ५१।
५. ए० इ० भा० १४ पृ० ११५।
६. जे० ए० एस० बी० १९०६ पृ० ८४५।

कन्नौज राज्य के साथ साथ उत्तरी भारत में वर्धन नामक एक शासक वंश का उदय हुआ जिनका प्रधान स्थान देहली के समीप थानेश्वर में स्थापित हुआ था। पहले

थानेश्वर

तो वर्धन नरेश एक सीमित राज्य पर शासन करते थे परन्तु कालान्तर में यह वर्धन साम्राज्य के रूप में परिणत हो गया। इनके पूर्वपुरुष का नाम पुष्पभूति था जिसका उल्लेख हर्षचरित में मिलता है। वर्धन लेख के आधार पर सर्वप्रथम राजा का नाम नरवर्धन था[1]। इनके दे। उत्तराधिकारी ऐसे थे जिनकी उपाधि महाराजा थी। वर्धन के तीसरे राजा आदित्यवर्धन का विवाह मागध गुप्तों की वंशजा महासेन गुप्ता के साथ हुआ था। आदित्यवर्धन का पुत्र प्रभाकरवर्धन बहुत ही शक्तिशाली नरेश था। इसने दक्षिण तथा पश्चिम के अनेक राज्यों को विजय किया था जिसका वर्णन बाणकृत हर्षचरित में मिलता है[2]। लेखों तथा हर्षचरित के आधार पर ज्ञात होता है कि प्रभाकरवर्धन ने 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' की पदवी धारण की थी। इस महान् उपाधि तथा विजय-वर्णन से पता चलता है कि प्रभाकर ने छठीं शताब्दी के अंतिम भाग में पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा कर दी थी। संयुक्त प्रांत में फैज़ाबाद ज़िले में मिटौरा नामक स्थान से सिक्कों की एक निधि मिली है[3]। इसमें कुछ सिक्के प्रभाकरवर्धन (प्रतापशील) के भी हैं। इन सिक्कों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रभाकर पूर्ण स्वतंत्र शासक था। बाण के वर्णन से ज्ञात होता है कि इस नरेश ने अपनी पुत्री राज्यश्री का विवाह कन्नौज के अंतिम मौखरि राजा ग्रहवर्मा के साथ किया था[4]।

इसकी मृत्यु के पश्चात् इसका ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्धन द्वितीय राज्य का उत्तराधिकारी था। परन्तु प्रभाकर की मृत्यु और बाहरी शत्रुओं के आक्रमण के समय मालवा के राजा देवगुप्त ने शशांक के साथ प्रभाकर के जामाता ग्रहवर्मा के। मार डाला। इन मौखरि वंश के शत्रुओं ने राज्यश्री के। कारागार में बन्द कर दिया। इस विपत्ति का संवाद सुनकर राज्यवर्धन अपनी बहन के सहायतार्थ कन्नौज आया, परन्तु उन शत्रुओं ने उसे भी मार डाला। जेठे भ्राता की मृत्यु के पश्चात् हर्षवर्धन थानेश्वर का उत्तराधिकारी हुआ। अपनी बहन राज्यश्री के कहने पर मौखरि राज्य भी थानेश्वर राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। अतएव इस विस्तृत राज्य के सुप्रबंध के लिए हर्ष ने कन्नौज के। अपनी राजधानी बनाया तथा वहीं राजसिंहासन के। सुशोभित किया।

सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात् हर्षवर्धन ने समस्त उत्तरी भारत के राजाओं के। पराजित किया। इसने पश्चिम में वलभी के नरेश ध्रुवसेन द्वितीय के। परास्त किया[5]

---

१. बाँसखेड़ा ताम्रपत्र —ए० इ० भा० ४ पृ० २०८।

२ हूणहरिणकेसरीसिन्धुराजज्वरो गुर्जरप्रजागरो गान्धाराधिपगन्धद्विपकूटपाकलो लाटपाटवपाटच्चरो मालवलक्ष्मीलतापरशुः प्रतापशील इति प्रथितापरनामा प्रभाकरवर्धनो नाम राजाधिराजः।

—हर्षचरित, उच्छ्वास ४।

३. जे० ए० एस० बी० १९०६ पृ० ८४५।

४. हर्षचरित उच्छ्वास ४।

५. ए० इ० भा० १३— भरौच का ताम्रपत्र।

ह्वेनसाँग के कथन से ज्ञात होता है कि वलभी नरेश ने संधि कर ली। हर्षदेव ने इस मित्रता के सुदृढ़ करने के लिए अपनी पुत्री का विवाह ध्रुवसेन द्वितीय से किया। पूर्वीय भारत में हर्षवर्धन ने अपने शत्रु गौड़ राजा शशांक पर भी विजय प्राप्त किया। सातवीं सदी के चीनी यात्री ह्वेनसाँग ने हर्षवर्धन के एक विस्तृत राज्य का शासक पाया। उसने हर्ष की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इसके प्रताप के कारण कामरूप के राजा भास्करवर्मन् ने उससे मित्रता-स्थापित की। इसके आश्रित वलभी में मैत्रक और मगध में गुप्त-नरेश शासन करते थे। इस प्रकार उत्तरी भारत में एक साम्राज्य स्थापित कर हर्षवर्धन ने ई० स० ६०६-६४८ तक शासन किया। इस वर्णन से प्रकट होता है कि गुप्तों की अवनति होने के कारण एक छोटे राजा ने उत्तरी भारत में एक साम्राज्य के रूप में अपने शासन का विस्तार कर लिया।

चौथी शताब्दी से गुप्त सम्राटों का शासन बंगाल पर निरंतर चला आया था। *सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति में समतट तथा डवाक का नाम प्रत्यन्त नृपतियों* की नामावली में मिलता है। वे सब समुद्रगुप्त का लोहा मान गये थे तथा सब प्रकार कर देना व उसकी छत्रछाया में शासन करना समस्त नरेशों ने स्वीकार किया था। दामोदरपुर के ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है कि गु० स० २२४ तक उत्तरी बंगाल गुप्तों के अधिकार में था[1]। गुणैघर के लेख से प्रकट होता है कि पूर्वी बंगाल भी गुप्त प्रतिनिधियों द्वारा शासित होता था[2]। तात्पर्य यह है कि ईसा की छठीं सदी के मध्यभाग तक गुप्त शासन बंगाल तक विस्तृत था।

गौड़

छठीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध भाग में बंगाल की राजनैतिक परिस्थिति में अकस्मात् परिवर्तन दीख पड़ता है। गुप्त साम्राज्य का अंत होने पर गौड़ में एक नये राज्य का उदय हुआ। ईशानवर्मा मौखरि के हरहा के लेख से पता चलता है कि ई० स० ५५४ में इस कन्नौज के महाराजाधिराज ने 'गौडान् समुद्राश्रयान्' के परास्त किया था[3]। अतएव उस समय गंगा की नीचे की घाटी में गौड़ राज्य की स्थापना की सूचना मिलती है।

गौड़ देश की स्थिति बहुत प्राचीन काल से ज्ञात है। अर्थशास्त्र तथा पुराणों में इसका नाम मिलता है। छठी सदी में वराहमिहिर ने गौड़ देश को पूर्वी भारत में स्थित बतलाया है। छठीं शताब्दी के मध्यभाग में गुप्त साम्राज्य के नष्ट हो जाने पर गौड़ में शशांक ने एक राज्य स्थापित किया। शशांक के वंश के विषय में ऐतिहासिकों में मतभेद है। शशांक के सिक्कों के समान एक सिक्के पर नरेन्द्रगुप्त लिखा मिलता है[4]। राखालदास बैनर्जी का मत है कि नरेन्द्रगुप्त शशांक का दूसरा नाम था। इसी आधार पर उसे गुप्त वंशज मानते हैं।

---

१. ए० इ० भा० १५।
२. इ० हि० क्वा० भा० ६ पृ० ४५।
३. ए० इ० भा० १४ पृ० ११५।
४. वही १८ पृ० ७४

राज्य स्थापित करने पर भी पहले शशांक किसी राजा के आश्रित होकर शासन करता था। रोहतासगढ़ के लेख में श्रीमहासामंत शशांकदेवस्य लिखा मिलता है[1]। अतएव सामंत की पदवी से उसकी अधीनता की सूचना मिलती है। परन्तु यह अवस्था अधिक समय तक न रह सकी और वह स्वतंत्र राजा बन बैठा। गंजाम ताम्रपत्र (गु० सं० ३००) में शशांक के लिए 'महाराजाधिराज' की उपाधि का उल्लेख मिलता है[2]। अतएव यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ई० स० ६१९ के लगभग शशांक स्वतंत्र रूप से गौड़ राज्य का अधिपति था। शशांक ने कर्णसुवर्ण को अपनी राजधानी बनाया। सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इसका प्रताप बहुत फैला था। इसी कारण मालवा के राजा देवगुप्त ने इससे मित्रता स्थापित की। शशांक ने कन्नौज पर आक्रमण कर मौखरि वंश के अंतिम राजा ग्रहवर्मन् को मार डाला तथा उसके सहायतार्थ आये हुए थानेश्वर के राज्यवर्धन द्वितीय की हत्या की[3]। इससे भयभीत होकर आसाम के राजा भास्करवर्मन् ने हर्ष-वर्धन से मित्रता स्थापित की थी। इस वर्णन से पता चलता है कि शशांक का प्रताप सुदूर देशों तक विस्तृत हो गया था। कन्नौज के राजा हर्षवर्धन ने राजसिंहासन पर बैठने के पश्चात् अपने शत्रु पर चढ़ाई की। चीनी यात्री ह्वेनसाँग के कथन से मालूम होता है कि हर्षवर्धन ने अपने शत्रु के राज्य पर अधिकार कर लिया था। इस आधार पर यह ज्ञात होता है कि हर्षवर्धन ने सम्भवतः गौड़ राज्य के प्रताप को नष्ट किया। परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि शशांक के साथ हर्ष की मुठभेड़ हुई या नहीं। शशांक के पश्चात् कोई भी बलशाली राजा न हुआ जिसका नाम उल्लेखनीय हो। सम्भवतः गौड़ राज्य का उदय तथा नाश शशांक के ही जीवन-काल में हो गया। जो हो, परन्तु सातवीं सदी के मध्यभाग तक गौड़ राज्य उन्नति की अवस्था में रहा।

कामरूप

कामरूप या प्राग्ज्योतिष भारत के पूर्व उत्तर कोने में स्थित आसाम प्रांत का प्राचीन नाम था। महाभारत तथा विष्णुपुराण में भी इसका नाम मिलता है। कालिदास के वर्णन से भी पता चलता है कि रघु का दिग्विजय कामरूप पर फैला था[4]। लेखों में सबसे प्रथम समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति में कामरूप का नाम मिलता है। इसकी गणना प्रत्यन्त नृपतिगण की नामावली में की गई है। पुराणों में भगदत्त नाम के प्राचीन राजा का वर्णन मिलता है। इसके पश्चात् अनेक पौराणिक राजा हुए परन्तु ईसा की छठीं शताब्दी से कामरूप का ऐतिहासिक विवरण मिलता है। सिलहट के निधानपुर ताम्रपत्र में कामरूप के शासकों की वंशावली दी गई है[5]। सबसे पहले ऐतिहासिक राजा का नाम पुष्यवर्मन् था। इसके दो उत्तराधिकारियों—समुद्रवर्मन् तथा बलवर्मन्—ने क्रमशः राज्य किया।

१. बसाक – हिस्ट्री आफ् नार्दर्न ईस्टर्न इंडिया पृ० १४१।

२. 'गौप्ताब्दे वर्षंशतत्रये वर्तमाने महाराजाधिराज श्री शशांक राज्ये शासति'

— ए० इ० भा० ६ पृ० १४४।

३. बाणकृत—हर्षचरित, उच्छ्वास ६।

४. रघुवंश ४, ८१।

५. ए० इ० भा० १२ पृ० ७३।

तिथि की गणना से यह ज्ञात होता है कि इन तीनों ने चौथी सदी में शासन किया। पाँचवीं तथा छठीं शताब्दियों में कुल आठ राजाओं ने शासन किया। इनके अंतिम राजा का नाम सुस्थिवर्मन् था जिसके साथ गुप्तों का सम्बन्ध था।

गुप्त सम्राटों का प्रताप प्रायः समस्त भारत पर था तथा उत्तरी भारत पर उनके साम्राज्य का विस्तार था। पूर्वी भारत में पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति (उत्तरी बंगाल) में गुप्तों का प्रतिनिधि रहता था। परन्तु कामरूप के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। समुद्रगुप्त ने प्रत्यन्त नृपतियों के राज्य को अपने साम्राज्य में सम्मिलित न किया परन्तु कर लेने और आज्ञा मानने के बन्धन को स्वीकार कर लेने पर उन्हें मुक्त कर दिया। वे नरेश गुप्तों की छत्रछाया में राज्य करते रहे। कामरूप में गुप्तों का कोई लेख या सिक्का नहीं मिलता। इससे अनुमान किया जाता है कि गुप्त नरेशों ने समुद्रगुप्त की नीति का ही अनुसरण किया। अतएव गुप्त साम्राज्य के नष्ट होने पर कामरूप में राज्य स्थापित करने या स्वतन्त्रता की घोषणा करने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। कामरूप में चौथी शताब्दी से शासकगण राज्य करते रहे। इतना हो सकता है कि गुप्तों को निर्बल पाकर कामरूप के राजा ने गुप्त नरेशों के 'आज्ञाकरण प्रणाम' के बन्धन को भी त्याग दिया हो।

इन कामरूप के राजाओं के विषय में कोई उल्लेखनीय वार्ता नहीं है। छठीं शताब्दी के अन्तिम राजा सुस्थिवर्मन् का नाम मागध गुप्तों के अफसाद के लेख में मिलता है। उसके वर्णन से ज्ञात होता है कि महासेनगुप्त ने सुस्थिवर्मन् पर विजय प्राप्त किया था। निधानपुर के ताम्रपत्र में शासक का नाम भास्करवर्मन् मिलता है जिसने सुस्थिवर्मन् के बाद कामरूप के राजसिंहासन को सुशोभित किया। यही भास्करवर्मन् कन्नौज के राजा हर्षवर्धन का मित्र था जिसने सम्भवतः गौड़ाधिपति शशाङ्क को जीतने में उसकी सहायता की थी[1]। निधानपुर के ताम्रपत्र में वर्णन मिलता है कि भास्करवर्मन् ने गौड़ राज्य की राजधानी कर्णसुवर्ण पर भी अधिकार कर लिया था। भास्करवर्मन् का यह अधिकार ई० स० ६२५ के बाद ही हुआ होगा जिस समय सम्भवतः शशाङ्क की मृत्यु हो गई थी[2]।

भास्करवर्मन् के पश्चात् शालस्तम्भ तथा प्रालम्भ आदि के वंशजों ने दसवीं शताब्दी तक शासन किया।

मगध

छठीं शताब्दी के मध्य में इन उपर्युक्त राज्यों के साथ मगध में भी एक राज्य की स्थापना हुई जिसका राजा गुप्त नामधारी था। इन गुप्तों को, मगध का शासक होने के कारण, मागध गुप्त के नाम से पुकारा जाता है। मागध गुप्तों का पूर्व के गुप्त सम्राट् वंश से क्या सम्बन्ध था, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। परन्तु गुप्त साम्राज्य के नष्ट होने पर उत्तरी भारत के अन्य नरेशों की तरह इन गुप्तों ने भी मगध में एक स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। इस मागध गुप्त वंश का वर्णन आगे सविस्तर दिया जायगा, परन्तु इस स्थान पर यह जान लेना आवश्यक है कि

---

१. राखालदास बैनर्जी—बाँगलार इतिहास भा० १ पृ० १०८।

२. बसाक – हिस्ट्री आफ नार्दर्न ईस्टर्न इंडिया पृ० २२६।

वलभी, थानेश्वर, मौखरि तथा गौड़ आदि नरेशों के समान गुप्त राजाओं ने भी गुप्त-साम्राज्य के अंत में, मगध देश में अपना राज्य स्थापित किया।

गुप्त-साम्राज्य के अंत में जिन जिन स्थानों पर स्वतंत्र राज्य स्थापित हुए उन मुख्य राजवंशों का वर्णन हो चुका; परन्तु उत्तरी भारत में कुछ अन्य शासक भी राज्य करते थे जिनका न तो कोई घनिष्ठ सम्बन्ध था और न मुख्य स्थान

अन्य राजागण

फिर भी उनका वर्णन करना समुचित प्रतीत होता है। उस समय भारत की उत्तर दिशा में नेपाल में क्षत्रिय राजा शासन करते थे। नेपाल के इतिहास के अध्ययन में नेपाल-वंशावली तथा सिलवन लेवी व भगवानलाल इन्द्रजी सम्पादित लेखों से सहायता मिलती है। नेपाल में दो वंश के राजा शासन करते थे। ईसा की पहली शताब्दी से लेकर छठीं शताब्दी तक लिच्छवि वंशों के राजा शासन करते थे। इनमें से अधिकतर नरेशों ने अपने लेखों में विक्रम संवत् का प्रयोग किया है। परन्तु कुछ राजाओं ने गुप्त संवत् का ही प्रयोग किया है। इससे ज्ञात होता है कि गुप्त सम्राटों का प्रभाव नेपाल तक फैला था। सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इसने प्रत्यन्त नेपाल राजा को भी कर देने तथा आज्ञा मानने के लिए बाधित किया। यही कारण है कि गुप्त संवत् का प्रयोग नेपाल-लेखों में पाया जाता है। ये लिच्छवि वंशज नरेश मानगृह नामक स्थान से शासन करते थे। उनकी पदवी 'भट्टारक महाराजा' थी।

इन्हीं लिच्छवि वंश के महाराजों के आश्रित होकर कैलाशकूट भवन स्थान से ठाकुरी वंशज नरेश राज्य करते थे। इस कारण उनकी उपाधि महासामत की थी। इस वंश का सर्वप्रथम राजा अंशुवर्मन् था जो सातवीं सदी के कन्नौज के राजा हर्षवर्धन का समकालीन था। ठाकुरी वंश के राजाओं ने हर्षवर्धन के प्रभाव या आक्रमण के कारण हर्ष संवत् का प्रयोग प्रारम्भ किया। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के अतिरिक्त किसी गुप्त नरेश ने नेपाल पर आक्रमण नहीं किया था। सम्भव है कि बहुत समय तक नेपाल-नरेश गुप्तों के अधीन हों तथा कर भी देते हों, परन्तु इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। नेपाल में प्रथम शताब्दी से लेकर सातवीं सदी तक राजा शासन करते रहे। इस राज्य-स्थापना का कुछ भी सम्बन्ध गुप्त साम्राज्य के नाश से न था, परन्तु इस देश में एक बहुत प्राचीन क्षत्रिय वंश-शासन करता था। नेपाल का संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण देने का तात्पर्य यही है कि गुप्तों के अंत के बाद प्रत्येक व्यक्ति उत्तरी भारत की राजनैतिक अवस्था से परिचित हो जाय।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि उत्तरी बंगाल में पुण्ड्रवर्धन भुक्ति में गुप्त प्रतिनिधि शासन-प्रबंध करता था। यह उपरिकर महाराज बंगाल के अनेक विषयों पर शासन करता था। उत्तरी बंगाल में स्थित दामोदरपुर के अतिरिक्त पूर्वी बंगाल से भी लेख प्राप्त हुए हैं। पूर्वी बंगाल के टिपरा ज़िले में स्थित गुणैघर से गु० सं० १८८ का एक लेख मिला है जिससे प्रकट होता है कि ई० स० ५०८ में महाराजा महासामंत विजयसेन गुप्त नरेश वैन्यगुप्त के आश्रित होकर शासन करता था[1]।

1. इ० हि० क्वा० भा० ६, १९३० पृ० ४५—६०।

परन्तु गुप्त-शासन का अंत होने पर पूर्वी बंगाल में भी एक छोटा सा राज्य स्थापित हो गया था। फरीदपुर के ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है कि धर्मादित्य नामक राजा पूर्वी बंगाल में शासन करता था। इसका उत्तराधिकारी गोपचन्द्र था। गोपचन्द्र के पश्चात् समाचार-देव शासक हुआ। ये राजा स्वतंत्र थे जो उनकी उपाधि 'महाराजाधिराज भट्टारक' से प्रकट होता है[1]। विद्वानों में मतभेद है कि पूर्वी बंगाल के ये शासक पूर्ण स्वतंत्र थे या नहीं। परन्तु उस प्रदेश में उनके शासन में तनिक भी सदेह नहीं है। उसी प्रांत में उनके सिक्के भी मिलते हैं जिससे उनके शासन की पुष्टि होती है। समाचारदेव के उत्तराधिकारियों के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है परन्तु भट्टशाली महोदय का मत है कि गौड़ाधिपति शशांक ही उसके बाद पूर्वी बंगाल का शासक हुआ। शशांक के पश्चात् कन्नौज के शासक हर्षदेव ने अपना अधिकार कर लिया। हर्षदेव की मृत्यु के पश्चात् खड्ग वंश के राजा सातवीं शताब्दी तक शासन करते रहे[2] जिनका अंत कन्नौज के राजा यशोवर्मा के हाथों हुआ।

गुप्त-साम्राज्य के नष्ट होने के पश्चात् छठीं शताब्दी के मध्य से सातवीं सदी तक इन्हीं उपर्युक्त स्वतंत्र राज्यों का उदय तथा ह्रास उत्तरी भारत में होता रहा। किसी सम्राट् की अनुपस्थिति में समस्त शासक आपस में राज्य-विस्तार की लिप्सा से युद्ध करते रहे। इनमें कन्नौज के महाराजाधिराज हर्षवर्धन का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। इसने अपने बाहुबल से थोड़े समय के लिए एक साम्राज्य स्थापित कर लिया था तथा समस्त उत्तरी भारत के नरेशों को उसका लोहा मानना पड़ा था। अन्य राज्यों में मागध गुप्त ही ऐसे शासक थे जिनका राज्य-विस्तार पर्याप्त मात्रा में हुआ तथा दो सौ वर्षों तक उनके वंशज राज्य करते रहे। इन्हीं मागध गुप्तों का वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा।

---

१. ए० इ० भा० १८ नं० ११ पृ० ८४।

२. अशरफपुर का प्लेट—मेमायर ए० एस० बी० भा० १ पृ० ८५-९१।

मागध गुप्त-काल

छठीं शताब्दी के मध्यभाग में गुप्त-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया तथा अनेक स्वतन्त्र राजा उत्तरी भारत में शासन करने लगे। यद्यपि राजनैतिक क्षेत्र में गुप्त-साम्राज्य की कोई स्थिति न थी परन्तु गुप्त नामधारी राजा उत्तरी भारत में शताब्दियों तक शासन करते रहे। ये गुप्त राजा किस वंश के थे तथा पूर्व गुप्त सम्राटों से इनका क्या सम्बन्ध था, इसके विषय में ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलते। सम्भव है कि ये गुप्त राजा पूर्व गुप्तों की वंश-परम्परा में हों। ये गुप्त राजा गुप्त-सम्राटों की तुलना में बहुत ही छोटे शासक थे। इनका राज्य मगध के समीपवर्ती प्रदेशों पर सीमित था, अतएव इनको 'मागध-गुप्त' कहा जाता है। पूर्व गुप्तों से इनकी भिन्नता दर्शाने के लिए अँगरेज़ी में इन्हें Later Guptas (पिछले गुप्त नरेश) कहा जाता है।

मागध गुप्त वंश के राज्यस्थान तथा शासन-काल का निर्धारण करने से पूर्व इस वंश के राजाओं के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। मागध गुप्त वंश में कुल ११ नरेश हुए जिन्होंने प्रायः दो शताब्दियों तक राज्य किया।

राज वंश

(१) कृष्णगुप्त, (२) हर्षगुप्त, (३) जीवितगुप्त प्रथम, (४) कुमारगुप्त, (५) दामोदरगुप्त, (६) महासेनगुप्त, (७) माधवगुप्त, (८) आदित्यसेन, (९) देवगुप्त द्वितीय, (१०) विष्णुगुप्त, (११) जीवितगुप्त द्वितीय।

इस वंश में बिना किसी विघ्न-बाधा के पिता के पश्चात् उसका पुत्र राजसिंहासन पर बैठता गया। मागध गुप्तों का वंशवृक्ष दो लेखों के आधार पर तैयार किया जाता है। गया ज़िले से प्राप्त अफसाद के लेख में प्रथम आठ राजाओं की नामावली मिलती है[1]। शाहाबाद के समीप देव-बरनार्क नामक ग्राम से दूसरा लेख मिला है जिसमें अन्तिम तीन राजाओं के नाम (माधवगुप्त व आदित्यसेन के साथ) उल्लिखित हैं[2]। एक गुप्त नामधारी राजा—देवगुप्त—मालवा का शासक कहा गया है जिसका नाम वर्धन लेखों[3] तथा बाण-कृत हर्षचरित[4] में मिलता है। परन्तु आश्चर्य की बात है कि इसका नाम उपर्युक्त दोनों लेखों (अफसाद व देव-बरनार्क) में नहीं मिलता। इस कारण यह प्रकट होता है कि वह इस मुख्य मागध गुप्त वंश से असम्बन्धित था। अतएव कुल ग्यारह राजाओं की नामावली से सन्तुष्ट रहना पड़ता है।

---

१. का० इ० इ० भा० ३ नं० ४२।

२. वही ४६।

३. मधुवन व बाँसखेड़ा के लेख—ए० इ० भा० १ पृ० ६७; भा० ४ पृ० २०८।

४. हर्षचरित, उच्छ्वास ६।

इनमें से प्रत्येक राजा का विस्तृत विवरण दिया जायगा परन्तु इस स्थान पर मागध गुप्तों के कुछ विशिष्ट राजाओं के विषय में लिखना अप्रासङ्गिक न होगा। प्रथम तीन राजाओं के राज्यकाल की किसी ऐतिहासिक घटना का पता नहीं है परन्तु चौथा राजा कुमारगुप्त शक्तिशाली व प्रतापी नरेश था। इसने मौखरि महाराजाधिराज ईशानवर्मा को ई० स० ५५४ के लगभग परास्त किया[1]। इस विजय के कारण गुप्तों का राज्य प्रयाग तक विस्तृत हो गया। इसके पुत्र दामोदरगुप्त को परंपरागत शत्रुता के कारण मौखरि राजा सर्ववर्मन् ने युद्ध में मार डाला और मगध कुछ समय के लिए मौखरियों के अधिकार में चला गया। दामोदरगुप्त का पुत्र महासेनगुप्त बहुत पराक्रमी राजा हुआ। इसने मगध के नष्ट राज्य को पुनः मौखरियों से प्राप्त किया। कामरूप के राजा सुस्थितवर्मन् को इसने पराजित किया[2]।

कुछ विशिष्ट घटनाएँ

सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में थानेश्वर और कन्नौज के राजा हर्षवर्धन का प्रताप उत्तरी भारत में फैला हुआ था। महासेनगुप्त का पुत्र माधवगुप्त भी हर्षवर्धन के साथ रहता था और उसी के समय में उसने मगध के राजसिंहासन को सुशोभित किया। हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् माधवगुप्त के पुत्र आदित्यसेन ने बाहुबल से अपने राज्य का विस्तार किया। यह मगध से लेकर अंग तक शासन करता था। इस कारण मागध गुप्तों में सर्वप्रथम 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' की पदवी इसी ने धारण की[3]। उत्तरी भारत में इसी का बोलबाला था जहाँ इसके वंशज शासन करते रहे।

मागध गुप्तों ने कितने समय तक शासन किया, इसका निर्धारण करना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है। मागध गुप्त नरेशों का राज्य-काल स्थिर करने में अनेक कठिनाइयाँ सामने आती हैं। इन राजाओं के लेख भी मिले हैं परन्तु गुप्तों के आठवें राजा आदित्यसेन के शाहपुर लेख के अतिरिक्त सब में तिथि का अभाव है। शाहपुर के लेख की तिथि हर्ष-संवत् (ई० स० ६०६) में ६६ दी गई है[3]। इन लेखों में तत्कालीन उत्तरी भारत के अन्य शासकों के नाम भी मिलते हैं[4] जिनकी समकालीनता के कारण कुछ गुप्त नरेशों का समय निरूपण करने में सरलता होती है। इन्हीं उपर्युक्त साधनों के आधार पर मागध गुप्तों का शासन-काल निर्धारित किया जायगा।

शासन-काल

अफसाद के लेख से स्पष्ट ज्ञात होता है कि गुप्तों के चौथे नरेश कुमारगुप्त का युद्ध मौखरि महाराजाधिराज ईशानवर्मा से हुआ था। दोनों राजाओं के पुत्रों (दामोदरगुप्त व सर्ववर्मन् क्रमशः) में मुठभेड़ हुई थी। अतएव कुमारगुप्त व दामोदरगुप्त ईशानवर्मा तथा सर्ववर्मन् के समकालीन थे। हरहा की प्रशस्ति से पता चलता है कि ईशान-

---

१. अफसाद का लेख—फ्लीट नं० ४२।
२. बसाक—हिस्ट्री आफ नार्दर्न ईस्टर्न इंडिया पृ० २१६।
३. शाहपुर व मंदर के लेख—फ्लीट ४४।
४. का० इ० इ० भा० ३ नं० ४३।
५. अफसाद का लेख—वही, नं० ४२।

वर्मा ई० स० ५५४ में राज्य करता था[1]। अतः कुमारगुप्त भी ई० स० ५५४ के लगभग शासनकर्त्ता प्रकट होता है। दूसरी समकालीनता महासेनगुप्त तथा कामरूप के राजा सुस्थितवर्मन् की है जिसको गुप्त-नरेश ने पराजित किया था। सुस्थितवर्मन् छठीं शताब्दी के अंत में राज्य करता था[2], अतएव महासेनगुप्त भी छठीं सदी के अंतिम भाग में शासन करता होगा। महासेन का पुत्र वर्धन राजा हर्षवर्धन के समय में मगध का राजा हुआ। अतः माधवगुप्त सातवीं सदी के मध्यभाग (हर्ष का समय ई० स० ६०६-६४७ तक माना जाता है) में राज्य करता था। शाहपुर के लेख से आदित्यसेन की तिथि ई० स० ६७२ (६६ + ६०६) ज्ञात है। इसका पुत्र देवगुप्त दक्षिण भारत के चालुक्य-नरेश विनयादित्य के द्वारा पराजित किया गया था। इस युद्ध का वर्णन ई० स० ६८० के केन्दुर प्लेट में मिलता है[3]। अतएव देवगुप्त व विनयादित्य की समकालीनता के कारण गुप्त-नरेश देवगुप्त सातवीं शताब्दी के अंतिम भाग का शासनकर्त्ता सिद्ध होता है। देवगुप्त के पश्चात् मगध में दो और राजाओं ने शासन किया। इनका राज्य-काल निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। आदित्य के पश्चात् अंतिम तीनों राजाओं की शासन-अवधि सम्भवतः अधिक समय की होगी जो इनकी बड़ी उपाधियों से प्रकट होती है। मागध गुप्तों के अंतिम नरेश जीवितगुप्त द्वितीय को कन्नौज के राजा यशोवर्मा ने पराजित किया, जिस समय से गुप्तों का अंत होता है। यशोवर्मा काश्मीर के राजा ललितादित्य (ई० स० ६९५-७३२) का समकालीन था जिसके हाथों उसे परास्त होना पड़ा था[4]। अतएव समकालीनता तथा तिथियों के आधार पर यह पता चलता है कि सम्भवतः मागध गुप्तों का अंतिम राजा आठवीं शताब्दी के मध्यकाल तक शासन करता रहा। इस गणना के आधार पर मागध गुप्त नरेशों की शासन-अवधि दो सौ वर्षों तक ज्ञात होती है यानी वे छठी शताब्दी के मध्यभाग से आठवीं सदी के मध्य तक राज्य करते रहे।

अँगरेज़ी में मागध गुप्तों को Later Guptas (पिछले गुप्त-नरेश) कहते हैं जिससे उनके राज्य-स्थान का कोई आभास भी नहीं मिलता। इन गुप्त-नरेशों का शासन किस स्थान से प्रारम्भ होता है, इस विषय में ऐतिहासिकों में मतभेद है। इस स्थान का निर्देश करने में भिन्न-भिन्न मत हैं।

स्थान

कुछ विद्वानों का कहना है कि इस गुप्त-शासन का आरम्भ मालवा में हुआ, अतः इनको मागध गुप्त (मगध के गुप्त नरेश) नहीं कह सकते। वस्तुतः इनको 'मालवा के गुप्त राजा' कहना चाहिए। इन विद्वानों का कथन है कि गुप्तों के आठवें राजा आदित्यसेन से पूर्व नरेशों का एक भी लेख मगध में नहीं मिलता। बाणकृत हर्षचरित में छठाँ राजा महासेनगुप्त मालवा का राजा कहा गया है। सबसे पहला गुप्त राजा माधवगुप्त था

---

१. ए० इ० भा० १४ पृ० ११५।

२. बसाक—हिस्ट्री आफ़ नार्दर्न ईस्टर्न इंडिया पृ० २१६।

३. बम्बई गजेटियर भा० १,२ पृ० १८९,३७१।

४. गौडवहो (बम्बई संस्कृत सीरीज़ नं० ३४) भूमिका पृ० ६७,९६।

जिसके समय से गुप्त लोग मगध पर शासन करने लगे। इन सब कारणों से पिछले गुप्त-नरेशों का शासन-प्रारम्भ मालवा से मानते हैं। परन्तु यदि समस्त ऐतिहासिक प्रमाणों का अनुशीलन किया जाय तो ज्ञात होता है कि पिछले गुप्तों को मागध गुप्त कहना सर्वथा उचित है। इस नामकरण—मागधगुप्त - से ही पता चलता है कि गुप्त-नरेश मगध के राजा थे।

पुरातत्त्ववेत्ता बैनर्जी महोदय ने भी पिछले गुप्तों को मगध का शासक माना है। इस विवाद का मूल आधार हर्षचरित का उल्लेख है जिसमें छठाँ गुप्त राजा मालवा का शासक कहा गया है। यदि अफसाद लेख का अध्ययन किया जाय तो इस उल्लेख का स्पष्ट अर्थ ज्ञात हो जाय। इसमें तनिक भी सदेह नहीं है कि अफसाद-प्रशस्ति में उल्लिखित माधवगुप्त का पिता महासेनगुप्त तथा हर्षचरित का मालवा का शासक महासेन एक ही व्यक्ति है। महासेन गुप्त के पिता दामोदर गुप्त को मौखरि नरेश सर्ववर्मन् ने युद्ध में मार डाला[1] तथा मगध पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया[2]। ऐसी परिस्थिति में कुमार महासेन के लिए यह परमावश्यक हो गया कि वह कहीं अपनी रक्षा करे। इस निमित्त उसने मालवा में अपना निवासस्थान बनाया[3]। अपने बल की वृद्धि करने के लिए महासेनगुप्त ने नीति से काम लिया। उस समय थानेश्वर के वर्धनों का प्रताप बढ़ रहा था, इसलिए उस गुप्त-नरेश ने इन बर्धनों से मित्रता स्थापित की। मित्रता को दृढ़ करने के लिए गुप्त राजा ने अपनी बहन महासेन गुप्ता का विवाह थानेश्वर के राजा आदित्यवर्धन से किया[4] तथा अपने दो पुत्रों—कुमार व माधव (मालव-राजपुत्रों)—को थानेश्वर के दरबार में भेज दिया। यही कारण है कि बाण ने हर्षचरित में महासेन को (निवासस्थान के कारण) मालवा का राजा कहा है[5]। इस प्रकार मित्रता के कारण अपने को शक्तिशाली बनाकर उसने मगध को पुनः गुप्त-अधिकार में कर लिया। इसके पश्चात् ही महासेनगुप्त ने कामरूप के राजा सुस्थितवर्मन् को पराजित किया था जिसके कारण इसका यश लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) के किनारे तक गाया जाता था। इस युद्ध का वर्णन अफसाद के लेख में मिलता है। पूर्व विद्वानों के कथनानुसार यदि महासेनगुप्त मालवा का राजा था तथा मगध का सर्वप्रथम शासक उसका पुत्र माधव-गुप्त हुआ, तो यह सम्भव नहीं था कि दूसरों के राज्य से होकर महासेनगुप्त कामरूप के राजा को पराजित करता। इतना ही नहीं, प्रशस्तिकार के वर्णनानुसार महासेनगुप्त की कीर्ति का विस्तार अधिक प्रकट होता है। मालवा या मगध क्या, उसका यश लौहित्य तक फैला था। इन सब विवरणों से यही ज्ञात होता है कि पाँचवें राजा दामोदरगुप्त के मारे जाने पर थोड़े समय के लिए मगध मौखरियों के हाथ में था। इसके अतिरिक्त गुप्त-नरेश

---

१. अफसाद का लेख —फ्लीट नं० ४२।
२. देव बरनार्क का लेख—वही ४६।
३. मालवीय कामेमोरेशन वाल्यूम पृ० २६६।
४. बाँसखेड़ा ताम्रपत्र—ए० इ० भा० ४ पृ० २०८
५. हर्षचरित, उच्छ्वास ४।

सर्वदा मगध पर शासन करते रहे। महासेनगुप्त तो केवल अपनी रक्षा के निमित्त मालवा चला गया था। मौखरियों के पश्चात् पुनः मगध में गुप्त-शासन स्थिर करने का श्रेय महासेनगुप्त को है, जहाँ पर उसके उत्तराधिकारीगण राज्य करते रहे। अंत में इतना कहना आवश्यक मालूम होता है कि मगध के शासक होने के कारण ही पिछले गुप्तों का वर्णन 'मागध गुप्त' नाम से किया गया है।

मागध गुप्तों के नामकरण से ही पता लगता है कि ये मगध के शासक थे। मगध से ही इनका राज्य प्रारम्भ होता है। अतएव यह ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम ये गुप्त नरेश मगध के समीपवर्ती प्रदेशों पर शासन करते थे। अधिक समय तक इनका राज्य मगध के आसपास सीमित था परन्तु पीछे चलकर कुछ राजाओं ने गुप्त राज्य का विस्तार किया। चौथे राजा कुमार-गुप्त ने मौखरि नरेश ईशानवर्मा को जीतकर प्रयाग तक अपने अधिकार में कर लिया। यहीं पर इस राजा की अन्त्येष्टि क्रिया भी हुई थी। इसके पुत्र दामोदरगुप्त को मारकर सर्ववर्मन् मौखरि ने कुछ समय के लिए मगध पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था परन्तु महासेनगुप्त ने पूर्वी मालवा में स्थित होकर पुनः मगध को गुप्तों के हाथ में कर लिया। इसी ने कामरूप के राजा सुस्थितवर्मन् को परास्त किया जिससे ज्ञात होता है कि उस समय गुप्तों का प्रताप मालवा से कामरूप तक विस्तृत था।

राज्य-विस्तार

सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हर्ष की मृत्यु के कारण उत्तरी भारत में गुप्तों की तूती बोलती थी। इसका सब श्रेय मगध के आठवें राजा आदित्यसेन को है। इसका राज्य मगध से अंग तक विस्तृत था। इस कथन की पुष्टि इसके पटना, गया तथा भागलपुर जिलों में प्राप्त लेखों से होती है। एक लेख में इसे 'पृथ्वीपति' कहा गया है। परम भट्टारक महाराजाधिराज की महान् उपाधि से सूचना मिलती है कि इसका राज्य तथा प्रताप सुदूर देशों तक फैला था। मागध गुप्तों में आदित्यसेन प्रथम राजा है जिसने इस महान् पदवी को धारण किया था। वातापी के चालुक्य राजा विनयादित्य के केन्डुर प्लेट में आदित्यसेन के पुत्र देवगुप्त के लिए 'सकलोत्तरापथनाथ' पदवी का उल्लेख है। इससे प्रकट होता है कि देवगुप्त का राज्य समस्त उत्तर भारत पर नहीं तो पूर्वी प्रदेशों पर अवश्य फैला हुआ था। मागध गुप्तों के अंतिम नरेश जीवितगुप्त द्वितीय का एक लेख देव बरनार्क नामक ग्राम से मिला है, जिसके वर्णन से ज्ञात होता है कि इस राजा का विजयस्कन्धावार गोमती नदी के किनारे था। गौड़वहो के वर्णन से ज्ञात होता है कि कन्नौज के राजा यशोवर्मा ने मगधनाथ गौड़ाधिप को परास्त किया था। इस आधार पर यह ज्ञात होता है कि जीवितगुप्त द्वितीय गौड़ का भी शासक था[1]। यही नहीं, पूर्वी बंगाल (समतट) के शासकों ने भी इनकी अधीनता स्वीकार की थी[2]। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि जीवितगुप्त द्वितीय का राज्य बिहार से लेकर संयुक्त प्रांत के गोमती-तट तक और गौड़ प्रदेश तक विस्तृत था। इन कथनों का सारांश यही निकलता है कि

---

१. बसाक—हिस्ट्री आफ नार्दर्न ईस्टर्न इंडिया पृ० २०८।

२. वही पृ० १६३।

हर्षवर्धन से पहले गुप्तों का राज्य सीमित था परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् राज्य का विस्तार हुआ। मागध गुप्तों का राज्य पूर्वी भारतीय प्रदेशों पर रहा। इनके समय के अनेक लेखों, महान् पदवी (परम भट्टारक महाराजाधिराज) तथा चालुक्य लेख में 'सकलोत्तरापथनाथ' की उपाधि से उपर्युक्त कथन की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

मागध गुप्तों का वर्णन समाप्त करने से पूर्व इनका उत्तरी भारत के समकालीन शासकों के सम्बन्ध से परिचित होना उचित ज्ञात होता है। जिस समय गुप्त नरेश मागध में शासन करते थे उसी काल में अनेक स्वतंत्र राजा उत्तरी भारत में विद्यमान थे। इनमें मुख्य थानेश्वर के वर्धन, कन्नौज के मौखरि तथा कर्णसुवर्ण के गौड़ थे जिनसे मागध गुप्तों का भिन्न भिन्न प्रकार का सम्बन्ध था। राजनीति में अपने पक्ष को प्रबल करने के लिए दूसरे नरेशों से सम्बन्ध रखना आवश्यक होता है। यह सम्बन्ध या तो मित्रता के रूप में या वैवाहिक ढंग का हो। इसी कारण गुप्तों का सम्बन्ध राजनीति के विरुद्ध न था।

समकालीन राजाओं से सम्बन्ध

कन्नौज का मौखरि वंश तथा गुप्त वंश समकालीन था। प्रारम्भ में गुप्त नरेश शक्तिशाली राजा न थे। इनके विषय में कोई ऐतिहासिक घटनाएँ ज्ञात नहीं हैं। उस समय मौखरियों का बल बढ़ रहा था अतएव गुप्तों ने इनसे सम्बन्ध करना आवश्यक समझा। मागध गुप्तों के दूसरे राजा ने अपनी बहन हर्षगुप्ता का ब्याह मौखरि राजा आदित्यवर्मन् से किया[1]। इस वैवाहिक सम्बन्ध के कारण दोनों वंशों में मित्रता स्थापित हो गई, परन्तु यह अधिक समय तक स्थायी न रह सकी। इन दोनों वंशजों में शत्रुता पैदा हो गई। ईशानवर्मा से कुमारगुप्त तथा सर्ववर्मन् से दामोदरगुप्त के युद्ध हुए। मालवा के शासक गुप्त-नामधारी देवगुप्त ने मौखरि वंश का नाश कर डाला। इसने गौड़ राजा शशांक से मिलकर मौखरियों के अंतिम नरेश ग्रहवर्मा को मार डाला। हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरान्त तत्कालीन मौखरि प्रधान ने मागध गुप्तों की अधीनता स्वीकार की। गुप्त नरेश आदित्यसेन ने अपनी पुत्री का विवाह इस मौखरि-अधिष्ठाता भोगवर्मन् से किया था[2]। ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यही सम्बन्ध ज्ञात है जो मागध गुप्तों और मौखरियों के मध्य में स्थापित हुआ था।

मौखरि

अफसाद के लेख में वर्णन मिलता है कि गुप्तों के पाँचवें राजा दामोदर गुप्त को सर्ववर्मन् मौखरि ने युद्ध में मार डाला तथा मगध को अपने अधिकार में कर लिया। इस विकट परिस्थिति से सुरक्षित रहने के लिए दामोदर गुप्त के पुत्र महासेनगुप्त ने मालवा को अपना निवासस्थान बनाया। वहीं बैठे बैठे वह अपने बल की वृद्धि करने का उपाय ढूँढने लगा। उस समय थानेश्वर में वर्धन् वंश का उदय हुआ था तथा उसकी उन्नति हो रही थी। अतएव महासेन गुप्त ने इनसे सम्बन्ध स्थापित करना अत्यन्त आवश्यक समझा। इस कारण इसने अपनी बहन

वर्धन

---

१. असीरगढ़ की मुद्रा (का० इ० इ० भा० ३ नं० ४७)

२. कीलहार्न—इ० ला० फ नार्दन इंडिया नं० ५४१।

महासेनगुप्त ने अपनी पुत्री का विवाह थानेश्वर के शासक आदित्यसेन से कर दिया[1]। इस सम्बन्ध को अन्य रूप से सुदृढ़ करने के लिए महासेनगुप्त ने अपने दो पुत्रों को थानेश्वर राज-दरबार में भेजा। माधवगुप्त उसी समय से हर्षवर्धन के साथ रहता था। माधव हर्ष के साथ विजय-यात्रा में भी रहा। सम्भवतः इसी मित्रता के फल-स्वरूप हर्ष ने अपने जीवन-काल में ही माधवगुप्त को मगध के राज्यसिंहासन पर बैठाया। महासेनगुप्त का तथा वर्धनों के साथ सम्बन्ध का परिणाम यह हुआ कि पुनः गुप्तों का अधिकार (मौखरियों के थोड़े दिन के अधिकार के उपरान्त) मगध पर स्थापित हो गया।

वर्धन-लेखों तथा बाणकृत हर्षचरित में एक मालवा के शासक देवगुप्त के नाम का उल्लेख मिलता है, जो महासेनगुप्त के उपरान्त मालवा में स्थित रहा। उसी समय

गौड़

वर्धनों, मौखरियों तथा मागध गुप्तों में वैवाहिक सम्बन्ध के कारण गहरी मित्रता स्थापित हो गई थी। देवगुप्त कुटिल प्रकृति का मनुष्य था। अतएव इन तीनों की मित्रता से वह जलता था। इस गाढ़ी मित्रता की भावी उन्नति पर विचार कर देवगुप्त इसके नाश करने का प्रयत्न करने लगा। उत्तरी भारत में वर्धन तथा मौखरि को छोड़कर गौड़ नरेश ही ऐसा राजा था जो शक्तिशाली होते हुए मौखरियों का शत्रु था[2]। अतएव देवगुप्त ने इस अवसर को हाथ से जाने नहीं दिया और शीघ्र ही गौड़-नरेश शशांक से मित्रता कर ली। शशांक भी अवसर ढूँढ़ता था। उसने देवगुप्त के साथ मौखरियों की राजधानी कन्नौज पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में मौखरियों का अंतिम राजा ग्रहवर्मा मारा गया। थानेश्वर के राजा राज्यवर्धन ने मौखरियों की सहायता की, देवगुप्त आदि को परास्त किया परन्तु गौड़ाधिपति शशांक ने उसे छल से मार डाला[3]। यद्यपि मागध गुप्तों का मुख्य वंशज देवगुप्त नहीं था जिसने गौड़ राजा शशांक से मित्रता की, परन्तु इस ऐतिहासिक घटना के कारण मौखरि वंश का नाश हुआ तथा वर्धनों की बहुत क्षति हुई। इस घटना के विशेष महत्त्व के कारण इसका वर्णन इस स्थान पर आवश्यक प्रतीत हुआ।

मागध गुप्त तथा समकालीन राजाओं से सम्बन्ध के वर्णन के साथ इन गुप्त राजाओं का विवरण भी समाप्त हो है; परन्तु इन गुप्तों के कुछ विशेष कार्यों पर विचार करना भी

विशेष कार्य

समुचित प्रतीत होता है। गुप्त-सम्राटों के सदृश मागध गुप्त नरेश सर्व-गुण-सम्पन्न नहीं थे। परन्तु इनमें गुणों का सर्वथा अभाव भी नहीं था। अफसाद के लेख में सब राजाओं का गुणगान तथा वीरता का वर्णन मिलता है; लेकिन उनके समय की प्रामाणिक ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख नहीं मिलता। इनके पाँचवें राजा दामोदरगुप्त के अग्रहार दान का वर्णन मिलता है।

---

१. बाँसखेड़ा का ताम्रपत्र (ए० इ० भा० ४ पृ० २०८)।

२. मौखरियों के चौथे राजा ईशानवर्मा ने गौड़ों को परास्त किया था। उसी समय से गौड़ों तथा मौखरियों में शत्रुता का वर्तव चला आ रहा था। इस युद्ध का वर्णन हरहा की प्रशस्ति (ए० इ० भा० १४ पृ० ११५) में मिलता है।

३. ई० हि० क्वा० १६३० नं० १।

गुप्तों के राजा आदित्यसेन ने अपने राज्य की बड़ी उन्नति की। आदित्यसेन के एक लेख में इसे पृथिवीपति कहा गया है। उस लेख के वर्णन से ज्ञात होता है कि आदित्यसेन ने अश्वमेध यज्ञ किया था। इसकी प्रामाणिकता की पुष्टि भट्टशाली महोदय, पूर्वी बंगाल से प्राप्त कुछ सिक्कों से, करते हैं। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये सिक्के किस राजा के समय के हैं। परन्तु लेख के आधार पर ज्ञात होता है कि आदित्यसेन ने अपनी विजय-यात्रा के अंत में अश्वमेध यज्ञ किया था।

आदित्यसेन वैष्णवधर्मावलम्बी था। उसने विष्णु के मंदिर बनवाये। इसकी माता तथा पत्नी सार्वजनिक कार्य में लगी रहती थी। इन्होंने जनता के उपकार के लिए तालाब तथा धर्मशालाएँ बनवाई। इसके वंशज जीवितगुप्त द्वितीय ने भी भूमि अग्रहार दान में दी। गोमती-तट पर उसका विजय-स्कंधावार था। उपर्युक्त विवेचनों में मागध गुप्तों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। तदनन्तर पृथक् पृथक् राजाओं का चरित्र चित्रण किया जायगा। इनके चरित्र-वर्णन के लिए पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। परन्तु इस थोड़ी सी सामग्री के आधार पर वर्णन करने का प्रयत्न किया जायगा।

१ कृष्णगुप्त

गुप्त-सम्राटों के शासन का अन्त होने के उपरान्त मगध में छोटे-छोटे गुप्त नामधारी नरेश राज्य करने लगे जिन्हें मागध गुप्त कहा गया है। इस वंश का आदिपुरुष कृष्णगुप्त था। इस राजा की वंश-परम्परा के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है, परन्तु इसके वंशजों के विषय में पर्याप्त बातें ज्ञात हैं। इसके वंशज मगध में शताब्दियों तक शासन करते रहे। कृष्णगुप्त का कोई भी लेख या सिक्का नहीं मिलता जिससे इसके विषय में प्रकाश पड़ता। कृष्णगुप्त का नाम गया ज़िले में स्थित अफसाद के लेख में सर्वप्रथम उल्लिखित मिलता है[१] जिससे यह मागध गुप्तों का आदिपुरुष कहा जाता है। इस राजा के विषय में ऐतिहासिक बातों का अभाव सा है। अफसादवाले लेख में इसकी वीरता का वर्णन मिलता है। कृष्णगुप्त सत्-चरित्र, विद्वान् तथा सरल राजा था। इसकी सेना में सहस्रों हाथी थे जिनसे इसने असख्य शत्रुओं को युद्ध में पराजित किया था। लेख के इस वर्णन के अतिरिक्त कृष्णगुप्त के किसी युद्ध का अन्यत्र संदर्भ तक नहीं मिलता। अतएव इसी लेख में वर्णित कृष्णगुप्त के चरित से संतोष करना परमावश्यक है।

२ हर्षगुप्त

कृष्णगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र हर्षगुप्त राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। अपने पिता के सदृश इसके शौर्य तथा पराक्रम का वर्णन उसी अफसाद के लेख में मिलता है। अफसाद की प्रशस्ति के अतिरिक्त इस राजा के विषय में कोई वर्णन नहीं मिलता। हर्षगुप्त कला में निपुण, सदाचारी तथा बलशाली नरेश था। शत्रुओं से युद्ध के कारण उसकी छाती में अनेकों चोटें आ गई थीं। इस युद्ध के शत्रुओं का नाम उल्लिखित

१. का० इ० इ० भा० ३ नं० ४२।

नहीं है। इन गुप्त नरेशों के समकालीन कन्नौज के मौखरि राजा थे जिनसे इसने वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। गुप्त तथा मौखरि वंश सर्वदा आपस में शत्रु बने रहे जिसका प्रमाण आगे दिया जायगा। अतएव अधिक संभव है कि हर्षगुप्त ने यह सम्बन्ध युद्ध के सन्धि-स्वरूप किया हो। गुप्त नरेश ने अपनी बहन हर्षगुप्ता का विवाह कन्नौज के दूसरे मौखरि राजा आदित्यवर्मन् के साथ किया था[१]। उपर्युक्त कथन के अतिरिक्त हर्षगुप्त के विषय में और कुछ ज्ञात नहीं है। न कोई लेख या सिक्के मिले हैं जिससे इसके इतिहास पर प्रकाश पड़े।

३ जीवितगुप्त प्रथम

हर्षगुप्त के पुत्र जीवितगुप्त प्रथम ने, पिता की मृत्यु के पश्चात्, शासन की बागडोर अपने हाथ में ली। अफसाद की प्रशस्ति में इसके प्रताप का वर्णन सुंदर शब्दों में मिलता है। गुप्तनरेश ने अनेक शत्रुओं को पराजित किया और घोर पर्वतों तथा कन्दराओं में छिपे हुए शत्रुओं को भी अछूता न छोड़ा यानी सभी को इसके सम्मुख नीचा होना पड़ा। जीवितगुप्त ने अपने राज्य-विस्तार के लिए भी प्रयत्न किया परन्तु इसके विजय के विषय में निश्चित बातें ज्ञात नहीं हैं। लेख के वर्णन से पता चलता है कि इस गुप्त नरेश ने कदली-वृक्षों से घिरे समुद्रतट के शत्रुओं को परास्त किया था। बहुत सम्भव है कि इस गुप्त नरेश ने समकालीन गौड़ राजाओं पर विजय पाई हो जो उस समय स्वतन्त्र राज्य स्थापित करना चाहते थे। इस वर्णन की उपस्थिति में ऐतिहासिक क्षेत्र में पर्याप्त प्रमाण के अभाव के कारण कोई निश्चित विचार स्थिर नहीं किया जा सकता। अतएव इन गुप्त राजाओं के शासन-काल के विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः छठीं शताब्दी के मध्यभाग में जीवितगुप्त प्रथम शासन करता था।

४ कुमारगुप्त

जीवितगुप्त प्रथम के शासन-काल के पश्चात् उसके पुत्र कुमारगुप्त ने मगध के सिंहासन को सुशोभित किया। मागध गुप्तों के चौथे राजा कुमारगुप्त का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इसने अपने पराक्रम से तत्कालीन कन्नौज के बलशाली नरेशों को हराया। शत्रुओं को परास्त कर इसने गुप्त-राज्य का विस्तार भी किया। कुमारगुप्त ने अपनी वीरता के कारण समकालीन राजा मौखरियों पर विजय पाई। मौखरि नरेश ईशानवर्मा की सेना को इसने मन्दर पर्वत के सदृश मथ डाला[२]। इस युद्ध में विजयलक्ष्मी के साथ-साथ प्रयाग तक राज्य-विस्तार भी किया। मौखरियों के महाराजाधिराज ईशानवर्मा का प्रताप हरहा की प्रशस्ति में वर्णित है[३]; परन्तु ऐसे महान् राजा के साथ कुमारगुप्त ने युद्ध की घोषणा क्यों की,

मौखरियों से युद्ध

१. अमीरगढ़ की ताम्र-मुद्रा (का० इ० इ० भा० ३ नं० ४७)

२. भीमः श्रीशानवर्मा क्षितिपतिशशिनः सैन्यदुग्धोदसिन्धुः
लक्ष्मीसम्प्राप्तिहेतुः सपदि विमथितो मन्दरीभूय येन।—अफसाद शिलालेख।

३. ए० इ० भा० १४ पृ० ११५।

इसके ऐतिहासिक कारण ज्ञात नहीं हैं। केवल अफसाद की प्रशस्ति में इसका वर्णन मिलता है। बहुत सम्भव है कि दोनों वंशों में परस्पर परम्परागत वैमनस्य के कारण युद्ध हुआ हो।

कुमारगुप्त के लेख या सिक्के के न मिलने के कारण इसकी शासन-तिथि निश्चित करने में कठिनाई पड़ती है। परन्तु इस गुप्त नरेश के समकालीन मौखरि राजा ईशानवर्मा की तिथि से कुमारगुप्त के शासन-काल का अनुमान किया जा सकता है। हरहा की प्रशस्ति में ईशानवर्मा की ई० स० ५५४ तिथि का उल्लेख मिलता है[1]। अतएव अनुमानतः कुमारगुप्त ईसा की छठीं शताब्दी के मध्यभाग में (लगभग ई० स० ५६०) शासन करता था।

राज्यकाल

अफसाद के शिलालेख[2] से प्रकट होता है कि गुप्त नरेश कुमारगुप्त का अंतिम संस्कार प्रयाग में हुआ[3]। कुमारगुप्त से पहले गुप्त-सीमा में प्रयाग का नाम नहीं मिलता। सम्भव है कि इसने शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर प्रयाग तक अपनी राज्य-सीमा में सम्मिलित कर लिया हो। जो हो, प्रयाग में मृत्यु होने के कारण यह स्पष्ट प्रकट होता है कि कुमारगुप्त का राज्य मगध से प्रयाग तक विस्तृत था। इन सब बातों के अतिरिक्त कुमारगुप्त के विषय में कोई अन्य बातें ज्ञात नहीं है। इसका नाम दूसरे लेखों में भी नहीं मिलता है।

राज्य-विस्तार

५ दामोदरगुप्त

कुमारगुप्त का पुत्र दामोदरगुप्त अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त गुप्त राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। दामोदरगुप्त के पिता के समय में ही गुप्तों तथा मौखरियों में घनघोर युद्ध हुआ था जिसमें कुमारगुप्त विजयी रहा। दामोदरगुप्त के शासन-काल में भी ऐसी ही अवस्था रही। इस गुप्त नरेश को मौखरि राजा ईशान वर्मा के पुत्र सर्ववर्मन् से युद्ध करना पड़ा। सर्ववर्मन् (मौखरेः) की सेना इतनी प्रबल थी कि उसने हूणों का नाश कर डाला था। दुर्भाग्य से इस युद्ध में गुप्तों को परास्त होना पड़ा तथा दामोदरगुप्त की मृत्यु युद्धक्षेत्र में हुई[4]। अफसाद के शिलालेख के अतिरिक्त दामोदरगुप्त के नाम तक का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। शिलालेख के इस वर्णन के प्रमाणस्वरूप किसी बात का उल्लेख नहीं है। परन्तु शाहाबाद के समीप देव-बरनार्क[5] की प्रशस्ति का वर्णन से सर्ववर्मन् मौखरि तथा दामोदरगुप्त के परस्पर युद्ध का अनुमान किया जा सकता है। उसमें वर्णित है कि गुप्त राजा बालादित्य (अवनति काल के छठे राजा) के अग्रहार

मौखरियों से युद्ध

१. एकादशातिरिक्तेषु षट्सु शातितविद्विषि। शतेषु शरदां पत्यौ भुवः श्रीशानवर्मणि।

२. का० इ० इ० भा० ३ नं० ४२।

३. शौर्यसत्यव्रतधरो यः प्रयागगतो धने। अम्भसीव करीषाग्नौ मग्नः स पुष्पपूजितः।

४. यो मौखरेः समितिषूद्धतहूणसैन्यवल्गद्घटाविघटयन्नुरुवारणानाम्॥
सम्मूर्च्छितः सुरवधूर्वरयन्ममेति तत्पाणिपङ्कजसुखस्पर्शाद्विबुद्धः॥

५. का० इ० इ० भा० ३ नं० ४६।

दान को सर्ववर्मन् मौखरि ने पुनः प्रमाणित किया[1]। इसका तात्पर्य यह निकलता है कि सर्ववर्मन् मौखरि ने कुछ काल के लिए शाहाबाद के समीप के प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। यह अवस्था उसी समय सम्भव थी जब गुप्तों को मौखरियों के हाथों परास्त होना पड़ा। दोनों वंशों में परंपरागत शत्रुता होने पर दामोदरगुप्त से पहले गुप्तों ने मौखरियों पर विजय प्राप्त की थी। कुमारगुप्त ने महाराजाधिराज मौखरि नरेश ईशानवर्मा की सेना को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला था। केवल दामोदरगुप्त के समय में मौखरियों ने गुप्तों को परास्त किया। अतएव देव-बरनार्क के लेख में उल्लिखित सर्ववर्मन् मौखरि के अधिकार से यही ज्ञात होता है कि इसने दामोदर गुप्त को परास्त कर मगध के पश्चिमी भाग शाहाबाद तक राज्य विस्तार कर लिया था। इसी वर्णन से अफसाद प्रशस्ति में वर्णित दामोदरगुप्त के युद्ध को प्रमाणित करते हैं।

दामोदरगुप्त वीर तथा पराक्रमी होने के साथ-साथ बहुत बड़ा दानी राजा था। उसने अपने शासन-काल में अनेक ब्राह्मणों की कन्याओं का शुभ विवाह स्वयं द्रव्य देकर सम्पादित करवाया। यही नहीं, उसने उन नव-युवतियों को अमूल्य आभूषण भी दिये। इसके अतिरिक्त राजा ने ब्राह्मण को बहुत ग्राम अग्रहार दान में दिये थे[2]। ऐसा वीर तथा दानी राजा चिरकाल तक शासन न कर सका—युद्धरूपी कराल काल के मुख में चला गया।

उदारता

६ महासेन गुप्त

युद्ध में दामोदर गुप्त के मारे जाने पर गुप्तों का शासन-प्रबंध उसके पुत्र महासेन गुप्त के हाथ में आया। महासेन गुप्त एक युद्धकुशल तथा प्रतापी नरेश था[3]। पहले कहा जा चुका है कि गुप्तों को परास्त कर सर्ववर्मन् मौखरि ने मगध के पश्चिमी भाग तक (शाहाबाद ज़िला) राज्य विस्तार कर लिया था। देव-बरनार्क की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि यह प्रदेश सर्ववर्मन् मौखरि के पुत्र अवन्तिवर्मन् के अधीन थोड़े समय तक अवश्य रहा[4]। ऐसी परिस्थिति तथा पीठ पर शत्रुओं के रहते हुए भी वीर महासेनगुप्त ने धीरता से काम लिया तथा अन्त में अपने पराक्रम के कारण वह विजयी भी रहा।

---

१. श्री बालादित्यदेवेन स्वशासनेन भागव श्री वरुणवासि भट्टारक...... परिव्राट्क भोजक हंसमिश्रस्य समयतया यथा कलाध्यासिभिश्न एवं परमेश्वर श्री सर्ववर्मन्

२. गुणवतिद्विजकन्यानां नानार्नकाख्यौवनवतीनाम्।
परिणायितवान्स नृपः शतं निसृष्टामहाराणाम्।
—अफसाद का शिलालेख (फ्लीट नं० ४२)।

३. श्रीमहासेनगुप्तोऽभूत्तस्मादीरामणी सुतः। सर्ववीरसमाजेषु लेभे यो धुरि वीरताम्।
—अफसाद की प्रशस्ति।

४. भोजक ऋषिमित्र एवं परमेश्वर श्री अवन्तिवर्मन् पूर्वदत्तक।

मगध की छोटी राज्य सीमा के अन्दर रहकर महासेनगुप्त ने अपने बल का परिचय अपने शत्रुओं को कराया। इस प्रतापी नरेश ने मौखरि राजा अवन्तिवर्मन् को परास्त

युद्ध तथा राज्यविस्तार

कर अपना राज्य मालवा तक विस्तृत किया। यद्यपि अवन्ति-वर्मन् के साथ युद्ध का कोई उल्लेख नहीं मिलता परन्तु वर्धन लेख[1] से ज्ञात होता है कि महासेन गुप्त का पुत्र देवगुप्त मालवा का शासक था तथा बाणकृत हर्षचरित में इस राजा (महासेनगुप्त) के लड़के माधवगुप्त आदि 'मालव-राजपुत्रौ' कहे गये हैं[2]। इन कारणों से महासेनगुप्त का मालवा का शासक होना स्वयं सिद्ध होता है। यदि यों कहा जाय कि अपने पिता के मारे जाने के कारण महासेनगुप्त ने मालवा में आकर शरण ली; उसने मौखरि नरेश अवन्तिवर्मा को परास्त कर मालवा तक राज्य-विस्तार नहीं किया, तो इसे मानने में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। अफसाद के शिलालेख के वर्णन से ज्ञात होता है कि महासेन गुप्त ने कामरूप के राजा सुस्थितवर्मन् को युद्ध में परास्त किया था। यदि शाहाबाद के समीपवर्ती प्रदेशों पर मौखरियों का शासन होता तो महासेन गुप्त कामरूप पर आक्रमण नहीं कर सकता था[3]। डा० बसाक का अनुमान है कि पुण्ड्रवर्धन् (उत्तरी बंगाल) भी हर्षवर्धन से पूर्व मागध गुप्तों के हाथ में था[4]। जो भी सत्य हो, इसके लिए कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। अतएव यह मानना युक्तिसंगत है कि मगध के सीमित राज्य में रहते अपनी वीरता के कारण महासेनगुप्त ने मौखरि नरेश अवन्तिवर्मन् को जीतकर गुप्त-राज्य का विस्तार मालवा तक किया था।

मालवा तक राज्य विस्तृत कर महासेन गुप्त ने संतोष नहीं किया प्रत्युत उसने मगध के पूर्वी भागों पर भी आक्रमण किया। अफसाद के लेख में वर्णन मिलता है कि

कामरूप पर आक्रमण

महासेनगुप्त ने सुस्थितवर्मन् नामक राजा पर विजय प्राप्त किया था[5]। यह सुस्थितवर्मन् कौन है, इस विषय में मतभेद है। मौखरि तथा गुप्तों में परम्परागत शत्रुता के कारण सुस्थितवर्मन् को कुछ लोग मौखरि नरेश मानते हैं। परन्तु निधानपुर के लेख[6] से स्पष्ट ज्ञात होता है कि सुस्थितवर्मन् आसाम (-कामरूप) के शासक भास्करवर्मन् का पिता था। अतएव इसे मौखरि नरेश कदापि नहीं माना जा सकता[7]। यह नरेश (भास्करवर्मन्) वर्धन के राजा हर्ष का समकालीन था। इस समकालीनता से ज्ञात होता है कि महासेनगुप्त ने छठीं शताब्दी

---

१. बाँसखेड़ा का ताम्रपत्र (ए० इ० भा० ४ पृ० २०८)

२ हर्षचरित उच्छ्वास ४; विनीतौ विक्रान्तावभिरूपौ मालवराजपुत्रौ भ्रातरौ भुजा इव मे शरीरादव्यतिरिक्तौ कुमारगुप्तमाधवगुप्तनामा .. ।

३. जे० बी० ओ० आर० एस० १९२८।

४. बसाक—हिस्ट्री आफ़ नार्दर्न ईस्टर्न इंडिया पृ० १८८।

५. श्रीमत्सुस्थितवर्मयुद्धविजयश्लाघापदाङ्कं मुहुः।

६. ए० इ० भा० १२ पृ० ७०; भा० १९ पृ० ११५।

७. ज० श्री० रि० मद्रास भा० ८ पृ० २०१। —पाइरेस—दि मौखरि पृ० ९४।

के अंतिम भाग में सुस्थितवर्मन् पर विजय पाया होगा। इस प्रकार महासेनगुप्त का राज्य मालवा से लेकर कामरूप तक विस्तृत था। इसके प्रभाव के कारण इसकी कीर्ति लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) के तट तक गाई जाती थी[१]।

मालवा तक राज्य विस्तार करने के उपरान्त महासेनगुप्त ने मौखरियों का बल रोकने और अपने राज्य के सुदृढ़ बनाने के लिए दूसरे राजाओं से सम्बन्ध तथा मित्रता स्थापित करना परमावश्यक समझा। इसी कारण महासेनगुप्त ने थानेश्वर के शासक वर्धनों से मित्रता स्थापित की। वर्धन लेख से ज्ञात होता है कि इस गुप्त नरेश ने अपनी बहन महासेनगुप्ता का विवाह आदित्यवर्धन से किया[२]। इस सम्बन्ध को सुदृढ़ करने के लिए महासेनगुप्त ने अपने दोनों पुत्रों—कुमार व माधवगुप्त—को थानेश्वर राजदरबार में भेजा, जो थानेश्वर के राजकुमारों के साथ-साथ रहते थे। बाणकृत हर्षचरित में इसका वर्णन मिलता है तथा कुमार व माधव को 'मालवराजपुत्रौ' कहा गया है[३]। हर्षचरित के उल्लेख की पुष्टि अफसाद के शिलालेख से होती है जिसमें महासेनगुप्त के पुत्र माधवगुप्त को हर्ष का साथी बतलाया गया है[४]। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि मालव के राजा महासेनगुप्त ही हैं जिन्होंने वर्धनों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया था।

वर्धनों से सम्बन्ध

महासेनगुप्त बहुत ही नीतिनिपुण तथा साहसी राजा था। उसने अपनी नीति तथा वीरता के कारण मगध के छोटे राज्य का विस्तार किया और उसका प्रभाव प्रायः उत्तरी भारत में फैला था।

७ माधवगुप्त

महासेनगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र माधवगुप्त ही मगध का उत्तराधिकारी हुआ; परन्तु माधवगुप्त के समय में राजनैतिक स्थिति सर्वथा भिन्न हो गई थी। अतएव मगध का शासनकर्त्ता होने से पूर्व माधवगुप्त तथा तत्कालीन राजनैतिक अवस्था का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है।

यह पहले कहा जा चुका है कि महासेनगुप्त ने अपने दोनों पुत्रों माधवगुप्त आदि को थानेश्वर के राजा वर्धनों की राजसभा में भेज दिया था तथा वहाँ वे वर्धन राजकुमारों—हर्ष और राज्यवर्धन—के साथ रहते थे। इस कार्य से गुप्तवंशज देवगुप्त नामक कुमार अप्रसन्न होकर महासेनगुप्त से पृथक् हो गया। महासेनगुप्त की मृत्यु के पश्चात् देवगुप्त वर्धनों का शत्रु बन गया। महासेनगुप्त के शासन के पश्चात् उत्तरी भारत में वर्धनों का प्रताप फैला और उन राजाओं ने

देवगुप्त

१. लौहित्यस्य तटेषु शीतलतलेष्वूरुल्लनागद्रुमच्छायासुप्तविबुद्धसिद्धमिथुनैः स्फीतं यशो गीयते।—(अफसाद की प्रशस्ति)।

२. श्री आदित्यवर्धनः तस्य पुत्र तत्पादानुध्यातो श्री महासेनगुप्तादेव्यामुत्पन्नः।—बांसखेड़ा ताम्रपत्र (ए० इ० भा० ४ पृ० २०८); सोनपत मुद्रालेख (का० इ० इ० भा० ३ नं० ५२)।

३. बाण—हर्षचरित, उच्छ्वास ४।

४. श्रीहर्षदेवनिजसंगवाञ्छया च।—(अफसाद का शिलालेख)।

एक वर्धन-साम्राज्य स्थापित कर लिया। इस परिस्थिति में गुप्तों को थानेश्वर-राजा के अधीन होना पड़ा तथा इनकी गणना स्वतंत्र राजाओं में नहीं की जा सकती। वर्धनों ने कन्नौज के मौखरियों से मित्रता स्थापित की। थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन ने अपनी पुत्री का विवाह मौखरि नरेश ग्रहवर्मा के साथ किया। गुप्तों तथा मौखरि वंश में परम्परागत शत्रुता होने पर भी थानेश्वर के दरबार में रहने व हर्ष का मित्र होने के कारण माधवगुप्त ने इस *मौखरि और वर्धन संबंध का विरोध नहीं किया।* परन्तु देवगुप्त कब इसको सहन कर सकता था, अतएव उसने बदला लेने की प्रतिज्ञा की।

मागध गुप्तों की (अफसाद[1] व देव-बरनार्क[2] लेखों में उल्लिखित) वंशावली में देवगुप्त का नाम नहीं मिलता, अतएव देवगुप्त का स्थान इस वंशवृक्ष में निर्धारित करना कठिन ज्ञात होता है। परंतु वर्धन लेखों[3] तथा बाणकृत हर्ष-चरित[4] में देवगुप्त का उल्लेख मिलता है। इस आधार पर यह निश्चित है कि महासेनगुप्त के पश्चात् देवगुप्त मालवा का शासक बना रहा और माधवगुप्त थानेश्वर दरबार में रहता था। वहीं से देवगुप्त मौखरि वंश को नष्ट करने का प्रयत्न करने लगा। देवगुप्त के समकालीन मौखरि राजा ग्रहवर्मा के प्रपितामह ईशानवर्मा के समय में ही बंगाल के शासक गौड़ों को परास्त होना पड़ा था[5], इसलिए उसी समय से मौखरि तथा गौड़ वंशों में शत्रुता चली आ रही थी। इस शत्रुता से लाभ उठाकर देवगुप्त ने गौड़ के शासक शशांक से मित्रता की तथा मौखरियों का नाश करने के लिए उसे बुलावा भेजा। बाण के वर्णन से ज्ञात होता है कि प्रभाकरवर्धन की मृत्यु होते ही मालवा के राजा (देवगुप्त) ने मौखरि राजा ग्रहवर्मा को मार डाला तथा उसकी स्त्री राज्यश्री को कारागार में बन्द कर दिया[6]। मौखरि नरेश ग्रहवर्मा की मृत्यु का दुःखद समाचार जब थानेश्वर पहुँचा तो हर्षवर्धन के जेठे भ्राता राज्यवर्धन ने मालवराज पर आक्रमण किया और कन्नौज के शत्रुओं को परास्त किया[7]। परन्तु इस विजय के बाद भी राज्यवर्धन सकुशल न रह सका। वर्धनों के शत्रु गौड़ाधिपति

देवगुप्त का द्वेषभाव

---

१. का० इ० इ० भा० ३ नं० ४२।

२. वही नं० ४६।

३. बाँसखेड़ा का ताम्रपत्र (ए० इ० भा० ४ पृ० २०८)

४. हर्षचरित—उच्छ्वास ६।

५. कृत्वा चायति मोचितस्थलभुवो गौडान्समुद्राश्रयान्‌ध्यासिष्ट नतक्षितीशचरणः सिंहासनं यो जिती।

—हरहा का लेख (ए० इ० भा० १४ पृ० ११५)

६. यस्मिन्नहनि अवनिपतिरुपरत इत्यभूद्वार्ता तस्मिन्नेव देवो ग्रहवर्म्मा दुरात्मना मालवराजेन जीवलोकमात्मनः सुकृतेन त्याजितः। भर्तृदारिकापि राज्यश्री कालायसनिगडचुम्बितचरणचौराङ्गना इव संयता कान्यकुब्जे कारायां निक्षिप्ता। — हर्षचरित उ० ६।

७. राजानो युधि दुष्टवाजिन इव श्रीदेवगुप्तादयः कृत्वा येन कशाप्रहारविमुखाः सर्वे समं संयताः। उत्खाय द्विषतो विजित्य वसुधां कृत्वा प्रजानां प्रियः प्राणानुज्झितवानरातिभवने सत्यानुरोधेन यः॥—बाँसखेड़ा ताम्रपत्र।

शशांक ने इसका वध कर डाला[1]। इन सब वर्णनों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि देवगुप्त अपनी प्रतिज्ञा को सफल बना सका और मौखरि वंश सर्वदा के लिए लुप्त हो गया।

देवगुप्त के जीवन-वृत्तांत से पता चलता है कि वह एक नीच प्रकृति का मनुष्य था[2]। वह दुष्ट स्वभाव का होते हुए द्वेषी राजा था। उसे वर्धनों की उन्नति से ईर्ष्या हो गई थी अतएव उसने गौड़ के राजा शशांक के साथ मौखरि वंश का नाश किया तथा षड्यन्त्र करके राज्यवर्धन की हत्या करवाई। वर्धन लेखों तथा हर्षचरित के उल्लेख के अतिरिक्त इसके नाम का उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता।

माधव व हर्ष

इन सब राजनैतिक परिस्थितियों में भी माधवगुप्त ने हर्ष का साथ नहीं त्यागा। राज्यवर्धन के मारे जाने तथा अपनी बहन राज्यश्री के लोप होने पर वर्धन महाराजाधिराज हर्षदेव ने अपने कुल के शत्रुओं पर आक्रमण किया तथा विजयलक्ष्मी सर्वत्र इसी के हाथ आई। इस विजय-यात्रा में माधव गुप्त ने हर्ष के साथ सर्वदा सहयोग किया तथा हर्षवर्धन उत्तरी भारत में एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित करने में सफल हुआ। हर्ष की माधवगुप्त पर विशेष कृपादृष्टि थी। अतएव विजययात्रा के समाप्त होने पर हर्ष ने माधवगुप्त को मगध के राज्य-सिंहासन पर बिठाया। अफसाद की प्रशस्ति के वर्णनानुसार महासेनगुप्त का पुत्र माधवगुप्त ही अपने पिता के पश्चात् मगध का राजा हुआ।

मागध का शासक

बहुत सम्भव है कि मित्रता के कारण हर्ष ने माधवगुप्त को अपने साम्राज्य के रक्षार्थ मगध का प्रतिनिधित्व दिया हो। ऐसी अवस्था में अपने पूर्व वंशजों के सदृश माधवगुप्त स्वतंत्र शासक नहीं था परन्तु वर्धन सम्राट् की संरक्षकता में शासन करता था।

माधव के गुण

अफसाद शिलालेख में माधवगुप्त के विस्तृत गुणगान तथा प्रताप का वर्णन मिलता है परन्तु यह सब कार्य माधव ने हर्ष के साथ सम्पादन किया होगा। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि माधवगुप्त बहुत बड़ा वीर, यशस्वी तथा त्यागी राजा था। यह गुणी होते हुए भी युद्ध में सर्व अग्रणी योद्धा था[3]। इसने बहुत बलवान् शत्रुओ को परास्त कर यश प्राप्त किया था[4]। इन सब वर्णनों से प्रकट होता है कि माधवगुप्त किसी प्रकार से भी भयभीत होकर या बलहीन होने के कारण से वर्धनों की छत्रछाया के अन्दर राज्य नहीं करता था परन्तु हर्षदेव से गाढ़ी मित्रता के कारण ही[5] उसने हर्ष के कहने पर मगध के सिंहासन को सुशोभित किया।

---

१. इ० हि० क्वा० मा० ८ पृ० ६—११।

२. दुरात्मना मालवराजेन हर्षच० उ० ६—। दुष्टवाजिन इव—बासखेड़ा ताम्रपत्र।

३. श्री माधवगुप्तोऽभून्माधव इव विक्रमैकरसः,— गुस्मृतो धुरि रणे श्लाघावतामग्रणी, सं.जन्यस्य निधानमर्थनिचय त्यागोद्धुराणां वरः।

४. आजौ मया विनिहता बलिनो द्विषन्तः कृत्य न मेऽस्त्यपरमित्यवधार्य वीरः।

५. श्रीहर्षदेवनिजसङ्गमवाञ्छया च। —अफसाद की प्रशस्ति (फ्लीट नं० ४२)

माधवगुप्त का शासन-काल स्थिर करने के लिए वर्धन के राजा हर्षदेव की समकालीनता के अतिरिक्त कोई ऐतिहासिक बातें उपलब्ध नहीं हैं। हर्ष की शासन-

शासन-काल

अवधि ई० स० ६०६-६४७ तक मानी जाती है, अतएव उसी समय के लगभग माधव की भी अवधि समाप्त हो गई होगी। इस आधार पर यह पता चलता है कि माधवगुप्त का शासन ईसा की सातवीं शताब्दी के मध्य भाग तक अवश्य समाप्त हो गया होगा।

८ आदित्यसेन

माधवगुप्त के पश्चात् उसके पुत्र आदित्यसेन ने मगध के राजसिंहासन को सुशोभित किया। सातवीं शताब्दी के मध्यभाग में वर्धन के महाराजाधिराज हर्षदेव की मृत्यु होने पर उत्तरी भारत में कोई भी दूसरा बलशाली नरेश न था जो अपना प्रभुत्व स्थापित करता; केवल गुप्तों में राजा आदित्यसेन था जिसने इस सुअवसर से लाभ उठाया। इसका पिता माधवगुप्त, हर्ष की संरक्षकता में, मगध पर शासन करता था परन्तु उसके बाद पुनः गुप्त-नरेश स्वतंत्र थे। इस राजनैतिक परिवर्तन और अपने बल के कारण आदित्यसेन ने एक विस्तृत राज्य स्थापित किया तथा पुनः प्राचीन गुप्त सम्राटों का अनुकरण किया।

आदित्यसेन के शासन-काल के अनेक लेख मिले हैं जिनसे उसका समय स्थिर

लेख

करने में बहुत सहायता मिलती है। इन्हीं लेखों के आधार पर उसके शासन की अवधि की अन्य ऐतिहासिक घटनाएँ ज्ञात होती हैं।

(१) अफसाद का शिलालेख[1]

मागध गुप्तों का इतिहास जानने के लिए अफसाद शिलालेख से अधिक कोई भी लेख महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह लेख पर्याप्त रूप से बड़ा है। इसी लेख के द्वारा आदित्यसेन से पूर्व की गुप्त वंशावली ज्ञात होती है। इस लेख के अभाव से मागध गुप्तों की वंशावली से परिचित होना असम्भव हो जायगा। इसकी तिथि ज्ञात नहीं है। यह लेख गया ज़िले के अन्तर्गत अफसाद नामक ग्राम से मिला था। इसमें आदित्यसेन की माता द्वारा निर्माणित धर्मशाला तथा उसकी स्त्री द्वारा तालाब खुदवाने का वर्णन मिलता है। इन सब कारणों से इस लेख की अधिक महत्ता है। आदित्यसेन का यह सबसे प्रथम लेख है।

(२) शाहपुर का लेख[2]

आदित्यसेन के समय का यह दूसरा लेख है। इसकी तिथि हर्ष-संवत् में उल्लिखित है जो ६६ है। यह लेख सूर्यप्रतिमा के अधोभाग में खुदा है। इस मूर्ति को सालक्षय नामक व्यक्ति ने स्थापित किया था। गुप्त राजा आदित्यसेन के शासन-काल का यही एक लेख तिथियुक्त है जिससे उसका काल निर्धारित किया जाता है। पटना ज़िले के बिहार से नौ मील दक्षिण शाहपुर ग्राम से यह लेख प्राप्त हुआ था।

---

१. का० इ० इ० भा० ३ नं० ४२।

२. वही नं० ४३।

लेखों में इसके लिए महान् पदवियों 'परमभट्टारक महाराजाधिराज[१]' तथा 'पृथिवीपति[२]' का प्रयोग किया गया है। इसके लेख गया, पटना तथा भागलपुर आदि स्थानों में मिले हैं, जिससे प्रकट होता है कि इसके समय में गुप्त राज्य ने विस्तृत रूप धारण कर लिया था। गुप्त-साम्राज्य के नष्ट होने पर मागध गुप्तों में यही राजा हुआ जिसका प्रताप दूर तक फैला और उसने पुन: बड़ी पदवी धारण की। लोकनाथ के ताम्रपत्र से प्रकट होता है कि उसकी पदवी कुमारामात्य थी[३]।

अश्वमेध यज्ञ

प्राचीन प्रणाली के अनुसार आदित्यसेन ने अपने विजय के उपलक्ष में अश्वमेध यज्ञ किया था। इसके एक लेख में इस यज्ञ का वर्णन मिलता है[४] और दक्षिणा में विपुल धन तथा अगणित हाथी-घोड़ों का दान भी वर्णित है। लेख में वर्णित अश्वमेध यज्ञ की पुष्टि कुछ विद्वान् सिक्कों से भी करते हैं। पूर्वी बङ्गाल में कुछ सोने के सिक्के मिले हैं जिनकी बनावट गुप्त ढङ्ग की अवश्य है परन्तु वे बहुत ही अशिष्ट रूप (Rude) के हैं। इन पर अंकित मूर्ति को देखने से घोड़े के सिर की आकृति मालूम पड़ती है। इन सिक्कों पर कुछ पढ़ा नहीं जाता। ये सिक्के किस राजा के समय के हैं, यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु भट्टशाली महोदय का कथन है कि ये सिक्के गुप्त राजा आदित्यसेन के हैं। उनके कथनानुसार सिक्कों पर अंकित घोड़े के सिर की मूर्ति अश्वमेध यज्ञ की द्योतक है। इस प्रकार लेख में वर्णित अश्वमेध यज्ञ की प्रामाणिकता इन सिक्कों से की जाती है[५]। भट्टशाली महोदय का कथन कहाँ तक सत्य है, इसका विचार ऐतिहासिक विद्वानों पर निर्भर है। लेख के आधार पर आदित्यसेन द्वारा अश्वमेध यज्ञ करने की प्रामाणिकता में कोई आपत्ति नहीं है।

सार्वजनिक कार्य

इस प्रतापी राजा के शासन-काल में गुप्त-राज्य की बहुत उन्नति हुई। राजा से लेकर राजपरिवार तक समस्त व्यक्ति सार्वजनिक उपकारिता के काम में संलग्न रहते थे। इस यशस्वी राजा आदित्यसेन ने अपने देव भगवान् विष्णु का मंदिर बनवाकर अपने धार्मिक प्रेम का परिचय दिया था[६]। इसकी उन्नत विचारशीला वृद्धा माता श्रीमती देवी ने धार्मिक शिक्षा के लिए एक मठ बनवाया था[७]। आदित्यसेन की साध्वी पत्नी श्री कोणदेवी सर्वदा उपकार-कार्य में लीन

---

१. मन्दर का लेख (का० इ० इ० भा० ३ नं० ४४)।

२. वही (फ्लीट—पृ० २१३ नोट)।

३. ए० इ० भा० १५ नं० १६ पृ० ३०१-१५ (टिपरा का ताम्रपत्र हर्ष स० ४४)।

४. वही।

५. जे० ए० एस० बी०। (न्यूमिसमेटिक सप्लिमेंट)

६. तेनेदं भवनोत्तमं क्षितिभुजा विष्णोः कृते कारितम्।—(अफसाद का लेख)

७. तज्जनन्या महादेव्या श्रीमत्या कारितो मठः। धार्मिकेभ्यः स्वयं दत्तो सुरलोकगृहोपमः।

—(अफसाद का लेख)

रहती थी। इसने जनता के कल्याण के निमित्त एक जलाशय खुदवाया जिसका पानी लोगों के पीने के काम में लाया जाता था[1]। इस प्रकार समस्त राजपरिवार जनता की भलाई तथा परोपकार में तन मन धन से लगा रहता था। ऐसे राजा की प्रजा का उन्नतिशील तथा विचारवान् होना स्वाभाविक ही है।

गुप्तनरेश आदित्यसेन ने अपने राज्य-विस्तार तथा प्रजा की वैभव-वृद्धि के साथ साथ प्राचीन वैदिक मार्ग का अवलम्बन किया। इसको आर्य संस्कृति से प्रेम था।

धर्म

गुप्त सम्राटों के सदृश इस राजा ने भागवतधर्म में अनुराग पैदा किया और यह वैष्णवधर्म का गाढ़ा अनुयायी हो गया। आदित्यसेन ने अपने उपास्यदेव भगवान विष्णु का मंदिर बनवाया था[2]। वैष्णव धर्मावलम्बी होने के कारण इसके वंशज जीवितगुप्त द्वितीय के लेख में आदित्यसेन के लिए 'परमभागवत' की उपाधि प्रयुक्त है[3]। मंदर पर्वत के समीप इस नरेश ने विष्णु के पूर्व अवतार वाराह की मूर्ति स्थापित की थी[4]। इन सब प्रमाणों के सम्मुख इस राजा को वैष्णवधर्म का अनुयायी मानने में तनिक भी सदेह नहीं है। मागध गुप्तों में केवल आदित्यसेन ही ऐसा राजा था जिसने गुप्त सम्राटों के समान वैष्णव धर्म स्वीकार किया। वैष्णव धर्मानुयायी होते हुए भी आदित्यसेन में धार्मिक सहिष्णुता थी। इसी के शासन-काल में सेनानायक सालपक्ष ने सूर्यदेव की प्रतिमा स्थापित की थी[5]।

आदित्यसेन वैदिक-मार्ग का अनुयायी तथा आर्य सभ्यता का प्रेमी राजा था। इसके राज्य-विस्तार से वीरता तथा पराक्रम का परिचय मिलता है। शत्रुओं का नाश

चरित

करने तथा धनुष आदि की कुशलता के कारण इसका यश बहुत ही बढ़ गया था[6]। अफसाद के शिलालेख में इसके प्रताप का वर्णन मिलता है। गुप्त-नरेश के लौकिक कार्य से इसके चरित की महत्ता प्रकट होती है। राजा के अतिरिक्त राजपरिवार में वृद्धा माता तथा साध्वी भार्या भी उपकार में संलग्न रहती थी। आदित्यसेन ने अपनी पुत्री का विवाह मौखरि भोगवर्मन् से किया था

---

१. येन खानितमद्भुतं सुपयसा पेपीयमानं जनैः। तस्यैव प्रियभार्यया नरपतेः श्रीकोणदेव्या सरः। —(अफसाद की प्रशस्ति)

परमभट्टारक महाराजाधिराज श्री आदित्यसेनदेवस्य परमभट्टारिका महादेवी श्री कोणदेवी पुष्करिणी कारिता — मन्दर का लेख (नं० ४४)

२. तेनेदं भवनोत्तमं क्षितिभुजा विष्णोः कृते कारितम्—(अफसाद का लेख नं० ४२)

३. श्री श्रीमत्यादुत्पन्नः परमभागवत श्रीआदित्यसेनदेव। देव बरनार्क का लेख।

(का० इ० इ० भा० ३ नं० ४६)

४. का० इ० इ० भा० ३ पृ० २१३ नोट।

५. शाहपुर का लेख (फ्लीट नं० ४३)

६. गा.........भागतमधिग्य सत्यमाम यशः श्लाघ्यं सर्वधनुष्मतां पुर इति श्लाघां परां बिभ्रती। ....श सकलरिपुबलव्यंमदैतुगं वीराशिरिश्मोत्स्वातधानथ्रमजनितजडोऽस्पूर्जितस्वप्रतापः।

—(अफसाद की प्रशस्ति)

इस प्रकार आदित्यसेन का शासन-प्रबंध [illegible] का परिणाम हुआ कि आदित्यसेन [illegible]

९ देवगुप्त द्वितीय

[illegible] के शासन के पश्चात् उसके पुत्र देवगुप्त ने शासन की बागडोर अपने [illegible] इस गुप्त-नरेश का नाम तथा इसके वंशजों की नामावली देव-बर-[illegible] के लेख में उल्लिखित है[2]। इस लेख में इसके उल्लेख के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं इसका नाम नहीं मिलता। अतएव इसके विषय में कुछ अधिक ऐतिहासिक बातें उपलब्ध नहीं हैं।

[illegible] आदित्यसेन के सदृश देवगुप्त ने भी परमभट्टारक महाराजाधिराज [illegible] की उपाधि धारण की थी[3]। इसके शासन-काल में एक विशेष घटना का उल्लेख मिलता है। देवगुप्त के समकालीन पश्चिम में वातापी के चालुक्य नरेश शासन करते थे। ई० स० ६८० के लगभग चालुक्य राजा विनयादित्य के द्वारा 'सकलोत्तरापथ नाथ' पदवी-धारी उत्तरी-भारत के नरेश के पराजय का वर्णन मिलता है[5]। शाहपुर के लेख से ई० स० ६७२ में आदित्यसेन का शासन प्रकट होता है। अतएव उसका पुत्र देवगुप्त ई० स० ६८० के लगभग उत्तरी भारत में अवश्य शासन करता होगा। इससे प्रकट होता है कि विनयादित्य ने देवगुप्त पर विजय पाई थी। अतएव 'सकलोत्तरापथनाथ' की उपाधि गुप्तनरेश देवगुप्त के लिए ही प्रयुक्त है।

सातवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत में भ्रमण करनेवाले चीन के यात्री ह्यूइलुन ने पूर्वी भारत में शासन करनेवाले राजा देववर्मन् का उल्लेख किया है[6]। समय के विचार से विद्वानों ने इस देववर्मन् की समता मागध राजा देवगुप्त से की है। इस यात्री तथा चालुक्य लेख के अतिरिक्त देवगुप्त का कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

वातापी चालुक्य नरेश विनयादित्य की समकालीनता से प्रकट होता है कि गुप्त राजा देवगुप्त ई० स० ६८० के लगभग शासन करता था। देवगुप्त की लम्बी उपाधियों से प्रकट होता है कि आदित्यसेन के समान इसका भी प्रभाव सर्वत्र फैला था। 'सकलोत्तरापथनाथ' (सब उत्तर दिशा के स्वामी) से सूचना मिलती है कि देवगुप्त का प्रताप सारे उत्तरी भारत में विस्तृत था। देव-बरनार्क

राज्य-काल

१. इ० ए० भा० ६ पृ० १७८ (पद्य १३)।

२. मालवा के राजा देवगुप्त से भिन्नता दिखलाने के लिए इस राजा को देवगुप्त द्वितीय कहा गया है।

३. का० इ० इ० भा० ३ नं० ४६।

४. 'श्रीआदित्यसेन देव तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो परमभट्टारिकायां राज्ञां महादेव्यां श्रीकोणदेव्या मुत्पन्नः परममाहेश्वर परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वरदेवगुप्तदेव'। —देव-बरनार्क का लेख।

५. केन्दूर प्लेट, बम्बई गजेटियर जि० १ भा० २ पृ० १८९।

६. बील—लाइफ आफ् ह्वेनसाँग भूमिका पृ० ३६-३७।

...प्त को 'परम माहेश्वर' कहा गया है[1]। अतएव यह प्रकट होता है कि ...उपासक था।

१० विष्णु गुप्त

देव-बरनार्क के लेख से ज्ञात होता है कि देवगुप्त का पुत्र विष्णु गुप्त राज्य का उत्तराधिकारी हुआ[2]। इस लेख से विष्णुगुप्त के नामोल्लेख के अतिरिक्त कुछ भी अन्य ऐतिहासिक बातें ज्ञात नहीं होतीं। अन्यत्र भी इसका कोई लेख नहीं मिलता।

गुप्तों के सोने के सिक्कों में कुछ भद्दी बनावट के सिक्के भी हैं। उनमें एक पर 'विष्णुगुप्त' तथा 'चन्द्रादित्य' लिखा मिलता है[3]। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि ये सिक्के इसी विष्णुगुप्त के हैं। सम्भव है कि 'चन्द्रादित्य' उसकी उपाधि हो जिसका उल्लेख लेख में नहीं पाया जाता।

विष्णुगुप्त के सिक्के

देव-बरनार्क के लेख में विष्णुगुप्त के लिए 'परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर' पदवी मिलती है। यदि उपर्युक्त सिक्के भी इसी विष्णुगुप्त के हों तो इस राजा के प्रभावशाली होने की सूचना मिलती है। उसी लेख में उसके लिए 'परम माहेश्वर' की उपाधि दी गई है। इससे प्रकट होता है कि अपने पिता के सदृश विष्णुगुप्त भी शैव था[4]।

उपाधि

११ जीवित गुप्त द्वितीय

यह मागध गुप्तों का अन्तिम राजा था जो अपने पिता विष्णुगुप्त के पश्चात् राजसिंहासन पर बैठा। इसके शासन के पश्चात् मागधगुप्तों का वंश नष्ट हो गया, क्योंकि इसके बाद किसी भी गुप्त राजा का शासन मगध में ज्ञात नहीं है। इसके जीवन-सम्बन्धी किसी विशेष घटना का उल्लेख नहीं मिलता। इसका एक लेख मिला है।

जीवितगुप्त द्वितीय का एक लेख आरा (बिहार प्रांत) के समीप देव-बरनार्क ग्राम से प्राप्त हुआ है[5]। इसमें तिथि का उल्लेख नहीं मिलता। लेख में राजा के लिए महान् उपाधि 'परम भट्टारक महाराजाधिराज' का प्रयोग मिलता है। लेख प्राचीन अग्रहार दान लिखने की शैली में लिखा गया है। यह एक बहुत बड़ा लेख विष्णु-मंदिर के द्वार पर उत्कीर्ण है। इसके वर्णन से मालूम होता है कि जीवितगुप्त द्वितीय का विजय-स्कन्धावार गोमती के किनारे

लेख

---

१. 'परम माहेश्वर परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वरदेवगुप्त देव'—का० इ० इ० भा० ३ नं० ४६।

२. श्री देवगुप्त देव तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो......श्री विष्णुगुप्तदेव।

३. एलन—गुप्त क्वायन पृ० १४५।

४. परममाहेश्वर परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री विष्णुगुप्त देव
—का० इ० इ० भा० ३ नं० ४६।

५. का० इ० इ० भा० ३ नं० ४६।

था। गुप्त राजा ने इस लेख द्वारा पूर्व दान देनेवाले बालादित्य तथा सर्ववर्मन् मौखरि के अग्रहार दान का अनुमोदन किया है[१]।

चरित्र

देव-वरनार्क लेख के वर्णन से जीवितगुप्त उदारचरित्र का राजा ज्ञात होता है। अग्रहार दान के अनुमोदन से राजा के उच्च विचार तथा दयाभाव का परिचय मिलता है। 'परम भट्टारक महाराजाधिराज' उपाधि से राजा जीवितगुप्त के प्रतापी तथा शक्तिशाली होने की सूचना मिलती है।

राज्य व शासन काल

जीवितगुप्त ने गोमती तट पर अपना विजयस्कन्धावार स्थापित किया था। अतः लेख के वर्णन तथा इसके प्राप्ति-स्थान से ज्ञात होता है कि जीवितगुप्त द्वितीय विहार से लेकर संयुक्त प्रान्त के गोमती-किनारे तक शासन करता था। यही इसके राज्य का विस्तार प्रकट होता है। मागधगुप्तों के अन्य राजाओं की समकालीनता तथा आदित्यसेन की तिथि के आधार पर यह विचार किया जा चुका है कि मागध गुप्तों का शासनकाल सम्भवतः आठवीं शताब्दी के मध्य भाग तक है। किसी प्रमाण के अभाव में जीवितगुप्त द्वितीय की शासन-अवधि निश्चित रूप से नहीं बतलाई जा सकती।

मागध गुप्तों का अंत

मागध गुप्तों का वर्णन समाप्त होने पर यह जानना परमावश्यक है कि इस वंश का नाश कैसे हुआ। इनके उपरान्त मगध का कौन राजा था? प्राकृत ग्रंथ वाक्पतिराज कृत 'गौड़वहो' से मागध गुप्तों के अंत का कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। इसके वर्णन से पता चलता है कि आठवीं शताब्दी के मध्य भाग में गौड़ राजा दो उपाधियों—गौड़ाधिप तथा मगधनाथ—से विभूषित था[२]। अतएव यह स्पष्ट प्रकट होता है कि आठवीं शताब्दी में मगध-राज्य में गौड़-राज्य भी सम्मिलित हो गया था। इस कारण यह कहना समुचित है कि मागधगुप्तों का अंत कन्नौज के राजा यशोवर्मा के हाथ हुआ। गौड़वहो के वर्णन से ज्ञात होता है कि मगधनरेश ने अपने विजेता को अपना राज्य समर्पण कर दिया[३]। विद्वानों का अनुमान है कि मागधगुप्तों के अंतिम राजा जीवितगुप्त द्वितीय ने अपना राज्य यशोधर्मा को समर्पण कर दिया। विद्वानों का अनुमान है कि मागधगुप्तों का अंतिम राजा जीवितगुप्त द्वितीय यशोवर्मा के हाथों मारा गया। सम्भवतः यशोवर्मा ने आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मागध गुप्तों का अन्त कर डाला।

---

१. परमेश्वर श्री बालादित्यदेवेन स्वशासनेन ..., परमेश्वर सर्ववर्मन्......महाराजाधिराज परमेश्वर शासनदानेन ....अनुमोदित।

२ बसाक—हिस्ट्री आफ् नार्दर्न ईस्टर्न इंडिया पृ० १३२।

३. गौड़वहो—पद्य ४१४-४१७ (बम्बई सीरीज नं० ३४)।

सो इह विमुह-रयरस्स भति मगहाहिवस्स विणियत्तो।
उवक्ष दण्डरमव सिदि कणाय थिवदो णरिन्दाए ।४१४
अहवि बलाअन्तं कवलि ऊण मगहाहिवं मही-णाहो।
जाओ एत्ता सुरहिम्मि अनहि-वेला वणन्तम्मि ।४१७

गुप्त साम्राज्य के नष्ट हो जाने पर उत्तरी भारत में अनेक स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गये थे। उस गुप्त वंश में से कुछ बचे हुए व्यक्तियों ने यत्र तत्र अपना छोटा प्रदेश स्थापित कर लिया। उनमें से मुख्य वंश मगध का था जिसका सविस्तृत विवरण ऊपर दिया गया है। मध्य प्रदेश तथा बम्बई प्रांत में भी कुछ गुप्त नामधारी राजाओं का उल्लेख मिलता है। इससे यह प्रकट होता है कि पूर्व गुप्तों की कठिन दुरवस्था में मध्य प्रदेश तथा बम्बई प्रांत में भी गुप्त जाकर निवास करने लगे। यद्यपि उनका विशेष वर्णन कहीं नहीं मिलता परन्तु कुछ संदर्भों के आधार पर उनके विषय में कुछ बातें ज्ञात होती हैं। बम्बई प्रांत के धारवाड़ में गुत्तल वंशी नरेश शासन करते थे। वे नरेश अपने को सोमवंशी तथा उज्जैन के राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के वंशज मानते हैं[1]। ऐसी अवस्था में यह ज्ञात होता है गुप्त वंशज किसी व्यक्ति ने धारवाड़ प्रदेश में अपना राज्य स्थापित किया तथा वहीं शीघ्र परिस्थिति के कारण वह गुत्तलवंशी कहलाया।

मध्यप्रदेश तथा बम्बई प्रान्त के अन्य गुप्त राजा

मध्यप्रदेश के रायपुर ज़िले के अंतर्गत सिरपुर नामक स्थान से एक लेख मिला है। यह प्रशस्ति महाशिव गुप्त की है। लेख के वर्णन से ज्ञात होता है कि ये राजा गुप्तवंशी थे तथा उसमें उनके चन्द्रवंशी होने का उल्लेख मिलता है[2]। इस लेख के आधार पर स्पष्ट पता चलता है कि गुप्त वंश के किसी राजकुमार ने वहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया जिसके वंश में महाशिवगुप्त था। इन सब कारणों से यह कहना न्याय-युक्त है कि बम्बई तथा मध्यप्रदेश से गुप्त अधिकार हटने पर भी कुछ गुप्त वंशजों ने अपनी स्थिति उन स्थानों में बनाये रक्खी जिससे उनके वंशज वहाँ राज्य करते रहे। डा० हीरालाल का कथन है कि मध्यप्रदेश के गुप्त लोगों ने सिरपुर में ही राज्य स्थापित किया परन्तु अन्त में विनितपुर (सोनपुर) में बस गये; जहाँ से उन लोगों ने उड़ीसा तथा तेलिंगाना के अधिक भागों पर शासन किया[3]। उनका अधिक विवरण नहीं मिलता जिससे उनका वंशवृक्ष तैयार किया जाय। इन कतिपय उल्लेखों के आधार पर उपर्युक्त मत निर्धारित किया गया है।

---

१. बम्बई गजेटियर जि० १ भा० २ पृ० ५७८ नोट ३।

२. सिरपुर का लेख (ए० इ० भा० ११ पृ० १९०)।

[आसीच्छशीव] भुवनाद्भुतभूतभूतिः रुद्भूत भूतपति (भक्तिसम) प्रभावः।
चन्द्रान्वयैकतिलकः खलु चन्द्रगुप्तः राजाख्यया पृथुगुणः प्रथितः पृथिव्याम्।

३. इन्सक्रपशन फ्राम सी० पी० ऐंड बरार भूमिका ७।

परिशिष्ट

गुप्त-संवत्

भारतीय ऐतिहासिक गवेषणा में विद्वानों को अमुक राजा वा राजवंश के काल-निर्णय में अत्यन्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। 'कब' और 'कहाँ' आदि प्रश्न ऐतिहासिक परिशीलन में प्रायः पूछे जाते हैं। भारत के भिन्न भिन्न प्रांतों में पूर्वकाल में अनेक संवत् प्रचलित हुए थे, जिन्हें विभिन्न समयों पर पृथक् पृथक् राजाओं ने स्थापित किया था। इन संवतों के आधार पर भारत का तिथि-क्रम युक्त शृंखला-बद्ध इतिहास लिखने में बड़ी सहायता मिली है। ईसा की चौथी शताब्दी से छठें तक गुप्त इतिहास की घटनाएँ काल क्रमानुसार निबद्ध करने में विद्वानों को कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। परन्तु गुप्त लेखों में 'गुप्त काल' और गुप्तवंश की राज-परम्परा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है जिससे काल-निर्णय में सरलता हो जाती है। अतएव गुप्त काल की प्रारम्भिक तिथि (गुप्त-संवत्) को निर्धारित करना समुचित प्रतीत होता है। यह संवत् (गुप्त-संवत्) किस राजा ने चलाया, इस विषय में लिखित प्रमाण अब तक नहीं मिला है।

प्रायः समस्त गुप्त लेखों में एक प्रकार की तिथि का उल्लेख मिलता है जिससे अमुक राजा की शासन-अवधि स्थिर की जाती है। सब तिथियों के अनुशीलन से यह प्रकट होता है कि तिथि का क्रम शनैः शनैः एक शासक से उसके उत्तराधिकारी के लेख में बढ़ता जाता है। गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के लेखों में ८८ या ९३ आदि तिथि उल्लिखित हैं[१], तो उसके पुत्र कुमारगुप्त प्रथम की प्रशस्तियों में ९६, ९८, ११७, १२९ आदि तिथियाँ मिलती हैं[२]। इन अंकों से यह तात्पर्य नहीं निकाला जा सकता कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ९३ वर्ष तक शासन किया तथा कुमार प्रथम १२९ वर्ष तक राज्य करता रहा। यदि इन अंकों पर विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि गुप्त सम्राट् किसी अमुक समय से काल-गणना करते थे। ये अंक यही सूचित करते हैं कि गुप्त नरेश ९३वें वर्ष तथा १२९वें वर्ष में शासन करते थे। अतएव उस समय को निश्चित करना परमावश्यक प्रतीत होता है।

---

१. श्री चन्द्रगुप्त राज्य संवत्सर ८८ (का० इ० इ० भा० ३ नं० ५, ७)

२. 'श्री कुमारगुप्तस्य अभिवर्धमान विजयराज्ये संवत्सरे षण्णवते' (वही नं० ८, १०, ११)

नोट—इसके विवरण में—गु० स०—गुप्त संवत्, श० का०—शक काल, मा० सं०—मालव-संवत्, वि०—विक्रमी तथा श०—शक के लिए प्रयोग किया गया है।

कतिपय लेखों तथा ग्यारहवीं शताब्दी के मुसलमान इतिहासज्ञ अलबेरूनी के वर्णन से स्पष्ट पता चलता है कि गुप्तों के नाम से किसी समय की गणना होती थी; जिसे 'गुप्त-काल' या 'गुप्त-संवत्' कहते हैं। इस कारण प्रतीत होता है कि लेखों की समस्त तिथियाँ इसी गुप्त-संवत् में दी गई हैं। गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ लेख में स्पष्ट रीति से उल्लेख मिलता है कि इस प्रशस्ति की तिथि 'गुप्त-काल' (गुप्त संवत्) में दी गई है।

गुप्त-संवत् का नामोल्लेख

संवत्सराणामधिके शते तु त्रिंशद्भिरन्यैरपि षड्भिरेव।
रात्रौ दिने प्रौष्ठपदस्य षष्ठे गुप्तप्रकाले गणनां विधाय[1] ॥

गुप्त नरेश कुमारगुप्त द्वितीय तथा बुधगुप्त के सारनाथवाले लेख में भी गुप्त-संवत् का नामोल्लेख मिलता है[2]।

'वर्षे शते गुप्तानां सचतुःपंचाशदुत्तरे भूमिं।
शासति कुमारगुप्ते मासे ज्येष्ठे द्वितीयायाम्'।
'गुप्तानां समतिक्रान्ते सप्तपंचाशदुत्तरे।
शते समानां पृथिवीं बुधगुप्ते प्रशासति' ॥

ईसा की दसवीं शताब्दी के मोरवि ताम्रपत्र में भी तिथि का उल्लेख गुप्त-संवत् में पाया जाता है। उस ताम्रपत्र में 'गौप्ते' शब्द से स्पष्ट प्रकट होता है कि गुप्त लोगों की भी कुछ काल-गणना अवश्य थी[3]।

'पञ्चाशीत्या युतेतीते समानां शतपञ्चके।
गौप्ते ददावदो नृपः सोपरागेर्कमण्डले' ॥

गुप्त सम्राटों के सामंत परिव्राजक महाराजाओं के लेखों में तिथि का उल्लेख 'गुप्तनृपराज्यभुक्तौ' के साथ मिलता है[4]। अतः यह ज्ञात होता है कि गुप्त-संवत् की अवश्य ही स्थिति थी जिस समय से गुप्तों की काल-गणना प्रारम्भ हुई।

ग्यारहवीं शताब्दी में महमूद ग़ज़नवी के साथ मुसलमान इतिहासज्ञ अलबेरूनी भारत में आया था। उसने भारत के अनेक विषयों का वर्णन अपनी पुस्तक में किया है। भारतीय संवतों की वार्ता को उसने अछूता नहीं छोड़ा; परन्तु अक्षरशः उसके वर्णन को सत्य नहीं माना जा सकता। अलबेरूनी ने गुप्त-संवत् के बारे में भिन्न विवरण दिया है—'लोग कहते हैं कि गुप्त शक्ति-

अलबेरूनी का कथन

---

१. गु० ले० नं० १४।

२. आ० स० रि० १६१४-१५।

३. गु० ले० भूमिका ६७। इस ताम्रपत्र के गौप्ते की समता फ्लीट किसी ग्राम से बतलाते हैं, परन्तु यह निर्विवाद है कि इसका सम्बन्ध गुप्त लोगों से है। (कलेक्टेड वर्क्स आफ़ सर भण्डारकर भा० ३ पृ० २६३-४)

४. गु० ले० नं० २२, २३, २५ आदि।

शाली तथा क्रूर नरेश थे। जब उस वंश की समाप्ति हुई उसी समय से इस संवत् की गणना होने लगी। यह ज्ञात होता है कि वलभ उनका अंतिम राजा था, क्योंकि वलभी-संवत् के समान गुप्त काल की गणना शक काल के २४१ वर्ष बाद प्रारम्भ होती है[1]।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि जिस गुप्त काल या गुप्त-संवत् का उल्लेख किया गया है, वह किस समय चलाया गया तथा इसके प्रतिष्ठाता कौन थे? इस संवत् के समय निर्धारित करने में अलबेरूनी से बहुत सहायता मिलती है।

अनेक संवतों की समानता दिखलाते हुए अलबेरूनी ने (१) १०८८ विक्रम संवत् (२) ९५३ शक संवत् (काल) (३) ७१२ वलभ काल = गुप्त काल का उल्लेख किया है; जिससे उसके कथन की पुष्टि होती है कि गु० सं० श० का० से २४१ वर्ष बाद प्रारम्भ हुआ। अलबेरूनी के इन संवतों की तिथि ठीक है, परन्तु उसके समस्त वर्णन जनश्रुति के आधार पर लिखे गये हैं। उसके कथन से ज्ञात होता है कि गुप्त-संवत् उस वंश के नष्ट होने पर प्रारम्भ हुआ। वलभ, जो वलभीनगर (सौराष्ट्र में स्थित) का शासक था, उस वंश का अंतिम नरेश था। वलभी संवत् उसी के नाम से प्रारंभ हुआ। जैसा ऊपर कहा गया है, समस्त विवरण जनश्रुति के कारण अविश्वसनीय है। उसकी अप्रामाणिकता के लिए अन्य प्रमाण भी दिये जा सकते हैं। अलबेरूनी लिखता है कि शक काल विक्रमादित्य द्वारा शक-पराजय के समय से प्रारम्भ हुआ[2]; परन्तु चालुक्य-प्रशस्तिकार रविकीर्ति ने शक-संवत् का आरम्भ शक राजा के सिंहासनारूढ़ होने के समय से बतलाया है[3]; जो वस्तुतः ठीक सिद्धान्त है। इसी प्रकार गुप्तों के विषय में भी उस इतिहासज्ञ ने असत्य बातें लिख डाली हैं। यदि वलभी लेखों पर ध्यान दिया जाय तो अलबेरूनी का कथन सर्वथा ग्राह्य नहीं है।

वलभी में मैत्रकों के सेनापति भट्टारक ने स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। उसके तीसरे पुत्र ध्रुवसेन प्रथम के एक लेख में २०६ तिथि का उल्लेख मिलता है[4]। यदि वलभी राज्य स्थापन के अवसर पर वलभी-संवत् का आरम्भ हुआ, तो यह कभी भी माना नहीं जा सकता कि वलभी वंश के संस्थापक (भट्टारक) के २०६ वर्ष पश्चात् उसका पुत्र (ध्रुवसेन प्रथम) शासक हुआ। अतएव इस तिथि का वलभी-संवत् से

---

1 As regards the Gupta Kāla, people say that the Guptas were wicked powerful people and that when they ceased to exist this date was used as the epoch of an Era It seems that Valabha was the last of them, because the epoch of the era of the Guptas falls, like that of the Valabha era, 241 years later than the Saka Kāla

— अलबेरूनी इंडिया, भा० २ पृ० ७।

२. अलबेरूनी इंडिया, भा० २ पृ० ६।

३. पञ्चाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्चशतासु च।

समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम्।—ऐहोल का लेख – शक संवत् ५५६ (एपी० इं० भा० ६ पृ० १)।

४. इं० हि० क्वा० भा० ४ पृ० ४६०।

कुछ भी सम्बन्ध प्रकट नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में वलभी राज्य में किसी अन्य संवत् का प्रचार मानना आवश्यक है जिसमें उस वंश की तिथियाँ मिलती हैं। ऐतिहासिक पण्डितों ने वलभी लेखों की तिथियों का सम्बन्ध गुप्त-संवत् से बतलाया है। इस विवाद का परिणाम यही ज्ञात होता है कि गुप्तों के अधीनस्थ मैत्रकों ने स्वतन्त्र होने के समय से वलभी में प्रचलित गुप्त-संवत् को वलभी संवत् का नाम दे दिया। अतः यह स्पष्ट रीति से कहा जा सकता है कि वलभी-सम्वत् नाम की कोई स्वतन्त्र गणना नहीं थी; परन्तु गुप्त-संवत् का दूसरा नाम है। इस आधार पर अलबेरूनी का वर्णन अग्राह्य हो जाता है, केवल तिथि का उल्लेख प्रमाणयुक्त है। उसके कथनानुसार गुप्त-संवत् भी शक काल से २४१ वर्ष बाद प्रारम्भ हुआ जो अन्य प्रमाणों से भी सिद्ध होता है। कुछ जैन ग्रंथों से भी इसकी पुष्टि होती है कि गुप्त संवत् शक काल से २४१ वर्ष के पश्चात् आरम्भ होता है।

जैन ग्रंथों के आधार पर गु० सं० तथा श० का० का अन्तर (२४१)

अलबेरूनी से पूर्व शताब्दियों में कुछ जैन ग्रंथकारों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि गुप्त तथा शक काल में २४१ वर्ष का अन्तर है। प्रथम लेखक जीनसेन, जो आठवीं शताब्दी में वर्तमान थे उन्होंने वर्णन किया है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के ६०५ वर्ष ५ माह के पश्चात् शक राजा का जन्म हुआ तथा शक के अनन्तर गुप्तों के २३१ वर्ष शासन के बाद कल्किराज का जन्म हुआ[1]। द्वितीय ग्रंथकार गुणभद्र ने उत्तरपुराण में (८९८ ई०) लिखा है कि महावीर के निर्वाण के १००० वर्ष बाद कल्किराज पैदा हुआ[2]। जीनसेन तथा गुणभद्र के कथन का समर्थन तीसरे जैन लेखक नेमिचन्द्र करते हैं[3]।

---

१. गुप्तानां च शतद्वयम्
एक त्रिंशच्च वर्षाणि कालविद्भिरुदाहृतम्।
द्विचत्वारिंशदेवानः कल्किराजस्य राजता।
ततोऽजितंजयो राजा स्यादिन्द्रपुरसंस्थितः।
वर्षाणि षट्शतीं त्यक्त्वा पंचाग्रां मासपंचकम्।
मुक्तिं गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत्।—जीनसेनकृत हरिवंश अध्याय

२. इ० ए० भा० १५ पृ० १४३।

३. नेमिचन्द्र की तिथि दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध पर नेमिचन्द्र चामुण्डराय का राजकवि ज्ञात होता है—
त्रिलोकसारप्रमुखप्रबन्धान्।
(विरच्य सर्वान्) भुवि नेमिचन्द्रः
विभाति सैद्धान्तिकसार्वभौम।
चामुण्डरायार्चितपादपद्मः—(
यह (चामुण्डराय) गंग राजा राचमल्ल
श्रवण-बेलगोला की प्रशस्ति से पता चलता है
आधार पर नेमिचन्द्र की तिथि निश्चित की गई

कुछ भी सम्बन्ध प्रकट नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में वलभी राज्य में किसी अन्य संवत् का प्रचार मानना आवश्यक है जिसमें उस वंश की तिथियाँ मिलती हैं। ऐतिहासिक पण्डितों ने वलभी लेखों की तिथियों का सम्बन्ध गुप्त-संवत् से बतलाया है। इस विवाद का परिणाम यही ज्ञात होता है कि गुप्तों के अधीनस्थ मैत्रकों ने स्वतंत्र होने के समय से वलभी में प्रचलित गुप्त-संवत् को वलभी-संवत् का नाम दे दिया। अतः यह स्पष्ट रीति से कहा जा सकता है कि वलभी-सम्वत् नाम की कोई स्वतंत्र गणना नहीं थी, परन्तु गुप्त-संवत् का दूसरा नाम है। इस आधार पर अलबेरूनी का वर्णन अग्राह्य हो जाता है, केवल तिथि का उल्लेख प्रमाणयुक्त है। उसके कथनानुसार गुप्त-संवत् भी शक काल से २४१ वर्ष बाद प्रारम्भ हुआ जो अन्य प्रमाणों से भी सिद्ध होता है। कुछ जैन ग्रंथों से भी इसकी पुष्टि होती है कि गुप्त संवत् शक काल से २४१ वर्ष के पश्चात् आरम्भ होता है।

अलबेरूनी से पूर्व शताब्दियों में कुछ जैन ग्रंथकारों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि गुप्त तथा शक काल में २४१ वर्ष का अन्तर है। प्रथम लेखक जीनसेन, जो आठवीं शताब्दी में वर्तमान थे उन्होंने वर्णन किया है कि भगवान् महावीर के निर्माण के ६०५ वर्ष ५ माह के पश्चात् शक राजा का जन्म हुआ तथा शक के अनन्तर गुप्तों के २३१ वर्ष शासन के बाद कल्किराज का जन्म हुआ[1]। द्वितीय ग्रंथकार गुणभद्र ने उत्तरपुराण में (८९८ ई०) लिखा है कि महावीर के निर्माण के १००० वर्ष बाद कल्किराज पैदा हुआ[2]। जीनसेन तथा गुणभद्र के कथन का समर्थन तीसरे जैन लेखक नेमिचन्द्र करते हैं[3]।

जैन ग्रंथों के आधार पर गु०सं० तथा श०का० का अन्तर (२४१)

---

१. गुप्तानां च शतद्वयम्
एकत्रिंशच्च वर्षाणि कालविद्‌भिरुदाहृतम् ।
द्विचत्वारिंशदेवातः कल्किराजस्य राजता ।
ततोऽजितंजयो राजा स्यादिन्द्रपुरसंस्थितः ।
वर्षाणि षट्शतीं त्यक्त्वा पञ्चाग्रां मासपञ्चकम् ।
मुक्तिं गते महावीरे शकराजः ततोऽभवत् ।—जीनसेनकृत हरिवंश अध्याय ६० ।

२. इ० ए० भा० १५ पृ० १४३ ।

३. नेमिचन्द्र की तिथि दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मानी जाती है। एक लेख के आधार पर नेमिचन्द्र चामुण्डराय का राजकवि ज्ञात होता है—

त्रिलोकसारप्रमुखप्रबन्धान् ।
(विरच्य सर्वान्) भुवि नेमिचन्द्रः
विभाति सैद्धान्तिकसार्वभौम ।
चामुण्डरायार्चितपादपद्मः —(नागर लेख इ० का० भा० ८)

यह (चामुण्डराय) गंग राजा रासमल्ल चतुर्थ का ई० सन् ६७७ के लगभग मंत्री था जो श्रवण-वेलगोला की प्रशस्ति से पता चलता है (राइस—वेलगोला का लेख भूमिका पृ० ३४) इसी आधार पर नेमिचन्द्र की तिथि निश्चित की गई है।

नेमिचन्द्र त्रिलोकसार में लिखते हैं कि शकराज महावीर के निर्वाण के ६०५ वर्ष ५ माह के बाद तथा शककाल के ३९४ वर्ष ७ माह के पश्चात् कल्किराज पैदा हुआ[1]। इनके योग से—

वर्ष	माह
६०५	५
३९४	७
१०००	

वर्ष होते हैं। इन तीनों जैन ग्रंथकारों के कथनानुसार शक काल तथा कल्किराज का जन्म निश्चित हो जाता है। इस शक काल की तिथि को विक्रम संवत् में परिवर्तन करने से शक, विक्रम तथा ई० स० में समता बताई जा सकती है जिसकी वजह से गुप्त काल को निश्चित करने में सरलता हो जाती है।

विक्रम तथा शक काल का सम्बन्ध

ज्योतिषसार के आधार पर यह ज्ञात है कि शक काल में १३५ जोड़ने से वह तिथि विक्रम संवत् में परिवर्तित हो जाती है[2]। शक काल के ३९४ वर्ष पश्चात् कल्किराज पैदा हुआ जो ५२९ विक्रम (३९४ + १३५) होता है[3]। गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम के मंदसोर के लेख में दूसरी तिथि ५२९ मालव-संवत् का उल्लेख है[4]। मंदसोर लेख की पहली तिथि ४९३ वि० दूसरी तिथि से ३६ वर्ष पूर्व है। अतएव कुमारगुप्त प्रथम शक ३५८ (४९३-१३५) में बन्धुवर्मा के साथ शासन करता था[5]।

शक तथा गुप्त काल का सम्बन्ध

गुणभद्र के कथनानुसार कल्किराज का शक ३९४ के पश्चात् माघ संवत्सर प्रारम्भ होता है[6]। वराहमिहिर ने भी कुछ निम्नलिखित व्यतीत शक संवत्सरों का वर्णन किया है[7]:—

---

१. पण छस्सय वस्सं पणमास जुदं गमिय वीरणि वुइदो सगराजो सो कल्किचदुण वतिय महिय सगमासं (त्रिलोकसार पृ० ३२)

२ स एव पञ्चाग्निकुमियुक्तः स्याद्विक्रमस्य हि रेवाया उत्तरे तीरे संवत्नाम्नातिविश्रुतः। (ज्योतिषसार)

३. साधारणतया यह सर्व प्रसिद्ध है कि शक काल में ७८ जोड़ने से ई० स० तथा ई० सन् में ५७ जोड़ने पर विक्रम संवत् बनता है ३९४ + ७८ + ५७ = ५२९

४. वत्सरशतेषु पंचसु विंशत्यधिकेषु नवसु चाब्देषु यातेष्वाभिरम्य तपस्यमासशुक्लद्वितीयायाम्। (गु० ले० नं० १८)।

इस आधार पर मालवा तथा विक्रम संवत् में समानता स्थापित होती है। (ईसा पूर्व ५७)

५. मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानां रितौ सेव्य घनस्वने।
सहस्यमासशुक्लस्य प्रशस्तेऽह्नि त्रयोदशे।—(गु० ले० नं० १८)।

६. चतुर्मुखाह्वयः कल्कीराजोऽर्जित भूतले।
उत्पत्स्येऽहं मघा संवत्सरयोगसमागमं।—(उत्तरपुराण ७६।३९६)।

७. फ्लीट—का० इ० इ० भा० ३ परिशिष्ट ३ पृ० १६१।

शक	३६४	व्यतीत	माघ	संवत्सर
,,	३६५	,,	फाल्गुन	,,
,,	३६६	,,	चैत्र	,,
,,	३६७	,,	वैशाख	,,

शक ३६७ के वैशाख संवत्सर का उल्लेख परिव्राजक महाराज हस्तिन् के खोह लेख गु० स० १५६ में मिलता है[1]। इस आधार पर शक तथा गुप्तकाल में निम्नलिखित समता तैयार की जा सकती है :—

शक ३६४ = माघ	संवत्सर =	गुप्त-संवत्	१५३	व्यतीत
,, ३६५ = फाल्गुन	,, =	,,	,,	१५४	,,
,, ३६६ = चैत्र	,, =	,,	,,	१५५	,,
,, ३६७ = वैशाख	,, =	,,	,,	१५६	,,

इस समता से यह ज्ञात होता है कि गुप्त-संवत् की तिथि में २४१ जोड़ने से शक-काल में परिवर्तन हो जाता है। इस विस्तृत विवेचन के कारण अलबेरूनी के कथन की सार्थकता ज्ञात हो जाती है। यह निश्चित हो गया कि शक-काल के २४१ वर्ष पश्चात् गुप्त संवत् का आरम्भ हुआ।

फ्लीट का मत

गुप्त-संवत् तथा शक काल में २४१ वर्ष का अन्तर स्थिर हो जाने पर, यह प्रश्न उपस्थित होता है कि शक काल के २४१ वें वर्ष या २४१ वर्ष व्यतीत होने पर गुप्त काल (संवत्) प्रारम्भ होता है। फ्लीट महोदय का मत है कि गुप्त-संवत् शक काल के २४१ वें वर्ष में आरम्भ हुआ। उनके कथनानुसार दोनो संवतो में २४२ वर्ष का अन्तर पड़ता है[2]। उदाहरणार्थ उसने बुधगुप्त के एरण स्तम्भलेख[3] की तिथि गु० स० १६५ शक काल ४०७ (१६५+२४२) से समता बतलाई है। यदि वैज्ञानिक रूप से विचार किया जाय तो फ्लीट महोदय की धारणा सर्वथा निराधार प्रकट होती है।

मत का खण्डन

जैन ग्रथकार नेमिचन्द्र के कथनानुसार यह ज्ञात होता है कि शक-काल के ३६४ वर्ष ७ माह व्यतीत होने पर कल्किराज का जन्म हुआ। इसलिए यह कहा जा सकता है कि ३६५ वें वर्ष में ७ माह बीतने पर कल्किराज का जन्म हुआ। ऊपर तुलनात्मक प्रसग में यह दिखलाया गया है कि—

शक ३६४ = माघ संवत्सर = गु० स० १५३ व्यतीत

,, ३६७ = ,, ,, १५६ ,,

अतएव शक काल तथा गु० स० में २४१ वर्ष का अन्तर ज्ञात होता है, २४२ वर्ष का नहीं।

---

१. रसपञ्चषष्ठोत्तरेऽब्दे शते गुप्तनृपराज्यभुक्तौ महावैशाखसंवत्सरे कार्तिकमासशुक्लपक्षतृतीयायाम्।—(गु० ले० नं० २१)।

२. फ्लीट—गु० ले० भूमिका ८४।

३ गा० इ० इ० भा० ३ नं० १९।

० गु० सं० = शक २४१

१ ,, ,, प्रचलित = ,, २४२ प्रचलित

इस उपर्युक्त कथन की पुष्टि लेखों से होती है। गुप्त लेखों में भी इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। गुप्त राजा कुमारगुप्त द्वितीय के सारनाथ लेख की तिथि गु० सं० १५४ मिलती है[1], जो शक काल ३९५ व्यतीत (१५४+२४१) में परिवर्तन हो सकता है। इसके अतिरिक्त बुधगुप्त के सारनाथ की प्रशस्ति में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि गु० सं० १५७ वर्ष व्यतीत होने पर शासन करता था[2]। इस स्थान पर पूर्व समता को ध्यान में रखने तथा ज्योतिषसार के आधार पर एक नवीन तुलनात्मक वृत्त तैयार हो सकता है। यह निम्न प्रकार है:—

लेखों का प्रमाण

मालव-संवत्	शक काल	गुप्तसंवत्
५२९ व्यतीत	३९४ व्यतीत	१५३
५३० ,,	३९५ ,,	१५४
५३१ ,,	३९६ ,,	१५५
५३२ ,,	३९७ ,,	१५६
५३३ ,,	३९८ ,,	१५७ व्यतीत[3]

इस तुलना से यही परिणाम निकलता है कि शक काल तथा गुप्त संवत् में २४१ का ही अन्तर है। इन प्रमाणों के आधार पर यह प्रकट होता है कि व्यतीत गुप्त-वर्ष संवत् में २४१ जोड़ने से व्यतीत शक काल तथा प्रचलित गु० सं० में २४१ जोड़ने से प्रचलित शक काल में परिवर्तन होता है[4]। अलबेरूनी ने दोनों संवतों का अन्तर बतलाते हुए विक्रम, शक काल तथा वलभी (गुप्त) संवत् में तीन तिथियों

मालव सं०	श० का०	वलभी (गु०) सं०
१०८८	९५३	७१२

का उल्लेख किया है[5]। यदि उपर्युक्त तुलना पर ध्यान दिया जाय तो प्रकट होता है कि लेखों तथा अलबेरूनी कथित संख्या (२४१) का ही अन्तर गु० सं० तथा श० का० में पाया जाता है।

---

१. वर्ष शते गुप्तानां सचतुःपञ्चाशदुत्तरे भूमिम्। शासति कुमारगुप्ते मासे ज्येष्ठे द्वितीयायाम्।

२. गुप्तानां समतिक्रान्ते सप्त पञ्चाशदुत्तरे।

शते समानां पृथिवीं बुधगुप्ते प्रशासति।

३ बुधगुप्त के सारनाथ के लेख से स्पष्ट हो जाता है कि वह गुप्तों के १५७ वर्ष व्यतीत होने पर सप्तमी वैशाख में शासन करता था, या उस समय को प्रचलित १५८ वर्ष कह सकते हैं। इसी नरेश का एक दूसरा लेख (एरण) आठ वर्ष के बाद गु० सं० १६५ का है (गु० ले० नं० १९)। इसके वर्णन से ज्ञात होता है कि वह राजा गु० सं० १६५ आषाढ़ १२ में राज्य करता था। इससे भी आषाढ़ मास में व्यतीत गु० सं० १६५ यानी प्रचलित १६६ ज्ञात होता है।

४. कलेक्टेड वर्कस आफ सर भण्डारकर भा० ३ पृ० ३८७।

५. अलबेरूनी इंडिया भा० २ पृ० ७।

मालव संवत्	शक काल	गुप्त संवत्
५२६	३९४	१५३
१०८८	९५३	७१२

गुप्त लेख के अतिरिक्त वेरावल लेख के अध्ययन से भी गु० स० तथा श० का० के अन्तर (२४१ वर्ष) पर प्रकाश पड़ता है। कर्नल टाड ने गुजरात के चालुक्य नरेश अर्जुनदेव के समय के लेख का वेरावल नामक स्थान से पता लगाया था[1]। इस लेख की विशेषता यह है कि इसमें चार संवतों में तिथि लिखी मिलती है। प्रशस्तिकार ने विक्रम १३२०, वलभी ९४५ हिजरी ६६२ तथा सिंह संवत् १५१ तिथियों का उल्लेख किया है[2]। दीवान बहादुर पिलाई के गणनानुसार आषाढ़ बदी १२ रवि शक काल ११८६ तथा विक्रम १३२१ वर्ष पड़ता है[3]। लेखों में वर्ष तथा इस गणना में भिन्नता इसलिए होती है कि वेरावल के लेख में दक्षिण भारत की प्रणाली के अनुसार विक्रम १३२० तथा वलभी ९४५ कार्तिकादि में उल्लिखित है। अतएव—

वेरावल का लेख तथा वलभी व गुप्त संवत् की एकता

विक्रम	शक	वलभी
१३२१ =	११८६ =	९४५

इसमें से ७९२ घटाने पर

वि०	शक	वलभी
५२९ =	३९४ =	१५३

तथा इसमें से ३६ घटाने पर

वि०	श०	वलभी
४८३	३५८	११७

आता है। इस गणना में वलभी ११७ तथा गुप्त नरेश कुमारगुप्त प्रथम की करमदण्डा की प्रशस्ति की तिथि (गु० स० ११७) समता है[4]। अतः ज्ञात होता है कि वलभी तथा गुप्त संवत् में कोई विभिन्नता नहीं है। इस वेरावल लेख की समता

श०	वि०	वलभी
११८६	१३२१	९४५

तथा उपर्युक्त तुलना में

श०	मा० स०	वलभी (गु० स०)
३९४	५२९	१५३

२४१ वर्ष का ही अन्तर है, जो ऊपर बतलाया गया है।

---

१ एनल्स आफ राजस्थान भा० १ पृ० ७०५।

२. श्रीनृपविक्रम १३२० तथा श्रीमद्वलभी सं० ९४५ तथा श्रीसिंह सं० १५१ वर्षे आषाढ़ बदी १२ रवि (इ० ए० भा० ११ पृ० २४२)।

३ इण्डियन कानालोजी टेबुल १० पृ० ९२।

४ ए० इ० भा० १० पृ० ७०।

गैरा ताम्रपत्र अंतिम लेख है जिससे शक काल तथा गुप्त संवत् के अन्तर (२४१) पर प्रकाश पड़ता है। इस लेख की तिथि वलभी संवत् ३३० मिलती है[1] जिसका उल्लेख निम्न प्रकार है—

गैरा का ताम्रपत्र

सं० ३०० ३० द्वि० मार्ग शीर्ष शु० २

इस वलभी संवत् में २४१ जोड़ने से शक काल में परिवर्तन हो जाता है।

वलभी	शक
३३०	५७१

ज्योतिष गणना के आधार पर शक ५७१ अधिक मार्गशीर्ष में पड़ेगा[2]। अतएव

वलभी	शक
३३० प्रचलित =	५७१ प्रचलित

के समान है। पूर्व तुलना इस तिथि का स्थान निश्चित हो जाता है।

श०	मा० सं०	गु० (वलभी) सं०
३६४[3]	५२६[3]	१५३[3]
५७१[4]	७०६	३३०[4]
११८६[5]	१३२१[5]	६४५[5]

अतएव इन समस्त लेखों तथा अलबेरूनी के कथन के आधार पर यही निश्चित होता है कि गु० सं० में २४१ जोड़ने पर श० का० बनता है। व्यतीत तथा प्रचलित में जोड़ने से क्रमशः व्यतीत तथा प्रचलित श० का० में परिवर्तन होता है।

फ्लीट का मत था कि गु० सं० श० का० के २४१ वर्ष बाद नहीं परन्तु २४२ वर्ष पश्चात् प्रारम्भ हुआ[6]। परंतु ऊपर कथित विस्तृत विवेचन के सम्मुख फ्लीट महोदय का मत स्वीकार नहीं किया जा सकता। फ्लीट ने डा० कीलहार्न के कथन का समर्थन करते हुए यह भूल की कि दक्षिण भारत की तरह उत्तरी भारत में भी मालव संवत् का प्रारम्भ कार्तिक से हुआ[7] चैत्र से नहीं, इसको मान लिया। परन्तु यदि गुप्त लेखों का अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि मालव संवत् चैत्र से प्रारम्भ होता है[8]। कुमारगुप्त द्वितीय के सारनाथ के लेख से पता चलता है कि गु० सं० १५४ व्यतीत यानी गु० सं० १५५ के ज्येष्ठ द्वितीया को वह मूर्ति

चैत्रादि वर्ष का प्रचार

१ गु० ले० भूमिका पृ० ६३।

२. भंडारकर कामेमोरेशन वाल्युम पृ० २०६।

३. देखिए ऊपर का तिथि।

४. गैरा ताम्रपत्र की तिथि।

५ वेरावल लेख की तिथि।

६. गु० ले० भूमिका पृ० ८४।

७ इ० ए० भा० २० पृ० ३२, गु० ले० भूमिका पृ० ६६।

८. भंडारकर कामेमोरेशन वाल्युम पृ० २०७–८।

स्थापित की गई थी[1]। इसी प्रकार बुधगुप्त के सारनाथ तथा एरण के लेखो से भी यही बातें प्रकट होती हैं। इन लेखों में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि राजा व्यतीत गु० स० १५७ तथा १६५ या प्रचलित १५८ वैशाख तथा प्रचलित १६६ आषाढ में शासन करता था। इतना ही नहीं, यशोधर्मन् के मदसोर के लेख (मा० स० ५८६) में यह वर्णन मिलता है कि सवत् वसत (चैत्र तथा वैशाख) से प्रारम्भ होता है[2]। इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि गुप्तों के शासनकाल में मालव सवत् चैत्र से प्रारम्भ होता था, कार्तिक से नहीं। वेरावल लेख के आधार पर प० गौरीशकर ओझा ने दिखलाया है कि विक्रम सवत् चैत्रादि है। वेरावल लेख के अनुसार वि० स० तथा गु० स० का अन्तर ३७५ (१३२०-९४५) आता है, परन्तु यह लेख काठियावाड़ मे स्थित होने के कारण वि० स० कार्त्तिकादि है जो चैत्रादि १३२१ होता है। इस कारण वि० स० तथा गु० स० का अन्तर ३७६ होगा[3]। गु० स० मे ३७६ जोडने से चैत्रादि वि० स०, २४१ मिलाने से श० का० तथा ३१९ २० मिलाने से ई० स० होता है।

अतिम परिणाम — गुप्त सवत् पर इस विस्तृत विवरण से निम्न परिणाम निकलते हैं—

(१) मालव तथा शक सवत् चैत्र से प्रारम्भ होता है।

(२) गुप्त तथा वलभी सवत् एक ही हैं। दोनों के भिन्न भिन्न नाम होने के कारण समय में तनिक भी भिन्नता नहीं है।

(३) वलभी या गु० स० शक काल के २४१ वर्ष के पश्चात् आरम्भ होता है। शक काल के व्यतीत तथा प्रचलित होने का निर्णय गु० स० पर अवलम्बित है।

(४) गुप्त सवत् भी चैत्र से प्रारम्भ होता है। चैत्रादि होने के कारण गुप्त सवत् का ई० स० ३१८-१९ से गणनारम्भ हुआ। इसका प्रारम्भिक वर्ष ई० सन् ३१९ २० (७८+२४१) से लिया जायगा।

गु० स० ० व्यतीत = शक २४१ व्यतीत

" " १ प्रचलित = " २४२ प्रचलित

यदि समस्त सवतो के इतिहास पर ध्यान दिया जाय तो यह पता चलता है कि अमुक सवत् का प्रारम्भ किसी काल विशेष से होता था या उस वश के किसी घटना के स्मारक में सवत्सर चलाया गया।

गुप्त सवत् के सस्थापक — गुप्त वश में भी ऐसी ही घटना उपस्थित हुई जिस कारण से वश नाम के साथ (गुप्त) सवत् का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। गुप्त वश के आदि दो नरेश—गुप्त तथा घटोत्कच

१ आ० स० रि० १९१३—४।

२ पञ्चसु शतेषु शरदां यातेष्वेकान्ननवतिसहितेषु। मालवगणस्थितिवशात् कालज्ञानाय लिखितेषु॥
यस्मिन् काले कलमृदुगिरां कोकिलानां प्रलापा, भिन्दन्तीव स्मरशरनिभाः प्रोषितानां मनांसि।
भृङ्गालीनां ध्वनिरनुवनं भारमन्द्रश्च यस्मिन्, नाधूतज्यं धनुरिव नदच्छ्रूयते पुष्पकेतोः॥
प्रियतमकुपितानां रामयन्बद्धरागं, किसलयमिव मुग्धं मानसं मानिनीनाम्।
उपनयति नभस्वान्मानभङ्गाय यस्मिन् कुसुमसमयमासे तत्र निर्मापितोऽयम्॥
—(का०) इ० इ० भा० ३ न० ३५)।

३ प्राचीन लिपिमाला पृ० १७५।

का नाम इतिहास में प्रसिद्ध नहीं है। वे साधारण सामंत के रूप में शासन करते थे। गुप्तों के तीसरे राजा चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपने बाहुबल से राज्य का विस्तार किया तथा इसी ने सर्वप्रथम 'महाराजाधिराज' की पदवी धारण की। बहुत सम्भव है कि सिंहासनारूढ़ होने पर इसने यह पदवी धारण की तथा उसी के उपलक्ष में अपने वंश के नाम के साथ गुप्त-संवत् की स्थापना की। इसकी पुष्टि गुप्त लेखों में उल्लिखित तिथियों से भी होती है। चन्द्रगुप्त प्रथम के पौत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के लेखों में ८२,९३ की तिथियाँ मिलती हैं। इस आधार पर विद्वानों का अनुमान ठीक ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ही प्रतापी शासक था और उसी के राज्यारोहण पर संवत् चला। दादा तथा पौत्र के बीच तीन पीढ़ियों में ९३ वर्ष का अन्तर युक्ति-संगत मालूम पड़ता है। इस संवत् का प्रारम्भ ई० स० ३१९-२० से होता है। फ्लीट व एलन के मतानुसार गुप्त संवत् अन्य संवतों की भाँति राज्यवर्षों में गणना की परिपाटी से बराबर उसका प्रयोग होते रहने पर क्रम से प्रचलित हो गया; इससे अनुमान होता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम के प्रचलित किये हुए राज्य-संवत् का प्रयोग उसके उत्तराधिकारी वंशधर करने लगे, जो आगे चलकर गुप्त संवत् के नाम से प्रथित हो गया। जो हो, परन्तु यह निःसंदेह है कि गुप्त संवत् या गुप्त-काल नामक संवत्सर का प्रारम्भ ई० स० ३१९-२० से हुआ। इसी में समस्त गुप्त लेखों तथा समकालीन प्रशस्तियों की तिथियाँ दी गई हैं। यह संवत् लगभग ६०० वर्ष तक प्रचलित रहा और गुप्तवंश के नष्ट हो जाने पर काठियावाड़ में वलभी संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

परिशिष्ट २

समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तम्भ-लेख

यः कुल्यैः स्वैः .... तस ....
.... ।
यस्य ? ....
.... । १ ।
पुथं ....
स्फारद्व (?) च्छः स्फुटोद्ध्वंसित .... ।
.... प्रवितत ....
.... । २ ।
यस्य प्रज्ञानुषङ्गोचितसुखमनसः शास्त्रतत्त्वार्थभर्तुः
...... स्तब्धो .... नि .... नोच्छ्रु... ।
सत्काव्य श्रीविरोधान्बुधगुणितगुणाज्ञाहतानेव कृत्वा
विद्वल्लोके वि—स्फुटबहुकविताकीर्तिराज्यं भुनक्ति । ३ ।
आर्यो हीत्युपगुह्य भावपिशुनैः उत्कर्णितै रोमभिः
सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्यकुलजम्लानाननोद्वीक्षितः ।
स्नेहव्याकुलितेन वाष्पगुरुणा तत्त्वेक्षिणा चक्षुषा
यः पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्येवमुर्वीमिति । ४ ।
दृष्ट्वा कर्माण्यनेकान्यमनुजसदृशान्यद्भुतोद्भिन्नहर्षा-
भावै रास्वादय .... केचित् ।
वीर्योत्तप्ताश्च केचिच्छरणमुपगता यस्य वृत्ते प्रणामे
..... तें .... । ५ ।
संग्रामेषु स्वभुजविजिता नित्यमुच्छापकारा
श्वः श्वो मानप्र.................. .... ।
तोषोत्तुङ्गैः स्फुटबहुरसस्नेहफुल्लैर्मनोभिः
पश्चात्तापं व......... .... स्याद्वसन्तम् । ६ ।
उद्वेलोदितबाहुवीर्यरभसादेकेन येन क्षणा-
दुन्मूल्याच्युत **नागसेन**.......................... ।
दण्डमाहयतैव कोटकुलजं पुष्पाह्वये क्रीडिता
सूर्ये न .... तट .... । ७ ।

धर्मप्राचीरबंधः शशिकरशुचयः कीर्तयः सप्रताना
वैदुष्यं तत्त्वभेदि प्रशम .... तार्थम् ।
अध्येयः सूक्तमार्गः कविमतिविभवोत्सारणं चापि काव्यं
को नु स्याद्योऽस्य न स्याद्गुणमति विदुषां ध्यानपात्रं य एकः । ८ ।

तस्य विविधसमरशतावतरणदक्षस्य स्वभुजबलपराक्रमैकबन्धोः । पराक्रमाङ्कस्य परशुशरशङ्कुशक्तिप्रासासितोमरभिन्दिपालनाराचवैतस्तिकाद्यनेकप्रहरणविरूढाकुलव्रणशताङ्कशोभासमुदयोपचितकान्ततरवर्ष्मणः **कौसलकमहेन्द्र महाकान्तारकव्याघ्रराज कैरलकमण्टराजपैष्टपुरकमहेन्द्रगिरिकौट्टूरकस्वामिदत्तैरण्डपल्लकदमनकाञ्चेयकविष्णुगोपावमुक्तकनीलराजवैङ्गेयकहस्तिवर्मपालक्ककोग्रसेनदैवराष्ट्रककुबेरकौस्थलपुरकधनञ्जयप्रभृतिसर्वदक्षिणापथराजग्रहणमोक्षानुग्रहजनितप्रतापोन्मिश्रमहाभाग्यस्य, रुद्रदेवमतिलनागदत्तचन्द्रवर्मगणपतिनागनागसेनअच्युतनन्दिबलवर्मा** अनेक आर्यावर्तराजप्रसभोद्धरणोद्वृत्तप्रभावमहतः, परिचारकीकृतसर्वाटविकराजस्य, **समतटडवाककामरूपनेपालकर्तृपुरादिप्रत्यन्तनृपतिभिः मालवार्जुनायनयौधेयमाद्रकाभीरप्रार्जुनसनकानीककाकखरपरिकादिभिश्च** सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमनपरितोषितप्रचण्डशासनस्य, अनेकभ्रष्टराज्योत्सन्नराजवंशप्रतिष्ठापनोद्भूतनिखिलभुवनविचरणशान्तयशसः, **दैवपुत्रशाहिशाहानुशाहिशकमुरुण्डैः** सैंहलकादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभिरात्मनिवेदनकन्योपायनदानगरुत्मदङ्कस्वविषयभुक्तिशासनयाचनाद्युपायसेवाकृतबाहुवीर्यप्रसरधरणिबन्धस्य, पृथिव्यामप्रतिरथस्य, सुचरितशतालङ्कृतानेकगुणगुणोत्सिक्तिभिः चरणतलप्रमृष्टान्यनरपतिकीर्तेः, साध्वसाधूदयप्रलयहेतुपुरुषस्याचिन्त्यस्य, भक्त्यवनतिमात्रग्राह्यमृदुहृदयस्यानुकम्पावतोऽनेकगोशतसहस्रप्रदायिनः कृपणदीनानाथआतुरजनोद्धरणमन्त्रदीक्षाद्युपगतमनसः, समिद्धस्य विग्रहवतो लोकानुग्रहस्य धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य स्वभुजबलविजितानेकनरपतिविभवप्रत्यर्पणानित्यव्यापृतायुक्तपुरुषस्य, निशितविदग्धमतिगान्धर्वललितैः व्रीडितत्रिदशपतिगुरुतुम्बुरुनारदादेः विद्वज्जनोपजीव्यानेककाव्यक्रियाभिः प्रतिष्ठितकविराजशब्दस्य, सुचिरस्तोतव्यानेकाद्भुतोदारचरितस्य लोकसमयक्रियानुविधानमात्रमानुषस्य लोकधाम्नो देवस्य महाराजश्रीगुप्तप्रपौत्रस्य महाराज श्रीघटोत्कचपौत्रस्य महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तस्य लिच्छविदौहित्रस्य महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तस्य सर्वपृथिवीविजयजनितोदयव्याप्तनिखिलावनितलां कीर्तिमितः त्रिदशपतिभवनगमनावाप्तललितसुखविचरणामाचक्षाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रितः स्तम्भः । यस्य—

प्रदानभुजविक्रमप्रशमशास्त्रवाक्योदयै-
रुपर्युपरिसञ्चयोच्छ्रितमनेकमार्गं यशः ।
पुनाति भुवनत्रयं पशुपतेर्जटान्तर्गुहा-
निरोधपरिमोक्षशीघ्र मिव पाण्डु गाङ्गं पयः ।

एतच्च काव्यमेषामेव भट्टारकपदानां दासस्य समीपपरिसर्पणानुग्रहोन्मीलितमतेः खाद्यटपाकिकस्य महादण्डनायकध्रुवभूतिपुत्रस्य सान्धिविग्रहिककुमारामात्यमहादण्डनायकहरिषेणस्य सर्वभूतहितसुखायास्तु । अनुष्ठितं च परमभट्टारकपादानुध्यातेन महादण्डनायक तिलभट्टकेन ।

हिन्दी अनुवाद

(१) जो .. अपने कुल वालों से .... जिनका।

(२) जिसका।

(३) जिसने ... अपने धनुष्टकार से . छिन्न भिन्न किया . . विभ्रम किया.. फैलाया . ... ।

(४, ५) जिसका मन विद्वानों के सत्संग सुख का व्यसनी था, जो शास्त्र के तत्त्वार्थ का समर्थन करनेवाला था, . सुदृढता से स्थित।

(६) जो सत्कविता और लक्ष्मी के विरोधों को विद्वानों के गुणित गुणों की आज्ञा से दबा कर (अब भी) बहुतेरी स्फुट कविता से (मिले हुए) कीर्ति राज्य को भोग रहा है।

(७, ८) जिसको उसके समान कुलवाले (ईर्ष्या से) म्लानमुखों से देखते थे, जिसके सभासद् हर्ष से उच्छ्वसित हो रहे थे, जिसके पिता ने उसको रोमांचित होकर यह कह कर गले लगाया कि तुम सचमुच आर्य हो, और अपने चित्त का भाव प्रकट करके स्नेह से चारों ओर घूमती हुई आँसुओं से भरी, तत्त्व को पहचाननेवाली दृष्टि से देखकर कहा कि इस अखिल पृथ्वी का इस प्रकार पालन करो।

(९) जिसके अनेक अमानुष कर्मों को देख कर—कुछ लोग अत्यंत चाव से आस्वादन कर अत्यंत सुख से प्रफुल्लित होते थे।

(१०) और कुछ लोग उसके प्रताप से संतप्त होकर उसकी शरण में आकर उसको प्रणाम करते थे ... ।

(११) और अपकार करनेवाले जिससे संग्रामों में सदा विजित होते थे कल और कल. मान।

(१२) आनंद से फूले हुए और बहुत से रस और स्नेह के साथ उत्फुल्लमन से . पश्चात्ताप करते हुए .. बसंत में।

(१३) जिसने सीमा से बढ़े हुए अपने अकेले ही बाहुबल से अच्युत और नागसेन को क्षण में जड़ से उखाड़ दिया ..

(१४) जिसने कोटकुल में जो उत्पन्न हुआ था उसको अपनी सेना से पकड़वा लिया और पुष्प नाम के नगर को खेल में स्वाधीन कर लिया, जब कि सूर्य .. तट

(१५) (जिसके विषय में यह कहा जाता है) धर्म के बाँधे हुए परकोटे के समान, जिसकी कीर्ति चन्द्रमा की किरणों की तरह निर्मल और चारों ओर छिटक रही थी, जिसकी विद्वत्ता शास्त्र तक को पहुँच जाती थी, और ,

(१६) जिसने सूक्तों (वेद मन्त्रों) का मार्ग अपना अध्येय बना लिया था और उसकी ऐसी कविता थी जो कवियों की मति के विभव का उत्सारण (प्रकाश) करती थी। .. ऐसा कौन गुण था जो उसमें न था; गुण और प्रतिभा के समझनेवाले विद्वानों का वह अकेला ध्यानपात्र था।

(१७, १८) विविध सैकड़ों समरों में उतरने में दक्ष, अपने भुजबल का पराक्रम ही जिसका अकेला साथी था, जो पराक्रम के लिए विख्यात था, और जिसका फरसे,

बाण, शंकु, शक्ति, प्रास, तलवार, तोमर, भिंदिपाल, नाराच, वैतस्तिक आदि शस्त्रों के सैकड़ों घावों से सुशोभित और अतिशय सुंदर शरीर था।

(१६,२०) और जिसका महाभाग्य, कोशल के राजा महेन्द्र, महाकान्तार के व्याघ्रराज, केरल के मंत्रराज, पिष्टपुरक महेन्द्र गिरि, के-कौट्टूर के स्वामिदत्त, एरंडपल्ल के दमन, कांची के विष्णुगोप, अवमुक्त के नीलराज, वेंगी के हस्तिवर्म्मा, पाल्लक के उग्रसेन, देवराष्ट्र के वेकुर और कुस्थलपुर के धनंजय आदि सारे दक्षिणापथ के राजाओं के पकड़ने और फिर उन्हें मुक्त करने के अनुग्रह से उत्पन्न हुए प्रताप के साथ मिला हुआ था।

(२१) और जिसने रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मा, गणपतिनाग, नागसेन, अच्युत, नंदी, बलवर्मा आदि आर्यावर्त्त के अनेक राजाओं को बलपूर्वक नष्टकर अपना प्रभाव बढ़ाया और सारे जंगल के राजाओं को अपना चाकर बनाया।

(२२) जिसका प्रचंड शासन, समतट, डवाक, कामरूप, नेपाल, कर्तृपुर आदि सीमांत प्रदेशों के राजा और मालव, अर्जुनायन, यौधेय, माद्रक।

(२३-२५) आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काक, खर्परिक आदि सब जातियाँ, सब प्रकार के कर देकर, आज्ञा मानकर और प्रणाम करने के लिए आकर, पूरा करते थे, जिसका शांत यश, युद्ध में भ्रष्ट राज्य से निकाले हुए अनेक राजवंशों को फिर प्रतिष्ठित करने से भुवन में फैला हुआ था, और जिसको दैवपुत्र शाहि शाहानुशाहि शक मुरुंड, सैंहलक आदि सारे द्वीपों के निवासी आत्म-निवेदन किये हुए थे, अपनी कन्याएँ भेंट में देते थे; अपने विषय भुक्ति के शासन के लिए गरुड़ की राजमुद्रा से अंकित फरमान माँगते थे। इस प्रकार की सेवाओं से जिसने अपने बाहुबल के प्रताप से समस्त पृथ्वी को बाँध दिया था, जिसका पृथ्वी में कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं था। जिसने सैकड़ों सचरितों से अलङ्कृत, अपने अनेक गुण-गणों के उद्रेक से अन्य राजाओं की कीर्तियों को अपने चरण तल से मिटा दिया था, जो अचिंत्य पुरुष की भाँति साधु के उदय और असाधु के प्रलय का कारण था, जिसका कोमल हृदय भक्ति और प्रणतिमात्र से वश हो जाता था, जिसने लाखों गौएँ दान की थीं।

(२६) जिनका मन कृपण, दीन, अनाथ, आतुरजनों के उद्धार और दीक्षा आदि में लगा रहता था, जो लोक के अनुग्रह का साक्षात् जाज्वल्यमान स्वरूप था, जो कुबेर, वरुण, इन्द्र और यम के समान था, जिसके सेवक अपने भुजबल से जीते हुए राजाओं के विभव को वापिस देने में लगे हुए थे।

(२७) जिसने अपनी तीक्ष्ण और विदग्ध बुद्धि और संगीत-कला के ज्ञान और प्रयोग से इन्द्र के गुरु काश्यप, तुम्बुरु, नारद आदि को लज्जित किया था, जिसने विद्वानों को जीविका देने योग्य अनेक काव्य-कृतियों से अपना कविराज पद प्रतिष्ठित किया था, जिसके अनेक अद्भुत उदार चरित्र चिरकाल तक स्तुति करने के योग्य थे।

(२८) जो लोक नियमों के अनुष्ठान और पालन करने भर के लिए ही मनुष्य-रूप था, किन्तु लोक में रहनेवाला देवता ही था। जो महाराज श्रीगुप्त का प्रपौत्र, महाराज घटोत्कच का पौत्र और महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त का पुत्र था।

(२९) जो लिच्छिवि-कुल का दौहित्र था, महादेवी कुमारदेवी से उत्पन्न था उस महाराजाधिराज समुद्रगुप्त की सारी पृथ्वी के विजय-जनित अभ्युदय से संसार भर में व्याप्त तथा यहाँ से इन्द्र के भवनों तक पहुँचने में ललित और सुखमय गति रखनेवाली कीर्ति को बतलानेवाला ऊँचा स्तम्भ पृथ्वी की बाहु के समान स्थित है।

(३०) जिसका यश उसके दान, भुज विक्रम, प्रशम और शास्त्र-वाक्य के उदय से ऊपर अनेक मार्ग से बढ़ता हुआ,

(३१) तीनों भुवनों को पवित्र करता है। पशुपति (महादेव) की जटाजूट की अंतर्गुहा से रुककर वेग से निकलते और बहते हुए गंगा जल की भाँति,

(३२-३४) यह काव्य उन्हीं स्वामी के चरणों के दास के, जिनके समीप रहने के अनुग्रह से, जिसकी मति उन्मीलित हो गई है, महादण्डनायक ध्रुवभूति के पुत्र (खाद्य-टपाकिक) सांधिविग्रहिक, कुमारामात्य महादण्डनायक हरिषेण का रचा हुआ सब प्राणियों के हित और सुख के लिए हो।

(३५) परम भट्टारक के चरणों का ध्यान करनेवाले महादण्डनायक तिलभट्टक ने इसको अनुष्ठित किया।

[illegible]
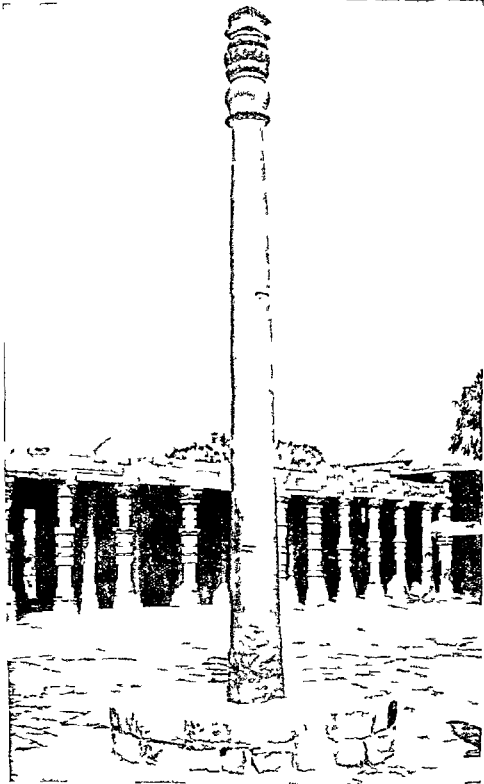
चन्द्रगुप्त द्वितीय का महरौली का लौहस्तम्भ

चन्द्रगुप्त का मेहरौली का लोहस्तम्भ लेख

यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून् समेत्यागतान्,
वङ्गेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे ॥
तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका,
यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिः वीर्यानिलैर्दक्षिणः ॥ १ ॥
खिन्नस्येव विसृज्य गां नरपतेर्गामाश्रितस्येतरां,
मूर्त्या कर्म्म जितावनी गतवतः कीर्त्या स्थितस्य क्षितौ ॥
शान्तस्येव महावने हुतभुजो यस्य प्रतापो महान्ना-
द्याप्युत्सृजति प्रणाशितरिपोः यत्नस्य शेषः क्षितिम् ॥ २ ॥
प्राप्तेन स्वभुजार्जितं च सुचिरं चैकाधिराज्यं क्षितौ,
चन्द्राह्वेन समग्रचन्द्रसदृशीं वक्त्रश्रियं बिभ्रता ॥
तेनायं प्रणिधाय भूमिपतिना भावेन विष्णौ मतिम्,
प्रांशुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापितः ॥ ३ ॥

(हिन्दी अनुवाद)

(१) जिसने शत्रुओं को परास्त कर यश प्राप्त किया अथवा जिसके भुजाओं पर तलवार से यश लिखे गये हैं; वङ्ग के युद्ध में जिसने अपने पराक्रम से शत्रुओं का पीछा किया, जो सङ्गठित रूप से उस पर आक्रमण करने के लिए उद्यत थे; जिसने सिन्धु के सात मुखों को पारकर युद्ध में वाह्लीकों पर विजय प्राप्त किया तथा जिसकी शक्ति से दक्षिणी सागर सुगन्धित हो गये हैं।

(२) उसने अतुलनीय उत्साह तथा तेज से शत्रुओं को संपूर्णतः परास्त किया जैसे किसी वन में अग्नि की ज्वाला प्रज्वलित होती हो, यद्यपि राजा ने संसार को त्याग दिया था और अपने सुन्दर तथा दिव्य कर्मों से स्वर्ग में निवास करता था, तो भी यह प्रकट होता है कि वह राजा अभी जीवित है क्योंकि पृथ्वी पर उसका यश अद्यावधि वर्तमान है।

(३) जिस राजा ने अपने बाहुबल से एक छत्र राज्य स्थापित किया, सर्वभौम नरेश बना तथा अधिक काल तक शासन किया; जिसका नाम चन्द्र है और उसके मुख की शोभा चन्द्रमा की छटा के समान है; जिसकी विष्णु भगवान् पर अटल भक्ति है, उस नरेश द्वारा विष्णुपद नामक पर्वत पर विष्णुध्वज स्थापित किया गया था।

सारांश—इस छोटे लेख का मुख्य आशय यह है कि चन्द्र नाम के किसी राजा ने वङ्ग में शत्रुओं को परास्त किया तथा सिन्धु को पार कर वाह्लीक (बल्ख) तक आक्र-

मण किया था। वह विष्णु का भक्त था अतएव विष्णुपद नामक पर्वत पर एक विष्णु का ध्वज स्थापित किया।

इस लेख में तिथि तथा चन्द्र राजा के वंश का वर्णन न प्राप्त होने से यह स्थिर करना कठिन था कि वह कौन सा राजा था जिसने इतना पौरुष दिखलाया। ऐतिहासिक विद्वानों में भारतीय प्राचीन राजवंश के शासकों से चन्द्र से समता बतलाने में गहरा भेद है। मुख्यतः इसमें तीन विभिन्न विचार हैं, जिसका वर्णन क्रम से किया जायगा।

(१) चन्द्र=गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त प्रथम

इस प्रथम सिद्धान्त के माननेवाले डा० कृष्णस्वामी ऐयगर[१] तथा डा० बसाक[२] महोदय हैं। उनका कथन है कि गुप्त साम्राज्य का सर्वप्रथम महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त प्रथम था। इस लेख में वर्णित 'प्राप्तेन स्वभुजार्जित च सुचिर चैकाध्यराज्य क्षितौ' के आधार पर वे अपने कथन की पुष्टि करते हैं। उनका मत है कि समुद्रगुप्त के पिता चन्द्रगुप्त प्रथम ने ही बंगाल आदि देशों को जीता था और यही कारण है कि समुद्र की प्रयाग प्रशस्ति में बंगाल का नाम नहीं मिलता (पिता के विजय करने के कारण पुत्र उसका पहले से ही स्वामी था), इस समता के निर्माण में तीसरा प्रमाण यह भी है कि फ्लीट महोदय को इस लेख की लिखावट प्रयाग के लेख से पूर्व की मालूम होती है। परन्तु यदि गुप्त लेख तथा सिक्कों के आधार पर विचार किया जाय तो उपर्युक्त प्रमाण न्यायसंगत नहीं प्रतीत होते। गुप्त लेख यह बतलाते हैं कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने केवल थोड़े समय तक राज्य किया (सम्भवत. ई० स० ३२० ३३५), अतएव इस लोह स्तम्भ लेख में वर्णित 'एकाधिराज्य' (महान् राजा) चन्द्रगुप्त प्रथम के लिए कैसे प्रयोग किया जा सकता है। अभी तक कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता कि समुद्रगुप्त के पिता ने बङ्ग, दक्षिण तथा उत्तर-पश्चिम भारत पर विजय प्राप्त किया था। सब से प्रथम विजय यात्रा तो उसके पुत्र ने प्रारम्भ की। पुराणों में वर्णित 'अनु गगा प्रयाग च' आदि से ज्ञात होता है कि उसका राज्य मगध में ही सीमित था। इन सब कारणों से मेहरौली लेख के चन्द्र की समता चन्द्रगुप्त प्रथम से करना असंगत है।

(२) चन्द्र = चन्द्रवर्मन्

सुसानियाँ पर्वत पर एक लेख मिला है[३] जिसके वर्णन से ज्ञात होता है कि पुष्करण (जोधपुर राज्य) नामक स्थान से चन्द्रवर्मन् नाम का राजा पश्चिमी बंगाल तक आया था। उसने सुसानियाँ पर्वत पर अपने आगमन का सूचक लेख लिखवाया। इसी के सदृश वर्णन मेहरौली लेख में भी मिलता है। चन्द्र ने बंगाल जीता था। इस आधार पर प्रसिद्ध विद्वान् बैनर्जी महोदय[४] तथा हरप्रसाद शास्त्री[५] ने चन्द्र की समता

१. स्टडीज इन गुप्त हिस्ट्री पृ० १४।
२. हिस्ट्री आफ नार्दर्न ईस्टर्न इंडिया पृ० २१।
३. ए० इ० भा० १३ पृ० १३३।
४ ,, ,, ,, १४ ,, ३६७।
५. ,, ,, ,, १३ ,, १२।

चन्द्रवर्मन् से की। इनका कथन है कि दोनों (चन्द्र तथा चन्द्रवर्मन्) ने बंगाल में पदार्पण किया था। बहुत सम्भव है कि सुसानियाँ पर्वत के समान चन्द्रवर्मन्-ने अपने आगमन के उपलक्ष्य में विष्णुपद पर्वत पर भी विष्णुध्वज स्थापित किया हो क्योंकि दोनों वैष्णव लेख हैं। (सुसानियाँ पर्वत पर विष्णु चक्र है) इन सब कारणों से दोनो विद्वान् चन्द्र की समता एक छोटे राजा चन्द्रवर्मन् से करते हैं। परन्तु इनके विचार से सहमत होने में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। पुष्करण राजाओं के लेख के आधार पर चन्द्रवर्मन् का निम्नलिखित वंश वृक्ष तैयार किया गया है—

जयवर्मन्
|
सिंहवर्मन्
|
(गंगधर का लेख वि० सं० ४८०) नरवर्मन्[2] — चन्द्रवर्मन्[1] (सुसानियाँ लेख)
|
विश्ववर्मन्
|
(मंदसोर का लेख) बन्धुवर्मन्[3]
वि० सं० ४९३
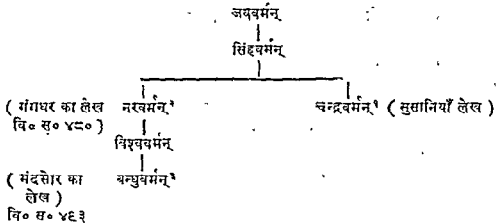
इस वंश-वृक्ष में वर्णित बन्धुवर्मा गुप्तसम्राट् कुमारगुप्त प्रथम का नायक था। अतएव चन्द्रवर्मन् समुद्रगुप्त का समकालीन प्रकट होता है। यदि मेहरौली लेख के चन्द्र की समता सुसानियाँ लेख के चन्द्रवर्मन् से की जायगी तो यह असम्भव ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त के सम्मुख एक पुष्करण का राजा बङ्गाल तथा उत्तर-पश्चिम तक आक्रमण करे। चन्द्रवर्मन् के भ्राता नरवर्मन् का पश्चिमी मालवा में शासन केवल दो पीढ़ी तक रहा, वह भी गुप्तों के अधीनस्थ होकर। ऐसी दशा में चन्द्रवर्मन् कोई बड़ा स्वतन्त्र राजा ज्ञात नहीं होता। पुष्करण के शासकों के लेखों में सुसानियाँ या मेहरौली के विषय में कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। सुसानियाँ की प्रशस्ति में चन्द्रवर्मन् 'महाराजा' कहा गया है, परन्तु मेहरौली में चन्द्र के लिए 'अधिराज' शब्द प्रयुक्त है। इन सब प्रमाणों के सम्मुख चन्द्र की समता चन्द्रवर्मन् से नहीं की जा सकती।

(३) चन्द्र = चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य

मेहरौली के लेख में चन्द्र की उत्कट विष्णुभक्ति ज्ञात होती है। ऐसी ही भक्ति गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय में भी थी। उसके समस्त लेखों तथा सिक्कों में उसके लिए 'परम भागवत' की पदवी का उल्लेख मिलता है। इस राजा के लिए चन्द्र उपनाम रूप में मिलता है क्योंकि विक्रमादित्य के लिए विक्रम के सदृश इस उपनाम से चन्द्रगुप्त द्वितीय का बोध होता है।

---

१. ए० इ० भा० १३ पृ० १३३।

२. फ्लीट— गु० ले० नं० १७।

३. वही „ १८।

ऐतिहासिकों को यह मालूम है कि समुद्र गुप्त शासन के पश्चात् रामगुप्त कुछ समय के लिए राजा था। इस निर्बल शासक के कारण बहुत सम्भव है कि बङ्गाल की प्रजा ने गुप्त-सत्ता को हटाने का प्रयत्न किया हो, अतएव चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा उनको शान्त करना आवश्यक था, जिसका उल्लेख मेहरौली के लेख में मिलता है। इस गुप्त नरेश ने दक्षिण-पश्चिम में भी विजय यात्रा की थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय के उत्तर-पश्चिम के आक्रमण का वर्णन इस लेख के अतिरिक्त कालिदास के रघुवंश में भी मिलता है—

पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना। रघु० ४।६०

पुरातत्त्ववेत्ता जायसवाल महोदय ने वाह्लीक देश का समता बलख से बतलाई है। उनका कथन है कि सिन्धु के सप्तमुखानि से पञ्जाब तथा उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त का तात्पर्य है[१]। अतएव चन्द्र का आक्रमण बल्ख तक प्रकट होता है। सबसे अन्त में लिपि के आधार पर भी मेहरौली की लिपि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय की मालूम पड़ती है। विवेचनों के आधार पर चन्द्र की समता चन्द्रगुप्त द्वितीय से करना सर्वथा न्याययुक्त है।

इस लेख में शासक के लिए 'परम भागवत' का उपाधि तथा वंश वर्णन के अभाव से तनिक सन्देह होता है परन्तु पर्याप्त उपर्युक्त सबल प्रमाणों की उपस्थिति में इस सन्देह में कुछ सार नहीं है।

इन तीनों सिद्धांतों के विवेचन के पश्चात् मेहरौली लोहस्तम्भ के लेख में उल्लिखित चन्द्र की समता गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य से ही करना सर्वथा उचित तथा प्रमाणयुक्त है।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राजकुमारी प्रभावती गुप्ता का दान-पत्र

वाकाटक ललामस्य
(क्र) म प्राप्त नृपश्रियः।
जनन्या युवराजस्य,
शासन रिपु शास (न) म् ॥

सिद्धम्। जित भगवता स्वस्तिनान्दिवर्धनादासीद् गुप्तादिरा (जो) (म) हा (राज) श्रीघटोत्कचः तस्य सत्पुत्रो महाराज श्री चन्द्रगुप्त. तस्य सत्पुत्रोऽनेकाश्वमेधयाजी लिच्छिविदौहित्रो महादेव्या कुमारदेव्यामुत्पन्नो महाराजाधिराज श्रीसमुद्रगुप्त. तत्सत्पुत्रः तत्पादपरिगृहीतः पृथिव्यामप्रतिरथ सर्वराजोच्छेत्ता चतुरुदधिसलिलस्वादितयशानेक-

---

१. जे० बी० ओ० आर० एस० मार्च १९३२।

पेरिप्लस ग्रन्थ का कर्ता (ई० स० ८०) ने भी उल्लेख किया कि सिन्धु के सात मुख थे (पेरिप्लस आफ एरिथ्रियन सी, स्काफ अनुवादित सेक्शन ४२-६६)।
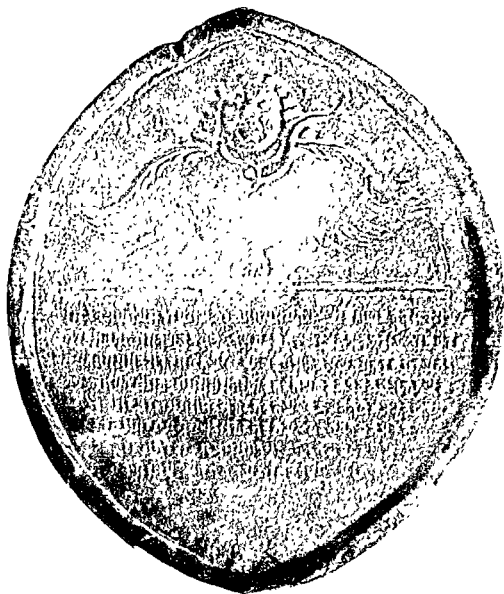
भितरी की राजमुद्रा (लखनऊ-संग्रहालय)

गोहिरण्यकोटिसहस्रप्रदः परम भागवतो महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तः तस्य दुहिता धारणसगोत्रा नागकुलसंभूतायां श्रीमहादेव्यां कुबेरनागायामुत्पन्नोभयकुलअलंकार-भूतात्यंतभगवद्भक्ता वाकाटकानां महाराजा श्रीरुद्रसेनास्याग्रमहिषी युवराज श्रीदिवाकर सेन-जननी श्रीप्रभावती गुप्ता............ ।

(हिन्दी-अनुवाद)

वाकाटक (वंश) के भूषण, राजलक्ष्मी को वंशानुक्रम से पानेवाले युवराज की माता का, शत्रुओं से भी माना जानेवाला, यह शासन (हुक्म-नामा) है।

सिद्धि हो। भगवान् की जय। कल्याण हो, नांदिवर्धन स्थान से गुप्त आदि-राजा व महाराजा घटोत्कच थे। उसका सत्पुत्र महाराजा श्री चन्द्रगुप्त, उसका सत्पुत्र अनेक अश्वमेध यज्ञ करनेवाला, लिच्छिवियों का दौहित्र महादेवी कुमारदेवी से उत्पन्न महाराजाधिराज श्रीसमुद्रगुप्त, उसका सत्पुत्र उसके द्वारा स्वीकृत किया हुआ, पृथिवी में जिसका सामना करनेवाला कोई न था, सब राजों का नष्ट करनेवाला, चारों समुद्रों के जल तक जिसका यश फैला था, अनेक गौ और सुवर्ण का कोटि सहस्र देनेवाला, परम विष्णुभक्त महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्त, उसकी पुत्री धारण गोत्रवाली नागकुल की श्रीमहादेवी कुबेरनागा से उत्पन्न दोनों कुलों की भूषण अत्यंत भगवद्भक्ता वाकाटक महाराज श्रीरुद्रसेन की महाराणी युवराज श्रीदिवाकरसेन की माता श्रीप्रभावती गुप्ता।

कुमारगुप्त द्वितीय का भितरी राज-मुद्रा-लेख

महाराजाधिराज कुमार तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो महादेव्यां अनन्तदेव्यां उत्पन्नो महाराजाधिराज श्रीपुरगुप्तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो महादेव्यां श्रीवत्सदेव्यां उत्पन्नो महाराजाधिराज श्रीनरसिंहगुप्तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो महादेव्यां श्रीमतीदेव्यामुत्पन्नो परमभागवतो महाराजाधिराज श्रीकुमारगुप्तः।

(हिन्दी-अनुवाद)

महाराजाधिराज कुमारगुप्त के पुत्र पुरगुप्त उनके उत्तराधिकारी थे जो महादेवी अनन्तदेवी के गर्भ से पैदा हुए थे। पुरगुप्त के पुत्र नरसिंहगुप्त वत्सदेवी के गर्भ से उत्पन्न हुए तथा उसके (पुरगुप्त) पश्चात् राजसिंहासनारूढ़ हुए [तत्पादानुध्यातो] उसका पुत्र परम भागवत कुमारगुप्त श्रीमतीदेवी के पेट से पैदा हुआ था।

नोट—मुद्रा के ऊपरी भाग में गरुड़ की मूर्ति है जिससे यह वैष्णव लेख माना जाता है। तत्पादानुध्यातो का अर्थ अमुक व्यक्ति के उत्तराधिकारी मानते हैं, परन्तु इसका प्रयोग सूक्ष्म विचार से नहीं माना जा सकता।

स्कन्दगुप्त का भितरी स्तम्भ-लेख

सिद्धम् । सर्वराजोच्छेतुः पृथिव्यामप्रतिरथस्य चतुरुदधिसलिलास्वादितयशसो धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य कृतान्तपरशोः न्यायागतानेकगोहिरण्यकोटिप्रदस्य चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्तुः महाराज श्रीगुप्तप्रपौत्रस्य महाराज श्रीघटोत्कचपौत्रस्य महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तपुत्रस्य लिच्छिवीदौहित्रस्य महादेव्या कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्तस्य-पुत्रः तत्परिगृहीतो महादेव्या दत्तदेव्यामुत्पन्नः स्वयमप्रतिरथःपरम भागवतो महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तः तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो महादेव्याम् ध्रुवदेव्यामुत्पन्नः परम भागवतो महाराजाधिराज श्रीकुमारगुप्तः तस्य ।

प्रथितपृथुमतिस्वभावशक्तेः,
पृथुयशसः पृथिवीपतेः पृथुश्रीः ।
पितृपरिगतपादपद्मवर्ती,
प्रथितयशाः पृथिवीपतिः सुतोऽयम् ॥ १ ॥
जगति भुजबलाड्यो (ढ्यो) गुप्तवंशैकवीरः,
प्रथितविपुलधामा नामतः स्कन्दगुप्तः ।
सुचरितचरिताना येन वृत्तेन वृत्तम्
न विहितममलात्मा तानधीदा विनीतः ॥ २ ॥
विनयबल सुनीतैः विक्रमेण क्रमेण
प्रतिदिनमभियोगादीप्सितं येन लब्ध्वा ।
स्वभिमतविजिगीषाप्रोद्यताना परेषाम्
प्रणिहित इव लेभे संविधानोपदेशः ॥ ३ ॥

विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन
क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा ।
समुदितबलकोशान् पुष्यमित्रांश्च जित्वा
क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः ॥ ४ ॥

प्रसभमनुपमैः विध्वस्तशास्त्रैः प्रतापै-
र्विन (...) मु (....) क्षान्तिशौर्यैर्निरूढम् ।
चरितममलकीर्तेः गीयते यस्य शुभ्रम्
दिशि दिशि परितुष्टैराकुमार मनुष्यैः ॥ ५ ॥

पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीम्
भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः ।
जितमिव परितोषान्मातरं साम्रनेत्राम्
हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः ॥ ६ ॥

स्वैर्दण्डै (.) (स्यु...) त्यनलित वंशप्रतिष्ठाप्य यो
बाहुभ्यामवनी विजित्य हि जितेष्वार्त्तेषु कृत्वा दयाम् ।
नोत्सिक्तो न च विस्मितः प्रतिदिन संवर्द्ध मानद्युतिः
गीतैश्च स्तुतिभिश्च वन्दकजनो यं प्रापयत्यार्यताम् ॥ ७ ॥

हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता
भीमावर्त्तकरस्य शत्रुषु शरा (..............)।
(............) निरन्तितप्रख्यापितो (...) ई (...)।
(...) न द्योति (...) नर्मासु लक्ष्यत इव श्रोत्रेषु गंगाध्वनिः ॥ ८ ॥
स्वपितुः कीर्ति (.........) (...............)
(.....................) (.....................) ॥ ९ ॥
कर्तव्या प्रतिमा काचित्प्रतिमां तस्य शार्ङ्गिणः।
सुप्रतीतश्चकारेमाम् यावदाचन्द्रतारकम् ॥१०॥
इह चैनं प्रतिष्ठाप्य सुप्रतिष्ठितशासनः।
ग्राममेनं स विदधे पितुः पुण्याभिवृद्धये ॥११॥
अतो भगवतो मूर्त्तिरियं यश्चात्र संस्थितः।
उभयं निर्दिदेशासौ पितुः पुण्याय पुण्यधीः ॥१२॥ इति ॥

आदित्यसेन का अफसाद शिलालेख

आसीद्दन्तिसहस्रगाढकटको विद्याधराध्यासितः।
सद्वंशः स्थिर उन्नतो गिरिरिव श्रीकृष्णगुप्तो नृपः ॥
दृप्तारातिमदान्धवारणघटाकुम्भस्थलीः क्षुन्दता।
यस्यासंख्यरिपुप्रतापजयिना दोष्णा मृगेन्द्रायितम् ॥ १ ॥
सकलः कलङ्करहितः क्षततिमिरस्तोयधेः शशाङ्क इव
तस्मादुदपादि सुतो देवः श्री हर्षगुप्त इति ॥ २ ॥
यो योग्याकालहेलानमनदृढधनुर्भीमबाणौघराती।
मूर्तैः स्वस्वामिलक्ष्मीवसतिविमुखितैरौ क्षितः मासुपतम् ॥
घोराणामाहवानां लिखितमिव जयश्लाघ्यमाविर्दधानो।
वक्षस्युद्दामशस्त्रव्रणकठिनकिणग्रन्थिलेखाच्छलेन ॥ ३ ॥
श्री जीवितगुप्तोऽभूत्क्षितीशचूडामणिः सुतस्य।
यो हतवैरिनारीमुखनलिनवनैकशिशिरकरः ॥ ४ ॥
मुक्तामुक्तपयःप्रवाहशिशिरात्तुङ्गतालीवन-
भ्राम्यद्दन्तिकरावलूनकदलीकाण्डासु वेलास्वपि ॥
श्च्योतत्स्फारतुषारनिर्झरपयःशीतेऽपि शैले स्थिता-
न्यस्योच्चैर्द्विषतो मुमोच न महाघोरः प्रतापज्वरः ॥ ५ ॥
यस्यातिमानुषं कर्म दृश्यते विस्मयाज्जनौघेन।
अद्यापि कोशवर्धनतटात्प्लुतं पवनजस्येव ॥ ६ ॥
प्रख्यातशक्तिमाजिषु पुरःसरं श्रीकुमारगुप्तमिति।
अजनयदनेकं स नृपो हर इव शिखिवाहनं तनयम् ॥ ७ ॥

उत्सर्पद्दातहेलाचलितकदलिकावीचिमालावितानः ।
प्रोद्यद्धूलीजलौघभ्रमितगुरुमहामत्तमातङ्गशैलः ॥
भीमः श्रीशानवर्मक्षितिपतिशशिनः सैन्यदुग्धोदसिन्धु-
र्लक्ष्मीसंप्राप्तिहेतुः सपदि विमथितो मन्दरीभूय येन ॥ ८ ॥
शौर्यसत्यव्रतधरो य. प्रयागगतो धने ।
अम्भसीव करीषाग्नौ मग्न. स पुष्पपूजितः ॥ ९ ॥
श्री दामोदरगुप्तोऽभूत्तनयः तस्य भूपतेः ।
येन दामोदरेणैव दैत्या इव हता द्विषः ॥ १० ॥
यो मौखरेः समितिपूद्धतहूणसैन्य-
वल्गत्घटा विघटयन्नुरुवारणानाम् ॥
सम्मूर्च्छितः सुरवधूर्वरयन्ममेति ।
तत्पाणि पङ्कजसुखस्पर्शाद्विबुद्धः ॥ ११ ॥
गुणवद्द्विजकन्याना नानालङ्कारयौवनवतीनाम् ।
परिणायितवान्स नृपः शत निसृष्टाग्रहाराणाम् ॥ १२ ॥
श्री महासेनगुप्तोऽभूत्तस्मा द्वीराग्रणीः सुतः ।
सर्ववीरसमाजेषु लेभे यो धुरि वीरताम् ॥ १३ ॥
श्रीमत्सुस्थितवर्मयुद्धविजयश्लाघापदाङ्कं मुहुः ।
यस्याद्यापि विबुद्धकुन्दकुमुदस्तुरणाच्छहार तम् ॥
लौहित्यस्य तटेषु शीतलतलेषूत्फुल्लनागद्रुम-
च्छायासुप्तविबुद्धसिद्धमिथुनैः स्फीत यशो गीयते ॥ १४ ॥
वसुदेवादिव तस्माच्छ्रीसेवनशोभितचरणयुगः ।
श्रीमाधवगुप्तोऽभून्माधव इव विक्रमैकरसः ॥ १५ ॥
. ... नुस्मृतो धुरि रणे श्लाघावतामग्रणीः ।
सौजन्यस्य निधानमर्थनिचयत्यागोद्धुराणा वरः ॥
लक्ष्मीसत्यसरस्वतीकुलगृह धर्मस्य सेतुर्द्दृणः ।
पूज्यो ! नास्ति स भूतले...... ... सद्गुणैः ॥ १६ ॥
चक्रं पाणितलेन सोऽप्युदवहत्तस्यापि शार्ङ्गं धनुः ।
नाशायासुहृदा सुखाय सुहृदा तस्याप्यसिर्नन्दकः ॥
प्राप्ते विद्विपता वधे प्रतिहत्...तेनाप...... ... ।
....न्या प्रणेमुर्जनाः ॥ १७ ॥
आजौ मया विनिहिता बलिनो द्विषन्तः ।
कृत्य न मेऽस्त्यपरमित्यवधार्य वीरः ॥
श्रीहर्षदेवनिजसङ्गमवाञ्छया च ।
.... ॥ १८ ॥
श्रीमानभूव दलितारिकरीन्द्रकुम्भ-
मुक्तारजः पटलपांसु मण्डलाग्रः ॥

आदित्यसेन इति तत्तनयः क्षितीशः ।
चूडामणिर्द.......................................॥ १९ ॥
....मागत मरिध्वंसेत्थमाप्तं यशः ।
श्लाघं सर्वमनुष्मतां पुर इति श्लाघां परां बिभ्रति ॥
आशीर्वादपरम्पराचिरसङ्कद्........ .... ।
.... यामान ॥ २० ॥
आजौ स्वेदच्छलेन ध्वजपटशिखया मार्जतो दानपङ्कं ।
खड्गं लुण्ठेन मुक्ता शकल स्फिति...... ॥
.... मत्तमातङ्गघातं ।
तद्गन्धाकृष्टसर्पद्दलपरिमलभ्रांतमत्तालिजालम् ॥ २१ ॥
आबद्धभीमविकटभ्रुकुटीकठोर—
सङ्ग्राम...
.... ववल्लभभृत्यवर्ग-
गोष्ठीषु पेशलतया परिहासशीलः ॥ २२ ॥
सत्यभर्तृमता यस्य सुखोपधानतापसो
परिहास .... ॥ २३ ॥
...................शः सकलरिपुबलध्वंसहेतुर्गरीया
न्निस्त्रिंशोत्खातघातश्रमजनितजडोऽप्यूर्जितस्वप्रतापः ।
युद्धे मत्तेभकुम्भस्थल.............................
......श्वेतातपत्रस्थगितवसुमतीमण्डलो लोकपालः ॥ २४ ॥
आजौ मत्तगजेन्द्रकुम्भदलनस्फीतस्फुरद्दोर्युगो
ध्वस्तानेकरिपुप्रभाव... ....यशोमण्डलः ।
न्यस्ताशेषनरेन्द्रमौलिचरणस्फारप्रतापानलो
लक्ष्मीवानमराभिमानविमलप्रख्यातकीर्तिर्नृपः ॥ २५ ॥
येनेयं शरदिन्दुबिम्बधवला प्रख्यातभूमण्डला
लक्ष्मी सङ्गमकांक्षया सुमहती कीर्तिश्चिर कोपिता ।
याता सागरपारमद्भुततमा सापत्न्यवैरादहो
तेनेदं भवनोत्तमं क्षितिभुजा विष्णोः कृते कारितम् ॥ २६ ॥
तज्जनन्या महादेव्या श्रीमत्या **कारितो मठः** ।
धार्मिकेभ्यः स्वयं दत्तः सुरलोकगृहोपमः ॥ २७ ॥
शङ्खेन्दुस्फटिकप्रभाप्रतिसमस्फारस्फुरच्छीकरं
नक्रकान्तिचलत्तरङ्गविलसत्पक्षिप्र नृत्यत्तिमि ।
राज्ञा खानितमद्भुत सुपयसा पेपीयमानं जनै
स्तस्यैव प्रियभार्यया नरपतेः **श्रीकोणदेव्या सरः** ॥ २८ ॥
यावच्चन्द्रकला हरस्य शिरसि श्रीः शार्ङ्गिणो वक्षसि
ब्रह्मास्ये च सरस्वती कृत.......... .... ।

गोमे भूभुजगाधिपस्य च तडियावद् घनस्योदरे
तावत्कीर्तिमिहातनोति धवलामादित्यसेनो नृपः ॥ २६ ॥
गृढम शिवेन गौडेन प्रशस्तिर्विकटाक्षरा।
.... मिता सम्यग् धार्मिकेण सुधीमता ॥ ३० ॥

जीवितगुप्त द्वितीय का देव बरनार्क स्तम्भलेख

नमः स्वस्ति शक्तित्रयोपात्तजयशब्देन महानौहास्त्यश्वपत्तिसम्भारदुर्निवाराजन्य-स्कन्धावारात गोमतिकोट्टकसमीपावासक्......श्रीमाधवगुप्तः तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो परमभट्टारिकाया राज्ञा महादेव्या श्रीमत्यामुत्पन्नः परम भागवत श्रीआदित्यसेनदेव तस्य पुत्र, तत्पादानुध्यातो परमभट्टारिकाया राज्ञा महादेव्या श्रीकोणदेव्यामुत्पन्नः परम माहेश्वर परम भट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर **श्रीदेवगुप्तदेवः** तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो परम भट्टारिकाया राज्ञा महादेव्या श्रीकमलादेव्या उत्पन्न, परम माहेश्वर परम भट्टारक महा-राजाधिराज परमेश्वर **श्रीविष्णुगुप्तदेवः** तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो परम भट्टारिकाया राज्ञा महादेव्या श्री इज्जादेव्यामुत्पन्नः परम .....परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री **जीवितगुप्तदेव** कुशलीनगरभुक्तौ वालवी विषयैक श्रीवा ? वो पद्रलिक (द्वा) नूत शयाति वाराणिका ग्राम गोष्ठ नकुल तलवाटक दूत सीमाकर्मकमद्या... ... ... टक राजपुत्र राजा-मात्य महाद्वटिक महादण्डनायक महाप्रतिहार महा सा... ·· ... प्रमातस... ... ... कुमारामात्य राजस्थानीयोपरिक .. ... धिक चौराधरणिक दाण्डिक दण्डपाशिक... ..... ··· ... ··· · क... ··· ... शाणिवलव्यायतकिशोरवाटक ग्राम ... · मणिकग ... पटिकर्म .. .. रसक .. .. तास्मत्पादप्रसादोपजीविनः च प्रतिवासिनस च ब्राह्मणोत्तर महत्तरक कुद्दीपुर... ... . विज्ञापित श्रीवरुणवासि भट्टारक प्रतिबद्ध भोजक सूर्य-मित्रेण उपरिलिखित ... .ग्रामाधि सयुक्त ... परमेश्वर श्री बालादित्यदेवेन स्वशासनेन भागव श्रीवरुणवासि भट्टारक...... .. .... क . ...व परिवाटक...... भोजक हसमित्रस्य समापतया यथा कलाध्यासिभिश्च एवं परमेश्वर **श्रीसर्ववर्मन** ... . भोजक ऋषिमित्र ..यतक एव परमेश्वर श्रीअवन्तिवर्मन पूर्वदत्तक अवलम्ब्य........... एव महाराजाधिराज परमेश्वर ....शासनदानेन भोजक दुर्घमित्रस्यानुमोदित...... तेन... . ... . भुज्यते तदद्द किमपि........एव........मतिमान्............अनुयामो-दितमिति सर्व समज्ञापना...... ..इता.. ...पशु . ...वरुणवास्यायतन तदनुदत्तम ....त्यच........**सोद्रगं सोपरिकरं सदा सापराधपञ्च**..... ....

कुमारगुप्त का करमदण्डा का लेख

कुमारगुप्त का करमदण्डा का लेख

१—नमो महादेवाय महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तपादा।

२—नुध्या तस्य चतुन्धु (जरु) दीध सलिला स्वादित यशस्ते महाराज्ञा।

३—धिराज श्रीकुमारगुप्तस्य विजयराज्यं संवत्सरे शेतशप्तदेशान्तरे।

४—कार्तिकमास दशमदिवसे स्यान्दिवसपूर्व्वायां (च्छन्दोग्या चार्य्यांश्च) वाजि।

५—सगोस कुरमख्य भद्दस्य पुत्रो विष्णु पालित भदतस्य पुत्रो महाराज।

६—धिराजा श्रीचन्द्रगुप्तस्य मन्त्री कुमारामात्यशिशखर।स्वाम्यभूतस्य पुत्रः।

७—पृथिवीपेयो महाराजधिराज श्रीकुमारगुप्तस्य मन्त्री कुमारामात्येन।

८—न्तरं च महावलाधिकृतः भगवतो महादेवस्य पृथ्वीश्वर।

९—इत्येवं समाख्या तस्या स्यैव भगवतो यथा कर्त्तव्य धार्मिक कर्मणा पाद शुश्रूप साम्य भगवच्छै।

१०—प्लेश्वरस्वामि महादेव आयोध्यक नाना गोत्र चरण तपः।

११—स्वाध्याय मन्त्रसूत्रभाष्य प्रवचन पारग आरङ्ग-द-स-भ-द् देवद्रोणां।
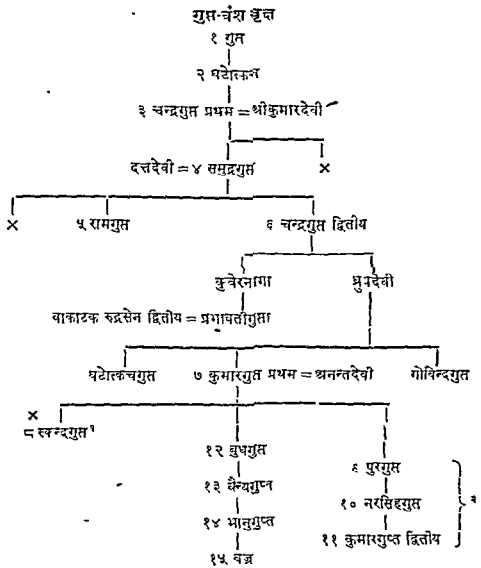
१. सिद्धम्। सर्वराजोच्छेत्तु पृथिव्यामप्रतिरथस्य चतुरुदधिसलिलास्वादितयशसो धनदवरुणेन्द्रान्तकसमस्य कृतान्तपरशोः न्यायागतानेकगोहिरण्यकोटिप्रदस्य चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्तुः महाराज श्रीगुप्तप्रपौत्रस्य महाराज श्रीघटोत्कचपौत्रस्य महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तपुत्रस्य लिच्छविदौहित्रस्य महादेव्यां कुमारदेव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिराज श्रीसमुद्रगुप्तस्य पुत्रः तत्परिगृहीतो महादेव्यां दत्तदेव्यामुत्पन्नः स्वयमप्रतिरथः परमभागवतो महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तस्तस्य पुत्रः तत्पादानुध्यातो महादेव्यां ध्रुवदेव्यामुत्पन्नः परमभागवतो महाराजाधिराज श्रीकुमारगुप्तः तस्य — सुतोऽयम् — गुप्तवंशैकवीर, प्रथितविपुलधामा नामत स्कन्दगुप्तः। — फ्लीट — गु० ले० नं० १२ तथा १३।

२. भितरी की राजमुद्रा।

नोट — इन दो लेखों में गुप्त वंशवृक्ष का पूरा विवरण मिलता है।

नोट — चिह्न (=) से विवाह का संकेत किया गया है।

मागध गुप्त वंश-वृक्ष

१ कृष्णगुप्त
- २ हर्षगुप्त
  - ३ जीवितगुप्त प्रथम
    - ४ कुमारगुप्त
      - ५ दामोदरगुप्त
        - ६ महासेनगुप्त
          - ७ माधवगुप्त
            - ८ आदित्यसेन[२]
              - ९ देवगुप्त
                - १० विष्णुगुप्त
                  - ११ जीवितगुप्त द्वितीय[३]
              - पुत्री = भोगवर्मन् मौखरि
          - कुमारगुप्त[१]
        - महासेनगुप्ता = आदित्यवर्धन
- हर्षगुप्ता = आदित्यवर्मन् मौखरि

---

१ हर्षचरित उच्छ्वास ४।

२. अफसाद का लेख।

३. देव-बरनार्क की प्रशस्ति।
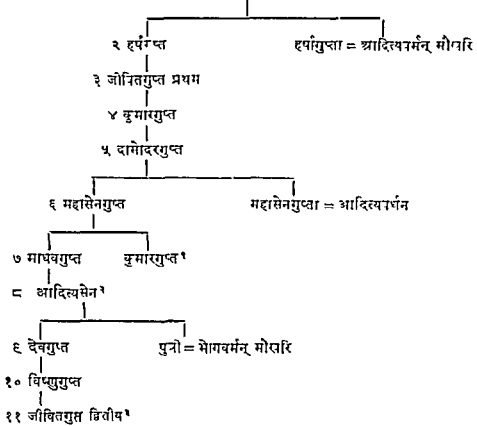
नोट—चिह्न (=) से गुप्तवंश की राजकुमारी का विवाह उन व्यक्तियों से संकेत किया गया है।

उत्तरी भारत के राजाओं की समकालीनता

कामरूप	वर्धन	मागध गुप्त	मौखरि	गौड़
		कृष्णगुप्त	हरिवर्मन्	
		हर्षगुप्त	आदित्यवर्मन्	
		जीवितगुप्त प्रथम	ईश्वरवर्मन्	
		कुमारगुप्त	ईशानवर्मन्	
		दामोदरगुप्त	सर्ववर्मन्	
	आदित्यवर्धन + प्रभाकरवर्धन	महासेनगुप्त		
भास्करवर्मन्	हर्षवर्धन	माधवगुप्त	ग्रहवर्मन्	शशांक

गुप्त-युग का तिथि-क्रम

गुप्त संवत्	ई० सन्	ऐतिहासिक घटना	टिप्पणी
	२७१ के आस पास	महाराज गुप्त का राज्य काल	
	२९० के निकट	महाराज घटोत्कच का समय	
	३०८ के लगभग	प्रथम चन्द्रगुप्त का लिच्छिवि-कुल म कुमार देवी से विवाह	
गु० सं० का प्रथम वर्ष	३२०	प्रथम चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण	
९	३२८–२९	समुद्रगुप्त का राज्याभिषेक	
	३३०–३६ के निकट	आर्यावर्त की विजय यात्रा	
	३४७–५० के लगभग	दक्षिणापथ की विजय यात्रा	
	३५० के समीप	अश्वमेध यज्ञ	
	३६० के आसपास	सिंहल के राजा मेघवर्ण के राजदूत का समुद्रगुप्त की राजसभा में उपस्थित होना	
		रामगुप्त का शासन	समुद्र तथा द्वितीय चन्द्र के बीच में रामगुप्त शासन करता था।
	३८० के लगभग	*द्वितीय चन्द्रगुप्त का राज्यारम्भ*	
	३९५ के समीप	पश्चिम भारत पर विजय	
८२	४०१	उदयगिरि का शिलालेख	
	४०५–४११	गुप्त साम्राज्य में फाहियान की यात्रा	फाहियान बौद्ध यात्री था जो चीन से भारत में भ्रमण करने आया था।
	४०५ के समीप	चन्द्रगुप्त द्वितीय की पश्चिमोत्तर प्रांतों पर विजय	
८८	४०७	गढवा का शिलालेख	
९०	४०९	पश्चिम भारत म प्रचलित शैली क चाँदी के सिक्कों का प्रचार	काठियावाड तथा मालवा विजय करने पर चाँदी के सिक्को को गुप्तों ने चलाया।
९३	४१२	साँची का शिलालेख	
९४	४१५ के समीप	कुमारगुप्त प्रथम का राज्यारम्भ	—
९६	४१५	बिलसद का लेख	
९८	४१७	गढवा का लेख	
११३	४३२	मथुरा का लेख	
११७	४३६	करमदण्डा का लेख	यह लेख शिव लिङ्ग के अधो भाग में खुदा है।
११७	४३६	मदसौर का लेख	मालव संवत् ४९३ } सूर्य-मंदिर का निर्माण }

गुप्त संवत्	ई० सन्	ऐतिहासिक घटना	टिप्पणी
१२१,१२४, १२८	४४०, ४४३,४४७	चाँदी के सिक्कों पर उत्कीर्ण तिथियाँ	
१२६	४४८	चाँदी के सिक्के	
,,	,,	मनकुमार का लेख	बुधमित्र द्वारा बुद्ध-प्रतिमा की स्थापना
,,	,,	दामोदरपुर का ताम्रपत्र	
,,	,,	हूण जाति का आक्सस नदी के तटस्थ प्रान्तों पर अधिकार	
१३०	४४६	चाँदी के सिक्के	
	४५० के आस पास	कुमार के शासन में पुष्यमित्रों से युद्ध	
१३५	४५४,४५५	चाँदी के सिक्के	
	४५५	स्कन्दगुप्त का हूणों से युद्ध	
,,	,,	स्कन्दगुप्त का शासन आरंभ	'लक्ष्मीः स्वयं वरयाचकार' (जूनागढ़)
१३७	४५६	जूनागढ का लेख गिरनार में सुदर्शन झील के बाँध का जीर्णोद्धार	
१३८	४५७	वहाँ विष्णु-मन्दिर की स्थापना	
१४१	४६०	कहौम का लेख	
१४४,१४५	४६३, ४६४	चाँदी के सिक्के	
१४६	४६५	इन्दौर का शिलालेख [जि० बुलंदशहर]	
१४८	४६७	चाँदी के सिक्के पुरगुप्त | नरसिंहगुप्त	स्कन्दगुप्त के शासन की अंतिम तिथि पुरगुप्त तथा नरसिंहगुप्त का शासन ४६७ तथा ४७३ के बीच रहा।
१५४	४७३	कुमारगुप्त द्वितीय	वर्षशते गुप्ताना स चतुः-पचाशदुत्तरे भूमिं शासति कुमारगुप्ते (सारनाथ)
,,	,,	दशपुर (मालवा) में सूर्य-मंदिर का संस्कार	मालव संवत् ५२६
१५७	४७६	बुधगुप्त का शासन आरम्भ	गुप्ताना समतिक्रांते सप्त-पचाशदुत्तरे शते समाना पृथिवीं बुधगुप्ते प्रशासति (सारनाथ)
१६५	४८४	एरण का शिलालेख परमदैवत परमभट्टारक महाराजाधिराज श्री बुधगुप्त का पुण्ड्रवर्धन भुक्ति (उत्तरी बङ्गाल) पर अधिकार	दामोदरपुर ताम्रपत्र

गुप्त-संवत्	ई० सन्	ऐतिहासिक घटना	टिप्पणी
१७५	४९५	बुधगुप्त के मयूरांकित चाँदी के सिक्के (संवत् समेत) बुधगुप्त के शासन का अन्त वैन्यगुप्त का शासन गुणैधर लेख की तिथि	'विजितावनिरवनिपतिः श्री बुध सो दिवं जयति' (एलन-गु०मुद्रा पृ० १५३) ये सिक्के मध्यभारत के शैली के थे जिसको गुप्त-नरेशों ने पीछे प्रचलित किया।
	५००,५०२	हूण तोरमाण का मालवा तथा मध्यभारत पर अधिकार	मयूरांकित गुप्त चाँदी के सिक्कों के समान तोरमाण ने भी मुद्रा चलाया था।
१९१	५१०	भानुगुप्त का एरण में युद्ध	
१५६,१६३	४७५,४८२	गुप्तों के अधीनस्थ	
१९१,२०९	५१०,५२८	राजाओं के खोह लेख	
२१४	५३३	दामोदरपुर का पाँचवाँ ताम्र-पत्र	
	५०२,५४२	मिहिरकुल	
	५२८ के समीप	यशोधर्मा ने मिहिरकुल को परास्त किया	
	५३२	यशोधर्मा का मन्दसौर स्तम्भ-लेख	मालव संवत् ५८९

मागध गुप्त युग का तिथि-क्रम

गुप्त संवत्	ई० सन्	ऐतिहासिक घटना	टिप्पणी
	५३५-५४५	कृष्णगुप्त | हर्षगुप्त | जीवितगुप्त प्रथम	सम्भवतः इन्हीं दस वर्षों के भीतर इन तीनों राजाओं का शासन समाप्त हो गया।
	५४५ के समीप	कुमारगुप्त का शासन आरम्भ	
	४५० के लगभग	मौखरि राजा ईशानवर्मा का कुमारगुप्त के हाथों परास्त होना	५५५ ई० सन् (हरहा लेख) से पूर्व ही यह युद्ध हुआ होगा।
	४६० के आसपास	सर्ववर्मन के द्वारा दामोदर-गुप्त का परास्त होना	
	४७० के लगभग	महासेन गुप्त	हर्षवर्धन के पिता प्रभाकर-वर्धन के समकालीन
		माधवगुप्त	हर्षवर्धन का मित्र
	६२० के समीप	हर्ष द्वारा मगध का सिंहासन प्राप्त	
	६७२	आदित्यसेन का शाहपुर का लेख	हर्ष संवत् ६६
	६७५ के समीप	अफसाद का लेख	प्रारम्भ से आदित्यसेन तक का वंश वृत्त
	६८०	देवगुप्त उत्तरी भारत का शासक	'सकलोत्तरापथनाथ'

अनुक्रमणी